

# श्रीमद्-अमितगति-विरचित योगसार-प्राभृत

सम्पादक एवं भाष्यकार  
जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'



## भारतीय ज्ञानपीठ

---

तीसरा संस्करण : 2003 □ मूल्य : 100 रुपये

## प्रधान सम्पादकीय

(प्रथम संस्करण, १९६८, अंग्रेजी का भावानुवाद)

एण्ड्रिय जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा हिन्दी अनुवाद और व्याख्या सहित सम्पादित तथा मूर्तिदीर्घी जैन ग्रन्थमाला क्र. ३३ के रूप में प्रकाशित प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम क्रौंकप्रभुत है। इसमें लेख शाही हैं, वे जो संस्कृत में उसके सन्दर्भानुसार अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ पर योग का अर्थ उस शुद्ध मानसिक अवस्था से है जो राग, छेष व समस्त विकल्पों से रहित है तथा जो जैनधर्मीका तत्त्वों पर एकाग्र है (नियमसार १३७-८)। इसके अन्तर्गत धर्मध्यान और शुक्लध्यान, इन दो ध्यानों का समावेश हो जाता है। यही बात प्रस्तुत ग्रन्थ के एक श्लोक (६, १०) में भली-भीति व्यक्त की गयी है। दूसरे शब्द सार का अर्थ है कि सी बात का वह मौलिक तत्त्व जिसमें बाध्य विचारों का अभाव है। अन्तिम शब्द प्राभूत (प्राकृत में प्रहुड़) के भी अनेक अर्थ होते हैं। इनमें से बहुप्रचलित अर्थ है प्रकरण, अर्थात् ऐसी संक्षिप्त और सुव्यवस्थित रचना जिसमें किसी एक विषय का व्याख्यान किया गया हो। दूसरा अर्थ है एक ऐसा समुचित साहित्यिक उपहार, जो परमात्मा की उपासना करनेवाले ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत किया गया हो; अथवा ऐसा कोई अन्य सार-गर्भित व्याख्यान जो तीर्थकर अथवा आचार्यों द्वारा दिया गया हो। इस प्रकार यह शब्द उस रचना को प्राचीनता एवं पवित्रता से व्याप्त कर देता है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ के शीर्षक का समग्र रूप से अर्थ हुआ एक ऐसा पवित्र ग्रन्थ जो योग व ध्यान के मूल स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए लिखा गया हो। प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित विषय इस बात को स्पष्टतया सिद्ध करते हैं कि ग्रन्थ का यह नाम कितना सार्थक है। जैन साहित्य में ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जिनके नामों के अन्त में 'सार' या 'प्राभूत' शब्द पाये जाते हैं। किन्तु प्रस्तुत रचना के नाम में ये दोनों ही शब्द रखे गये हैं, जिससे ग्रन्थ के महत्व एवं वैशिष्ट्य का पता चलता है।

आचार्य अमितगति तथा उनकी रचनाओं ने जैन समाज से बाहर के भी प्राव्यविद्याविदों का ध्यान सुर्दीघि काल से आकर्षित किया है। उनकी रचनाओं की जो प्राचीन प्रतियों इस देश तथा यूरोप में उपलब्ध हैं उनकी सूचना अनेक बार बेबर, पीटरसन, भण्डारकर, ल्यूपन, आफेट जैसे मार्तीय व यूरोपीय विद्वानों द्वारा सम्पादित ग्रन्थ-सूचियों में सन् १८८६ से लेकर १९०३ तक प्रकाशित की जा चुकी है। इधर डॉ. बेलनकर का जिनरलकोष भण्डारकर शोध संस्थान, पूना, से प्रकाशित हुआ है। उसके भी पश्चात् राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों की अनेक सूचियाँ प्रकाशित हुई हैं और उनमें भी अमितगति की कुछ रचनाओं के नाम निर्देश पाये जाते हैं।

अमितगति द्वारा विरचित मानी जानेवाली रचनाओं में से अधिकांश मुद्रित हो चुकी हैं और उनमें से कुछ का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। सुभाषितरन्तसन्दोह का काव्यमाला क्र. ८२ (बम्बई, १९०३) में प्रकाशन हुआ था। और उसकी प्रस्तावना में भवदत्त शास्त्री का, ग्रन्थकार एवं उनके रचनाकाल के सम्बन्ध में, एक लेख भी था। इसका अध्ययन कर जे. हर्टल नामक जर्मन विद्वान् ने अपने एक विद्वत्तापूर्ण लेख में यह बात प्रकट की कि इस ग्रन्थ का (जो संवत् १०५० में रचा गया था) संवत् १२१६ में हेमचन्द्र द्वारा रचित योगसार पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसके पश्चात् जर्मन विद्वान् स्पिट् और हर्टल द्वारा आलोचनात्मक रिपोर्ट से सम्पादित एवं जर्मन भाषा में अनुवाद सहित इस ग्रन्थ का प्रकाशन भी कराया गया। इस संस्करण की प्रस्तावना में ग्रन्थकार अमितगति, ग्रन्थ के शब्द-चयन एवं व्याकरण सम्बन्धी विशेषता तथा उपयोग में लाये गये प्राचीन हस्तालिखित ग्रन्थों का विवरण पाया जाता है (लीपजिंग, १९०५-१९०७)। ल्यूपन ने इस संस्करण के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। इस संस्करण सामग्री के आधार पर इस ग्रन्थ का संस्करण जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, में प्रकाशनार्थी तैयार हो रहा है। इसका एक संस्करण श्रीलालजी के हिन्दी अनुवाद सहित हरिभाई देवकरण ग्रन्थमाला, क्रमांक ३ (कलकत्ता, १९७३-१९७४), में प्रकाशित हुआ है।

अमितगति कृत धर्मपरीक्षा का विश्लेषणात्मक अध्ययन एन. भिरोनो द्वारा किया गया है (लीपजिंग,

१६०३)। इसका मूलपाठ श्री पन्नालाल बाकलीबाल के हिन्दी अनुवाद सहित भारतीय सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था (कलकत्ता, प्र.सं. १६०८, डि. सं. १६२२) द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसके पश्चात् कुछ अन्य संस्करण भी किसी-न-किसी अनुवाद सहित वायर-उघर से प्रकाशित हुए हैं। धर्मपरीक्षा साहित्य के विकास का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए डॉ. उपाध्ये द्वारा सम्पादित धूतख्यान का प्रस्तावना द्रष्टव्य है (सिंधी जैन ग्रन्थमाला बम्बई, १६४४)। इसमें इस ग्रन्थ के विषय सम्बन्धी अनेक सम्बद्ध स्रोतों का उल्लेख किया गया है। जहाँ तक ज्ञात हो सका है इस विषय का मूलाधार निशीथचूर्णि में पाया जाता है (डॉ. उपाध्ये का आचार्य विजयवल्लभसुरि सृतिग्रन्थ के पृष्ठ १४३ आदि में प्रकाशित लेख, बम्बई, १६५६)। यहाँ जो एक कथात्मक उदाहरण आया है उसी में हरिभद्र ने धार्मिक यीजों का आरोपण कर उसे एक प्रभावशाली व्यंग्य के रूप में संवर्धित किया है। तत्पश्चात् इस व्याख्यात्मक रचना ने जयराम (प्राकृत), हरिषेण (अपब्रंश) तथा अमितगति (संस्कृत) जैसे ग्रन्थकारों के हाथों एक विद्येयात्मक धार्मिक प्रचार का रूप धारण कर लिया। अमितगति कृत रचना को ही कुछ-कुछ परिवर्तित रूप में पद्मसागरगणी ने और वृत्तविलास ने तथा अन्य ग्रन्थकारों ने अपनी-अपनी संस्कृत व कन्नड़ आदि भाषाओं की रचनाओं में स्वीकार किया है।

अमितगति कृत पंचसंग्रह का पण्डित दरबारीलाल द्वारा सम्पादित संस्करण भाषणिकचम्प्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला (क्र. २५, बम्बई, १६२७) में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ का एक अन्य संस्करण बंशीधर शास्त्री कृत हिन्दी अनुवाद सहित धाराशिव (उस्मानाबाद, महाराष्ट्र, १६३१) से प्रकाशित हुआ है। इसी नाम के अन्य ग्रन्थों का विवरण पण्डित हीरालाल शास्त्री द्वारा सम्पादित पंचसंग्रह की प्रस्तावना में देखा जा सकता है (पृतिदेवी जैन ग्रन्थमाला, क्र. १०, वाराणसी, १६६०)।

उपासकावार, जिसका सुप्रचलित नाम अमितगति-श्रावकाचार भी है, का संस्कृत पाठ भागचन्द्र कृत वचनिका सहित मुनिश्री अनन्तकीर्ति दि. जैन ग्रन्थमाला (क्र. २, बम्बई, १६२२) में प्रकाशित हुआ था। इसी का एक अन्य संस्करण हाल ही ब्रह्म शीतलप्रसाद स्मारक ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है (क्र. १०, सूरत)।

अमितगति कृत आसाधना शिवार्थकृत भगवती आराधना अर्थात् मूलाराधना में शोलापुर से (सन् १६३५ में) प्रकाशित हुई है।

अमितगति कृत द्वाविशिका, जिसका प्रचलित नाम सामायिक-पाठ भी है, मा. चं. दि. जै. ग्रन्थमाला (क्र. १३, बम्बई, १६२८, पृष्ठ १३२-३७) में प्रकाशित है। यह बड़ी लोकप्रिय रचना है जो किसी-न-किसी अनुवाद सहित अनेक बार प्रकाशित हुई है। तत्त्वभावना, जिसका नाम सामायिक पाठ भी है, मा. चं. दि. जै. ग्रन्थमाला (क्र. २१, बम्बई, १६२२, पृ. १७०-८१) में प्रकाशित है। यह ग्रन्थ अपने में कितना पूर्ण था इसका निर्णय तर्हा हो सकता है जब इस रचना की कुछ और प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोगी प्रकाश में आए।

अमितगति कृत योगसारप्रभृत गजाधरलाल जी कृत हिन्दी अनुवाद सहित पन्नालाल बाकलीबाल द्वारा प्रकाशित हुआ था (कलकत्ता, १६१८) और अब इसी का एक महत्वपूर्ण संस्करण पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार की व्याख्या सहित प्रस्तुत रूप में प्रकाशित हो रहा है।

जिन विद्वानों ने इससे पूर्व अमितगति की रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया है उन्होंने ग्रन्थकार के जीवन-चरित्र तथा उनकी रचनाओं पर अपने विचार प्रकट किये हैं। इस विषय पर जिन स्रोतों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है उनके अतिरिक्त कुछ और इस प्रकार हैं: पं. नाथूराम प्रेमी द्वारा लिखित विद्वद् रत्नमाला, (पृ. ११५-४०, बम्बई, १६१२) तथा उन्हीं का जैन साहित्य और इतिहास (बम्बई, ग्र. सं. १६४२, हि. सं. १६५६, पृ. २७४ आदि), विंटर्निला का भारतीय साहित्य का इतिहास, भाग २ (कलकत्ता, १६३३, पृ. ५६१-६७), आ. ने. उपाध्ये द्वारा सम्पादित परमात्मप्रकाश (प्रस्तावना पृ. ७९, द्वि. सं., अगास, १६६०)।

सुभाषितरत्नसन्दोह (सं. १०४०, ई. ६६४), धर्मपरीक्षा (सं. १०७०, ई. १०७४), पंचसंग्रह (सं. १०७३, ई. १०१७), श्रावकाचार तथा आराधना में ग्रन्थकार विषयक बहुत-सी जानकारी उपलब्ध है। उनकी अन्य कृतियों में अमितगति का नाम-निर्देश मात्र पाया जाता है। अपने समकालीन राजाओं में से अमितगति ने सुभाषितरत्नसन्दोह में मुंज (६७४-६५ ई.) तथा सिन्धुपति (सिन्धुराज के दो तिथ्योंकी शिलालेखों से प्रमाणित, १०१६, १०२१ ई.) का उल्लेख किया है। ये दोनों मालवा पर राज्य करनेवाले परमार वंश के सुविख्यात राजा हैं। अमितगति जिस माधुर संघ के आचार्य थे उनकी उपर्युक्त आधारों पर निम्न प्रकार वंशावली तैयार की

जा सकती है : वीरसेन, देवसेन, अमितगति (प्र.), नेमिसेन, माधवसेन और अमितगति (द्वि.)। धर्मपरीक्षा में उल्लिखित वंशावली वीरसेन से प्रारम्भ होती है, सुभाषितरलसन्दोह और आराधना में देवसेन से तथा पंवसंग्रह में माधवसेन से। यह वंशावली अमरकीर्ति रचित छटकमर्मोपदेश (षट्कमर्मोपदेश) नामक अपध्रंश रचना (सं. १२४७, ११६० ई.) में पाँच पीढ़ी आगे बढ़ी हुई पायी जाती है, जो इस प्रकार है : अमितगति, शान्तिष्ठेण, अमरसेन, श्रीषेण, चन्द्रकीर्ति और अमरकीर्ति (हीरालाल जैन, 'अमरकीर्ति गणि और उनका षट्कमर्मोपदेश', जैन मिद्द्हान्त भास्कर, भाग-२, किरण ३, पृ. ८१ आदि, आरा, १६३५ तथा ना. प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास, द्वि. सं. पृ. २७८, बम्बई, १९५६)।

अन्य ग्रन्थों में द्वात्रिषिका, तत्त्व-भावना एवं योगसार-प्राभृत में अमितगति का केवल नाम-मात्र उल्लिखित है। स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये रचनाएँ अमितगति प्र. द्वारा रचित हैं अथवा अमित- गति द्वि. द्वारा। जहाँ तक यो.सा.प्रा. का सम्बन्ध है इसमें अमितगति द्वि. की रचनाओं में दी गयी वंशावली नहीं पायी जाती। दूसरे यो.सा.प्रा. के कर्ता ने अपने लिए 'निःसंगाल्मा' का विशेषण लगाया है और अन्ततः अमितगति द्वि. ने अपने पूर्ववर्ती अमितगति प्र. को 'त्यक्तनिःशेषसंग' (सु.र.सं. ३२, ३७ या ८१५) पद से विभूषित किया है।

इन संकेतों के प्रकाश में यह अनुमान करना उपयुक्त है कि यो.सा.प्रा. के कर्ता अमितगति प्र. ही हैं जिनके अन्य महान् गुणों की प्रचुरता से अमितगति द्वि. ने सुन्ति की है। (सु.र.सं. ८१६, ध.प. (प्रशस्ति ३ तथा प्रशस्ति १५))।

आमितगति प्र. ने यो.सा.प्रा. को सम्पादित के काल का निर्देश नहीं किया है। अमितगति द्वि. ने अपने सु.र.सं. को संवत् १०५० में जब राजा मुंज सिंहासनारूढ़ थे, ध.प. को सं. १०७० में, तथा ध.सं. को सं. १०७३ में पूर्ण किया था। व्योमिक अमितगति प्र. उनसे दो पीढ़ी पूर्व हुए थे अतः उन्हें विसं. की १७वीं शती के प्रारम्भ में अर्थात् १०वीं शती ई. के मध्य में रखा जा सकता है।

पं. जुगलकिशोर जी ने यो.सा.प्रा. का संस्करण निम्नलिखित सामग्री के आधार से प्रस्तुत किया है: (१) मुद्रित प्रति (प्रका. पन्नालाल बाकलीवाल, कलकत्ता १९१८)। (२) पहाड़ीर भवन जयपुर के आमेर भंडार के कमांक ८३६ व ८३७ की हस्तलिखित प्रतियों; इनमें-से अनितम प्रति अपूर्ण है और उसमें सं. १५८६ का उल्लेख है। दोनों प्रतियों के हाथियों पर कुछ टिप्पणि हैं। (३) ब्यावर की एक हस्तलिखित प्रति। विद्वान् सम्पादक ने इन हस्तलिखित प्रतियों का आवश्यक विवरण दिया है तथा उनमें उल्लिखित कुछ विशेष बातों का विवेचन किया है। इनमें एक विषय यह भी है कि क्या प्रस्तुत ग्रन्थ पर तत्त्वदीपिका नाम की कोई दीक्षा भी थी, इत्यादि।

यो.सा.प्रा. नौ अधिकारों में विभाजित है, जिनके विषय इस प्रकार हैं : १. जीव (५८ पद्य), २. अजीव (५० पद्य), ३. आख्य (४० पद्य), ४. अन्य (४१ पद्य), ५. सर्वर (६२ पद्य), ६. निजरा (५० पद्य), ७. मोक्ष (५४ पद्य), ८. चारित्र (१०० पद्य) एवं ९. चूलिका (८४ पद्य)।

यो.सा.प्रा. की रचना पद्यों में हुई है जिनकी कुल संख्या ५४० है। इनमें-से ५२४ पद्य अनुष्टुप् या श्लोक छन्द में हैं और स्पष्टतः यही इस रचना का प्रमुख छन्द है। शेष १६ पद्यों के छन्द निम्न प्रकार हैं : शालिनी (१.५६), उपजाति (२.५०), शार्दूलविकीर्ति (३.४०, ६.८२), हरिणी (४.४१), स्वागता (५.६२), पन्द्राकान्ता (६.४६-५०; ६.८३), पृथ्यी (७.५४), वंशास्थ (८.६६), शालिनी (६.८०), स्वर्घरा (८.१००, ८.८१) तथा रथोद्धता (२.४६, ६.८४)। प्रत्येक सर्ग के अन्त में अपेक्षाकृत कुछ लम्बे वृत्त का प्रयोग करना महाकाव्यों की सामान्य स्वीकृत सरणि रही है और प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता ने भी अपने अधिकारों में उसी का अनुसरण किया है।

अधिकारों के शीर्षकों से स्पष्टतः जात होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन धर्म के मूल तत्त्वों का आत्मानुभव के एक उच्चतर स्तर से व्याख्यान किया गया है। प्रथम अधिकार में जीव-तत्त्व के पूर्ण विशद व्याख्यान के साथ ही दर्शन और ज्ञान के स्वरूप तथा ज्ञान के प्रकारों एवं ज्ञान के द्वय के साथ सम्बन्ध का विवेचन हुआ है। योगी का ध्येय विविक्तात्मा का अनुभव करना है। द्वितीय अधिकार में पाँच अजीव द्रव्यों, उनकी सत्ता तथा उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्य और उनके आनुषोणिक गुणों व पर्यायों का व्याख्यान है। इनमें प्रत्येक विषय का पूर्णतः स्पष्टीकरण किया गया है तथा अधिकार के अन्त में कर्म-पुण्ड्रगल, उसके स्वरूप एवं उसके आत्मा के साथ सम्बन्ध का विवेचन है। तृतीय अधिकार में आख्य के कारणों और विविध परिणामों को जालीचनात्मक

रीति रो समझाया गया है। चतुर्थ अधिकार में बन्ध एवं उसके नाना प्रकारों का वर्णन है तथा यह भी समझाया गया है कि कर्मों के पुण्य और पाप रूप बन्धनों से किस प्रकार बचा जा सकता है। पाँचवें अधिकार में संधर तत्त्व के भाव और द्रव्य दोनों लप्तों का व्याख्यान है। विषय का वर्णन अत्यन्त उपदेशात्मक है और वह बतलाता है कि सामाजिक आदि द्रष्ट आत्मानुभव की साधना में किस प्रकार महाहितकारी सिद्ध होते हैं। छठे अधिकार में द्रव्य-भाव दोनों प्रकार की निर्जन पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ उल्कृष्ट शैली में समुचित उदाहरणों तथा आवाहरिक सूचनाओं द्वारा समझाया गया है कि योगी के लिए कर्मों की निर्जन किस प्रकार सम्भव है। सातवें अधिकार में मोक्ष का स्वरूप बतलाया गया है, यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार ज्ञानी पुरुष आध्यात्मिक ध्यान द्वारा मुक्ति का अनुभवन कर सकता है। आठवें अधिकार में बारित्र अर्थात् जैन सुनि की बाह्य और आध्यन्तर जीवन-चर्या का वर्णन है। यह विषय हेय और उपादेय का स्पष्टीकरण करते हुए पूर्ण विस्तार से समझाया गया है। नवें अधिकार में स्वानुभव के विविध रूपों का अत्यन्त प्रेरणात्मक रीति से विवेचन है। सम्पादक ने अपनी प्रस्तावना में ग्रन्थ का प्रामाणिक सार हिन्दी में प्रस्तुत किया है।

कुछ ऐसे अन्य ग्रन्थ भी हैं जिनका शीर्षक यो.सा.प्रा. से मिलता-जुलता है (देखिए जि.र.को., पु. ३२४ आदि)। उदाहरणार्थ (१) योगिचन्द्र कृत योगसार (अपब्रंश; मा. दि. जै. ग्र., क्र. २९, बम्बई, ५६२२) तथा परमात्मप्रकाश के पूर्वोक्त संस्करण का गरिशष्ट। (२) योगसारसंग्रह (संस्कृत; गुहदास कृत; मा.दि.जै.ग्र., ४८, ग्रामांशी, १९६७)। (३) योगसूक्त अहातात्मतृत्त्व (जै.सा.वि.म., बम्बई, १९६०)। किन्तु ये सब अपेक्षाकृत छोटी रचनाएँ हैं। इनमें न तो यो.सा.प्रा. के समान विस्तार (५४० पद) पाया जाता है और न उनीं उल्कृष्ट रीति से वर्णित विषयों की समृद्धता और विविधता।

यो.सा.प्रा. का स्वरूप, प्रतिपादन शैली तथा विषय कुन्दकुन्द की रचनाओं, विशेषतः सम्यतार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और नियमसार से अनिष्ट साम्य रखते हैं। पण्डित जुगलकिशोरजी ने यो.सा.प्रा. के विषयों के स्पष्टीकरण हेतु जो उद्धरण दिये हैं, उनसे इस बात की पूर्णतः पुष्टि होती है। अमितगति उस परम्परागत श्रुतज्ञान और विद्यारों से पूर्णतः सुपरिचित हैं जिनका प्रतिपादन कुन्दकुन्द, पूर्णपाद आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा किया गया है। उनका संस्कृत भाषा पर पूरा अधिकार है और उनकी ध्यान सम्बन्धी परिस्फृतियाँ प्रेरणादायक हैं। अतः यह स्वामाजिक ही है कि आध्यात्मिक अभिरुचि रखनेवाले थद्वालु पाठकों के लिए यह रचना विशेष आकर्षक है।

यो.सा.प्रा. का यह संस्करण न केवल उसके अत्यन्त धार्मिक विषय के कारण महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इस कारण भी है कि इस ग्रन्थ का हिन्दी में प्रामाणिक व्याख्यान पं. जुगलकिशोर जी जैसे अनुभवी और उल्कृष्ट विचारशील विदान् द्वारा किया गया है। जैन धर्म विषयक अध्ययन के क्षेत्र में पं. जुगलकिशोर जी का परिचय देने की कोड़ी आवश्यकता नहीं है। वे अपने जीवन के नब्बे वर्ष पार कर चुके हैं तथा जैन साहित्य, जैन धर्म व जैन सामाजिक समस्याओं विषयक उनकी देन बहुत समृद्ध एवं अर्ध ज्ञानात्मी से भी बड़े कालखण्ड में व्याप्त है। उन्होंने यो.सा.प्रा. की व्याख्या सहित अपनी हाल ही की रचनाओं में जैन धर्म के गम्भीर एवं प्रीढ़ ज्ञान का मर्म हम लोगों को प्रदान किया है। अमितगति ने यो.सा.प्रा. में विषयों का जैसा प्रतिपादन किया है उसी की जोड़ का यथोचित एवं सरल हिन्दी व्याख्यान पं. जुगलकिशोर जी द्वारा किया गया है। उन्होंने इस ग्रन्थ को मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला में प्रकाशित करने के लिए भारतीय ज्ञानपीठ को सौंपा अतः प्रधान-सम्पादक उनके विशेष आभारी हैं।

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला ने देश और विदेश के प्राच्य विद्वानों की प्रशंसा अर्जित की है तथा भारतीय-विद्या सम्बन्धी प्रकाशनों में एक विशेष स्थान प्राप्त किया है। ज्ञानपीठ के संस्थापक-संरक्षक श्री साहू शान्ति प्रसादजी तथा उनकी विदुषी धर्मपत्नी श्रीमती रमादेवीजी के प्रति उनके भारतीय ज्ञान के क्षेत्र में उदारता एवं प्रगतिशील नीति के लिए ग्रन्थमाला के सम्पादक अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इन ग्रन्थों के प्रकाशन में लगातार प्रयत्नशील श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैन एवं इनके मुद्रण-प्रकाशन में मुद्रण-स्थान पर ही रहकर सर्वाधिक प्रयासशील डॉ. गोकुलचन्द्र जैन भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

हीरालाल जैन  
आ.ने. उपाध्ये

## संकेताक्षर-सूची

अ.	= अध्याय, अधिकार
आ.	= आमेर-प्रति (महावीर भवन, जयपुर स्थित)
आ.दि.	= आमेर-द्वितीय प्रति (महावीर भवन, जयपुर स्थित)
गा.	= गाथा
गो.क.	= गोम्मटसार-कर्मचारण्ड
गो.जी.	= गोम्मटसार-जीवकाण्ड
चा.अ.	= चारित्र अधिकार
त.सूत्र	= तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र)
तत्त्वानु.	= तत्त्वानुशासन
द्रव्यसं.	= द्रव्यसंग्रह
पंचा., पंचास्ति.	= पंचास्तिकाय
पु.सि.	= पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
पुरु.सिद्ध्यु.	= पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
प्रवचन.	= प्रवचनसार
मु.	= मुद्रित प्रति
यो.प्रा.	= योगसार-प्राभृत
योग.प्रा.	= योगसार-प्राभृत
योगसार प्रा.	= योगसार-प्राभृत
व्या, व्या	= व्यावर-स्थित ऐलक पन्नालाल सरस्वती-भवन की प्रति
समी.धर्म.	= समीचीन-धर्मशास्त्र (रल्करण्डशावकाचार)
सर्वार्थसि.	= सर्वार्थसिद्धि
सू.	= सूत्र

## प्रस्तावना

### ग्रन्थ-चरण

इस ग्रन्थका नाम 'योगसारप्राभृत' है; जैसा कि ग्रन्थके निम्न अन्तिम पद्यसे जाना जाता है—

योगसारमिदमेकमानसः प्राभृतं पठति योऽभिमानसः ।

स्व-स्वरूपमुपलभ्य सोऽङ्गितं सत्यं याति भव-दोष-विकृतम् ।

यह नाम योग, सार और प्राभृत इन तीन शब्दोंसे मिलकर बना है। 'योग' शब्द अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। आगम-ग्रन्थोंमें 'काय-वाहन-मनः-कर्म योग'। इस तत्त्वार्थसूत्र ( ६-१ ) के अनुसार काय, वचन तथा मनकी कियाका नाम 'योग' है, जिससे कर्मोंका आश्रव होता है और इसीलिए जिसको अगले 'स आत्मव' सूत्रके अनुसार 'आत्मव' भी कहा जाता है। योगका दूसरा सामान्य अर्थ 'जोड़ना'—एक पदार्थका दूसरे पदार्थके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध फरना—है। गणितशास्त्रमें योगका प्रायः यही अर्थ परिगृहीत है अर्थात् एक राशिको दूसरी राशि या राशियोंके साथ जोड़कर एक राशि बनाना। वैद्यकशास्त्रमें भी योग औपचियोंको जोड़कर एक मिश्रण तैयार करनेके अर्थमें प्रयुक्त है, जिसे यूनानीमें 'मुरक्कब' कहते हैं, और जिसके व्यवहारकी दृष्टिसे वैद्यक तथा हिंकमत दोनों में ही अनेक नाम होते हैं। तीसरा अर्थ 'ध्यान' है; जैसा कि 'योगो ध्यानं समाधिः' आदि एकार्थवाचक वाक्योंसे<sup>१</sup> जाना जाता है। एकाप्रचिन्ता निरोधका नाम ध्यान है।<sup>२</sup> चिन्ताका विषय प्रशस्त-अप्रशस्त होनेसे ध्यान भी दो प्रकारका हो जाता है—एक प्रशस्तध्यान, दूसरा अप्रशस्त ध्यान। अप्रशस्तध्यान आर्त-रीढ़के भेदसे दो प्रकारका है और धर्म-मुक्तभेदसे प्रशस्तध्यान भी दो प्रकारका है। श्रीकृन्दकुन्दाचार्यने नियमसारमें योगका जो अभिव्यंजक अर्थ तीन गाथाओं-में दिया है वह उसके चौथे विशिष्ट अर्थकी अभिव्यंजना करता है जो इस प्रकार है—

रादादी परिहारे अप्याणं जो तु जुंजदे साहृ ।

सो जोगभित्तिजुत्तो इवरस्स कह हुवे जोगो ॥१३७॥

सम्बविष्याभावे अप्याणं जो तु जुंजदे साहृ ।

सो जोगभित्तिजुत्तो इवरस्स कह हुवे जोगो ॥१३८॥

विवरीयाभिजिवेसं परिषसा जोणहृकहिपतच्चेतु ।

जो जुंजदि अप्यहृण वियभावो सो हुवे जोगो ॥१३९॥

इनमें-से पहली तथा दूसरी गाथामें उस साधकको योगभक्तिसे युक्त बतलाया है जो क्रमशः रागादिके परिहारमें तथा सर्व विकल्पोंके अभावमें अपने आत्माको जोड़ता—लगाता

१. युजे: समाधिवचनस्य योगः समाधिध्यनिमित्यनर्थान्तरम् ।—तत्त्वार्थां ६-१-१२ ।

योगो ध्यानं समाधिवचन श्रीरोधः स्वान्तनिग्रहः ।

अन्तःसंलीनता चेति तत्पर्यायः स्मृता बुधः ।—आर्य २१-१२ ।

२. एकाप्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ।—तत्त्वार्थसूत्र ।

योगविचर्त्तैकाम्भनिरोधनं...स्थाद् ध्यानम् ।— तत्त्वानु०-२१ ।

है। साथ ही तद्विज्ञ व्यक्तिमें योग नहीं बनता ऐसी सूचना दोनों गाथाओंमें की गयी है। तीसरी गाथामें यह बतलाया गया है कि जो विपरीताभिनिवेश ( अन्यथा शुद्धारूप दुराप्रह ) को छोड़कर जैनकथित ( जैनागम-प्रतिपादित ) तत्त्वोंमें आत्माको जोड़ता-लगाता है वह योगभक्तिरूप निज परिणामको लिये हुए योगरूप होता है—उसीके योगसाधन बनता है। इस कथनके द्वारा आचार्य महोदयने योगका निर्युक्तिप्रक सामान्य अर्थ जोड़ना लेकर उसके विशेषार्थरूप किसको किसके साथ जोड़ना इसको सष्ट करते हुए स्वात्माको तीन विषयों के साथ जोड़नेको योगरूपमें निर्दिष्ट किया है—एक तो राग-द्वेषादिके परिहार (त्याग) रूपमें, दूसरे सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पोंके अभावरूपमें और तीसरे विपरीताभिनिवेशसे रहित होकर जिनेन्द्रकथित तत्त्वोंके परिचिन्तनमें। इसमें दोनों प्रशस्तध्यानों ( धर्मध्यान और शुद्धध्यान ) का समावेश हो जाता है और दोनों अप्रशस्त ध्यान दूट जाते हैं। साथ ही सकलसचारित्रका अनुष्ठान भी विवेय ठहरता है; क्योंकि 'रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपूष्टे साक्षु' इस वाक्यके अनुसार राग-द्वेषादिकी निष्पत्तिके लिए ही सचारित्रका अनुष्ठान किया जाता है।

अब देखना यह है कि अन्थकार महोदयने स्वयं 'योग' शब्दको मुख्यतः किस अर्थमें गृहीत किया है। इस विषयमें उनका एक पट पुस्तक है और वह इस प्रकार है—

विविक्तात्म-परिज्ञानं योगात्मजायते यतः ।

स योगो योगिभिर्गांतो योगनिर्वातपातके ॥१२-१०॥

इसमें बतलाया है कि 'जिस योगसे—एकाप्रचिन्ता-निरोधरूप ध्यानसे अथवा मनको स्वके तथा इनिद्रियोंके अन्य व्यापारोंसे हटाकर शुद्धात्मतत्त्वके चिन्तनमें जोड़ने-लगानेसे— विविक्तात्माका जो परिज्ञान होता है,—स्वात्माको उसके स्वाभाविक शुद्धस्वरूपमें जाना—पहचाना जाता है—उसे उब योगियोंने ( वास्तवमें ) 'योग' कहा है जिन्होंने योग-द्वारा पातकोंको—मोह तथा झालावरणादिरूप धातिकर्ममलको—स्वात्मासे धो डाला है—सदा के लिए पृथक् कर दिया है।' योगके स्वरूप-निर्देशमें जिन योगियोंका यहाँ उल्लेख किया गया है, वे सात्र कथनी करनेवाले साधारण योगी नहीं किन्तु अधिकारप्राप्त विशिष्ट योगी हैं, ऐसा उनके 'निर्वातपातके' विशेषणसे जाना जाता है, और इस विशेषणसे यह भी ज्ञात होता है कि जिस योगके स्वरूपका यहाँ निर्देश किया गया है उससे विविक्तात्माका केवल परिज्ञान ही नहीं होता शल्क उसकी सम्प्राप्ति भी होती है, जिसे 'स्वात्मोपलक्षित' अथवा 'स्व-स्वभावोपलक्षित' भी कहते हैं और जिसके उद्देश्यको लेकर ही इस प्रन्थका प्रारम्भ तथा निर्माण हुआ है (१)। इसमें कुन्दकुन्द-प्रतिपादित योगका एतीय अर्थ स्वास तौरसे परिगृहीत है और उसको लेकर सात तत्त्वोंके सात अधिकार अलग-अलग रूपसे निर्दिष्ट हुए हैं।

जिस योगका उक्त स्वरूप है उसीके सार-कथनको लिये हुए यह प्रन्थ है। 'सार' शब्द विपरीतार्थके परिहारार्थ प्रयुक्त होता है; जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यके नियमसार-गत निम्न-वाक्यसे जाना जाता है—

विवरीय-परिहृत्यं भणिदं खलु सारमिदि वर्णणं ॥ ३ ॥

और इससे यह यथार्थताका वाचक है। योगसारका अर्थ हुआ योगका विपरीततासे रहित यथार्थरूप। 'सार' शब्द श्रेष्ठ, स्थिराश, सत तथा नवनीत ( मक्खन ) का भी वाचक

है। और उस दृष्टिसे योगसारका अर्थ हुआ योग-विषयक-कथनका नवनीत, सत अथवा श्रेष्ठ अंश। योगसारके साथ 'प्राभूत' शब्दका प्रयोग, जो कि प्राकृतके 'पाहुड' शब्दका पर्याय-बाची है, उसे एक तोहफेके रूपमें निर्दिष्ट करता है—यह बतलावा है कि यह किसीको उप-दारमें दी जानेवाली एक सारभूत वस्तु है। जयसेनाचार्यने समयसार प्राभूत ( पाहुड ) की टीकामें इसी बातको निम्न प्रकारसे प्रदर्शित किया है—

"यथा कोऽपि देवदत्तः राजदर्जनार्थं किञ्चित् सारभूतं वस्तु राजे ददाति तत् 'प्राभूतं' भण्यते तथा परमात्माराधक-पुरुषस्य निर्बोध-परमात्मराजवश्नानार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभूतम् ।"

**अर्थात्**—जिस प्रकार कोई देवदत्त नामक पुरुष राजाके दर्शन करनेके लिए कोई सारभूत वस्तु राजाको भेंट करता है उसे 'प्राभूत' ( तोहफा ) कहते हैं, उसी प्रकार परमात्माराधक पुरुष ( पन्थकार ) का निर्दोष परमात्मराजका दर्शन करनेके लिए यह शास्त्र भी प्राभूत-के रूपमें है।

श्रीबीरसेनाचार्यने 'जयधवला'में प्राभूतका जो रूप दिया है वह इस प्रकार है—

"प्रकृष्टेन तीर्थकरेण आभूतं प्रस्थापितम् इति प्राभूतम् । प्रकृष्टेराचार्यविद्वावित्तब्रह्माभूतं धारितं व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभूतम् ।"

इसमें बतलाया है कि 'जो प्रकृष्ट पुरुष—तीर्थकर परमदेवके द्वारा प्रस्थापित हुआ वह प्राभूत है, अथवा जो विद्वाधनके इनी प्रकृष्ट उत्तमाचार्योंके द्वारा प्रारित व्याख्यात तथा आनीत ( परम्परासे आगत ) हुआ है वह भी 'प्राभूत' है। इससे 'प्राभूत' शब्द प्रतिपाद्य-विषयकी प्राचीनता और समीचीनताको लिये हुए जान पड़ता है।

इस तरह यह प्रन्थनाम और प्रन्थनामके महत्वका संक्षिप्त परिचय है। प्रस्तुत प्रन्थ पद-पदपर अपने नामके महत्वको हदयंगम किये हुए है। जैन-समाजमें कितने ही प्रन्थ सारान्त नामको लिये हुए हैं; जैसे प्रवचनसार, गोमदृसार, त्रिलोकसार, लविधसार, तत्त्वाध-सार आदि और कुछ योगसार-प्राभूत भी हैं, जैसे कुन्वकुन्दाचार्यके दंसणपाहुड ( दर्शनप्राभूत ) आदि। परन्तु यह प्रन्थ 'सत्र' और 'प्राभूत' दोनों विशेषणोंको एक साथ आत्मसात् किये हुए हैं और यह इसकी एक चिशेषता है।

### प्रन्थकार अमितगति और उनका समय

इस प्रन्थके कठी-निर्माताका नाम 'अमितगति' है; जैसा कि प्रन्थके अन्तिम पदसे पूर्वस्थित द३वें पदमें प्रयुक्त हुए निम्न वाक्यसे जाना जाता है—

निःसंगात्मामितगतिरिवं प्राभूतं योगसारं ब्रह्मप्रस्त्रै परममकृतम् ।

इसमें बतलाया है कि 'इस योगसार-प्राभूतको निःसंगात्मा अमितगतिने परब्रह्मकी प्राप्तिके लिए रखा है।' इससे पूर्वके एक पद नं० ८१ में भी, 'विज्ञायेत्यं विचिन्त्यं सदमित-गतिभिस्तत्त्वमन्तःस्थमग्र्यम्' आदि वाक्योंमें प्रयुक्त 'सदमितगतिभि:' पदके द्वारा प्रन्थकारने अपने 'अमितगति' नामकी सूचना की है।

दिग्म्बर जैन समाजमें 'अमितगति' नामके दो आचार्य हो गये हैं—एक माधवसेन सूरिके शिष्य तथा नेमिषेणाचार्यके प्रशिष्य और दूसरे नेमिषेणाचार्यके गुरु तथा देवसेन-सूरिके शिष्य। ये दोनों ही अमितगति माधुर संघसे सम्बन्ध रखते हैं, जिसका अमितगति

द्वितीयकी प्रन्थ-प्रशस्तियोंमें स्पष्ट उल्लेख है और जो काष्ठासंघका एक भेद रहा है। इनमें-से एकको प्रथम और दूसरेको द्वितीय अमितगति समझना चाहिए। इन दोनोंमें-से कौन-से अमितगतिकी यह कृति है यही यहाँ विचारणीय है। द्वितीय अमितगतिके बनाये हुए सुभाषितरत्रसन्दोह, धर्मपरीक्षा, आराधना, उपासकाचार और पंचसंप्रहन नामके अनेक प्रन्थ हैं, जिनमें प्रन्थकारने अपनी गुरुपरम्पराका स्पष्ट उल्लेख किया है, और इसलिए वे निश्चित रूपसे अमितगति द्वितीयकी कृति हैं। योगसार-प्राभृतमें गुरुपरम्पराका वैसा कोई उल्लेख नहीं है और इसलिए वह द्वितीय अमितगतिकी कृति मालूम नहीं होती; लेखनशीलीकी विभिन्नता और अर्थकी गम्भीरता भी उसके वैसा माननेमें बाधक प्रतीत होती है। इसीसे स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमी आदि कुछ विद्वानोंने उसके अमितगति द्वितीयकी कृति होनेमें सन्देह व्यक्त किया है<sup>१</sup> और अमितगति प्रथमकी कृति होनेकी संभावना व्यक्त की है; परन्तु प्रमाणाभाव-में निश्चित रूपसे किसीने भी कुछ नहीं कहा है। यह कृति निश्चित रूपसे अमितगति प्रथमकी कृति है, जिसका प्रमाण अमितगतिके साथ 'निःसंगात्मा' विशेषणका प्रयोग है, जिसे प्रन्थकारने स्वयं अपने लिए प्रयुक्त किया है; जैसा कि ऊपर उद्धृत २२० अधिकारके पश्च नं० ८३ के वाक्यसे जाना जाता है। यह विशेषण अमितगति द्वितीयके लिए कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ; बल्कि स्वयं अमितगति द्वितीयने इस विशेषणको 'त्यक्त-निःशेषसंगः' रूपमें अमितगति प्रथमके लिए प्रयुक्त किया है; जैसा कि सुभाषितरत्रसन्दोहकी प्रशस्तिके निम्न पद्धतेसे जाना जाता है और जिससे उक्त निश्चय एवं निर्णयकी भरपूर पुष्टि होती है—

आशोविघ्वस्त-कर्तृविपुलशमभृतः श्रीमतः कान्तकीर्तेः

सूरेयातस्य पारं भ्रुतसलिलनिषेद्वसेनस्य शिष्यः ।

विश्वाताशेषशास्त्रो इतसमितिभृतामप्नोरस्तकोपः

धीमान्मास्यो मुनीनाममितगतियतिस्त्पत्तनिःशेषसंगः ॥२१५॥

इस पद्धतेमें अमितगति प्रथमके गुह देवसेनका नामोल्लेख करते हुए उन्हें 'विघ्वस्त कामदेव, विपुलशमभृत, कान्त ( वीम ) कीर्ति और भ्रुतसलिलका पारगामी आचार्य लिखा है तथा उनके शिष्य अमितगति योगीको अशेष शास्त्रोंका हाता, महाश्रतों-समितियोंके धारकोंमें अग्रणी, क्रोधरहित, मुनिमान्य और सारे ( वाष्पाभ्यन्तर ) परिमहोंका त्यागी सूचित हिया है।' पिछला विशेषण सर्वोपरि मुख्य जान पड़ता है, इसीसे अमितगतिने उसे 'निःसंगात्मा' के रूपमें अपने लिए प्रयुक्त किया है। वे इतने अधिक निःसंग हो गये थे कि गुरु-शिष्य तथा संघका भी मोह छोड़ बैठे थे और इसलिए उन्होंने 'उनका कोई उल्लेख अपने प्रन्थमें नहीं किया। अमितगति द्वितीयने सुभाषितरत्रसन्दोहके अगले पद्धतेमें भी उनका कितना ही

१. काष्ठासंघ चार गच्छोंमें विभक्त था जिनके नाम हैं— (१) श्रीनन्दिनट, (२) माधुर, (३) वामड, (४) लाडबागड;<sup>२</sup> जैसा कि भट्टारक मुरेन्द्रकीर्तिकी बनायी हुई 'पट्टावली' के निम्न वाक्योंसे जाना जाता है—

काष्ठासंघो भूवि रूपाती जानन्ति नसुरासुराः । तत्र गच्छाश्च चल्वारो राजन्ते विथृताः वित्ती ॥

श्रीनन्दिनसंज्ञेन्च माधुरो वामडोऽभिधः । लाडबागड इत्येते विश्वाताः वित्तमण्डले ॥

२. श्री पं० नाथूरामजीने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास'में पृ० २८० पर लिखा है— "इसके कर्ता शायद इन अमितगतिके दादा गुहके गुह अमितगति है।" यहाँ प्रयुक्त 'शायद' शब्द सन्देहका ही वाचक है।

३. अल्हृत्यमहिमालयो विमलसत्यवान् रत्नवीर्दरस्त्वर्गभीरतो गुणमणिः पद्मोक्षारिणिः ।

समस्तजनतासतां शियमनीश्वरीं देहिनां सदामृतजलच्युतो विवृष्टसेवितो दत्तवान् ॥२१६॥

गुणगान किया है—उन्हें अलंकृतमहिमालय, चिमलसत्त्ववान्, रजधी, गुणमणि पर्योनिधि और समस्त जनवाके सन्तुजनोंको अनश्वरी श्रीका प्रदाता लिखा है, जो उनके दूसी ग्रन्थकी ओर संकेत ज्ञान पढ़ता है। साथ ही अपनी 'धर्मपरीक्षा' में उन्हें 'भासितालिलपदार्थसमूहः', 'निर्भलः' और 'आराधना'में 'शम-यम-निलयः', 'प्रबलितमदनः', 'पदवतसूरिः' ( चरणोंमें न त हैं आचार्य जिनके ) जैसे विशेषणोंके साथ स्मरण किया है और जो सब उनके ल्यास्त्वके महत्त्वको ल्यापित करते हैं। वास्तवमें वे ज्ञान और चारित्रकी एक असाधारण मूर्ति थे, उनका जीवन अमली जीवन था, उनकी कथनी और करनीमें कोई अन्तर नहीं था और इसलिए वे अनेक आचार्योंसे भी पूजित-नमस्कृत महाभान्य थे। उन्होंने अशेष शास्त्रोंका अध्ययन-मनन कर जो कुछ अनुभव प्राप्त किया और अपनेको जिस साँचेमें ढाला उसका यह ग्रन्थ ब्बलन्त उदाहरण है, जिसका कुछ परिचय आगे दिया जायेगा।

अब देखना है कि ये अमितगति प्रथम किस समय हुए हैं। अमितगति द्वितीयने सुभाषितरलनसन्दोहको विक्रम संवत् १०५० में पौषशुक्रा पञ्चमीके दिन बनाकर समाप्त किया है।<sup>१</sup> उसके बाद धर्मपरीक्षाको संवत् १०३० में और पञ्चमंग्रहको संवत् १०७२ में पूरा किया है। इससे वे विक्रम की द्वितीय-तृतीय शताब्दीके विद्वान् ज्ञान पढ़ते हैं। अतः उनसे दो पीढ़ी पूर्व होनेवाले उनके दादा गुरु नेमिधेणाचार्यके भी युह अमितगति प्रथमका समय यदि ४०-५० वर्ष पूर्व मान लिया जाये तो वह कुछ भी अधिक नहीं है—बहुत कुछ स्वाभाविक है। ऐसो स्थितिमें यह ग्रन्थ, जो अमितगति प्रथमकी प्रायः पिछली अवस्थामें निर्मित हुआ है, जब कि वे निःसंगात्मा हो चुके थे, विक्रमी ११वीं शती के प्रारम्भकी अथवा ज्यादासे ज्यादा उसके प्रथम चरणकी—१००१ से १०२५ तकही—रचना ज्ञान पढ़ती है। इसके बाद उसका समय नहीं हो सकता।

## ग्रन्थकी प्रतियोंका परिचय

इस ग्रन्थकी जो प्रति मुझे सबसे पहले प्राप्त हुई वह एक मुद्रित प्रति है, जिसे आजसे कोई ५० वर्ष पहले सन् १९१८ में भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्थाके महामन्त्री पं० पन्नालालजी बाकलीवालने 'योगसार' नामसे सनातन जैन ग्रन्थमालाके नं० १६ के रूपमें, उस्मानाबाद निवासी गान्धी कस्तरुचन्द्रजीके स्वर्गीय पुत्र बालचन्द्रजीकी स्मृतिमें पं० गजाधरलालजीके तत्कालीन हिन्दी अनुवादके साथ विश्वकोष प्रेस कलकत्तामें छपवाकर प्रकाशित किया था। यह प्रति कहाँकी इस्तलिखित प्रतिके आधारपर छपवायी गयी ऐसा कही कुछ सूचित नहीं किया गया। अस्तु, यह प्रति बड़े साहजके शास्त्राकार खुले पत्रोंपर है और इसकी पृष्ठ-संख्या २१४ है। इस प्रतिको यहाँ ( तुलनात्मक दिप्पणीमें ) 'मु' संज्ञा दी गयी है।

इसके बाद इस्तलिखित प्रतियोंकी प्राप्तिका प्रयत्न करनेपर मुझे दो प्रति आमेरके शास्त्रभण्डारकी प्राप्त हुए, जो जयपुरके महावीर भवनमें सुरक्षित हैं। इनमेंसे एक प्रायः पूरी और दूसरी अधूरी है। पूरी प्रतिका नं० ९३६ है। इसकी पत्रसंख्या ३९ है, पर पहला पत्र नहीं है, जिसका प्रथम पृष्ठ खाली ज्ञान पढ़ता है; क्योंकि उसमें छह पत्ते रहे हैं, सातवें पत्रका केवल 'चतु' अंश हो है। ३९ वें पत्रका द्वितीय पृष्ठ भी खाली था, बादको

१. समारूप पूतनिदिववसति विक्रमन्मृते सहस्रे वर्षणां प्रभवतीह पञ्चाशदधिके। समाप्ते पञ्चम्यामवति धरणों मुक्तजनपती सिते पक्षे पौषे बुष्टहितमिर्द शास्त्रमनधम् ॥५२२॥

उसपर किसीने गद्यपूर्वक अधःप्रवृत्तकरणादि-विषयक कुछ गाथाएँ उद्धृत की हैं। और अन्लमें “अथ त्रयोचित्पुद्गालवर्णणा गाथा” लिखकर पाँच गाथाएँ और उद्धृत की हैं। इस प्रतिके पत्रोंका आकार ८६ इंच लम्बा और ३५ इंच चौड़ा है। द्वितीय पत्रके प्रथम पृष्ठपर ११ पंक्ति हैं, शेष प्रन्थके प्रत्येक पृष्ठपर ५ पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में अक्षर प्रायः २६ से २८ तक हैं। लिपि प्रायः अच्छी और स्पष्ट है, पद्धाक सुखीसे दिये हुए हैं और कहीं-कहीं टिप्पणी भी हाशियोंपर अंकित है जो प्रायः वादकी जान पढ़ती है। इस प्रतिके बोचमें दो पत्र नं. १५, १६ उद्धृत पुराने हैं। जान पढ़ता है जिस प्रतिके बे पत्र हैं उसीपरन्से, उसके अतिजीर्ण हो जानेसे यह प्रति करायी गयी है, जिसमें अक्षरोंका प्रति पंक्ति-क्रम पुरानी प्रतिके अनुसार ही रखा गया है, इसीसे उक्त दो पत्रोंका सम्बन्ध ठीक जुड़ गया है। इस प्रतिके अन्तमें कोई लिपिकाल दिया हुआ नहीं है। अन्तिम पुष्टिका वाक्यका रूप इस प्रकार है।—

“इति श्री अमितगति आचार्य विरचिते योगसार लस्त्वप्रदीपका नवाधिकार समाप्तः ॥छाण्डो॥श्री॥श्री॥”

मध्यके सन्धिवाक्य “इति जीवाधिकारः समाप्तः इति ऋजीवाधिकारः, इति आज्ञावाधिकारः” इत्यादि रूपमें दिये गये हैं। यह प्रति सुदृश प्रतिकी अपेक्षा विशेष शुद्ध नहीं है, कहीं-कहीं कुछ शुद्ध है, कहीं-कहीं स-श, न-ण, व-ब, य-ज आदिका ठीक भेद नहीं रखा गया—एकके स्थानपर दूसरा अक्षर लिखा गया है।

दूसरी अधूरी—खण्डित प्रतिका नं० ९३७ है। इसमें प्रारम्भके १५ पत्र और अन्तका ३१वाँ पत्र ( लेखक-प्रशस्त्यात्मक ) नहीं है। ३०वें पत्रके अन्तमें प्रन्थ समाप्त करते हुए जो कुछ लिखा है वह इस प्रकार है—

“एवं अधिकारः समाप्तः ॥छाण्डो॥ इति श्री अमितगति विरचित नवाधिकारः समाप्तः ॥ योगसार नामेति वा ॥छाण्डो॥”

“संवत् १५८६ वर्षे कात्तिगायुषि २ श्री मूलसंघे नन्दाभ्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंबकुंबाचार्यान्वये भ० श्री पश्चनन्दिवेवाः तत्पट्टे भ० श्री शुभचंद्रवेवाः तत्पट्टे भ० श्रीजिन-चंद्रवेवाः तत्पट्टे भ० श्री प्रभाचंद्रवेवाः तत् शिष्य मंडलाचार्य श्री धर्मचंद्रं”

इसके आगे ३१वें पत्रपर धर्मचंद्रके विषयका, उक्तकी प्रेरणासे अमुकने यह प्रन्थ लिखाया और अमुकने लिखा ऐसा कुछ उल्लेख होना चाहिये।

इस प्रतिके पत्रोंका आकार ११५ इंच लम्बा और ५ इंच चौड़ा है, प्रति पृष्ठ ५ पंक्तियाँ और प्रति पंक्ति प्रायः ३७-३८ अक्षर हैं। इस प्रतिके हाशियोंपर भी टिप्पणियाँ हैं, जो प्रायः प्रति नं० ९३६ की टिप्पणियोंसे मिलती-जुलती हैं—कुछ अधिक भी हैं और इससे अनुमान होता है कि किसी पूर्व प्रतिमें ये टिप्पणियाँ चलती थीं, उसपरन्से इनका सिलसिला चला रथा उसमें घृद्धिको भी अवसर मिला है। लिपिकारोंके सामने ऐसी प्रतियाँ थीं; त्रयोंकि टिप्पणियोंके बहुधा अक्षर लिपिकारके अक्षरोंसे मिलते-जुलते हैं।

यह प्रति उवें अधिकारके ४१-४२वें पद्धसे चालू हुई है—४५वें पद्धका “यः षोडा सामग्रीयं बहिर्भवता” यह अन्तिम चरणाश इसपर अंकित है। और प्रति नं० ९३६ की अपेक्षा अधिक शुद्ध जान पढ़ती है। इसको यहाँ ‘आद्वि’ संज्ञा दी गयी है। ये दोनों प्रतियाँ अपनेको अक्तूबर १९६३ में श्री पं० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल जैन एम० ए० अध्यक्ष महाबीर-भवन जयपुरके सौजन्यसे प्राप्त हुई थीं, जिनके लिप में उनका आभारी हूँ। जयपुरमें जहाँ अनेक अच्छे बड़े शास्त्रभण्डार हैं, इस प्रन्थकी दूसरी कोई प्रति उपलब्ध नहीं है, ऐसा उक्त

पं० ( वर्तमान डॉक्टर ) करतूरचन्द्रजीसे मालूम हुआ, जिन्होंने जयपुरके सभ शास्त्र-भण्डारोंकी सूचियाँ तैयार की हैं—और भी आहरके किसी शास्त्रभण्डारसे उन्हें इस प्रन्थकी प्राप्ति नहीं हुई, ऐसा दरियाफ़त करनेपर मालूम पड़ा ।

तीसरी प्रति व्यावरके ऐलक प्रालाल सरस्वती भवनसे प्राप्त हुई, जिसे पं० प्रकाशचन्द्रजीने उक्त भवनसे लेकर मेरे पास भेजनेकी कृपा की थी और मैंने उसपर-से १४ दिसम्बर १९६३ को तुलनात्मक नोट्स लिये थे । इस कृपाके लिए मैं उक्त पण्डितजी तथा सरस्वतीभवन दोनोंका आभारी हूँ । यह प्रति देशी स्वाल्कोटी-जैसे कागजपर लिखी हुई है, जिसकी पत्र-संख्या २५ है, प्रथम पत्रका पहला पृष्ठ खाली है, पत्रके प्रत्येक पृष्ठपर ९ पंक्तियाँ और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या प्रायः ३२ से ४० तक है । यह प्रति कोटा नगरमें पं० द्वयारामके द्वारा, जिन्होंने अपना कोई परिचय नहीं दिया, वैशाख शुक्र एकादशी संवत् १७५९ को लिखकर समाप्त हुई है; जैसा कि प्रतिके निम्न अन्तम अंशसे जाना जाता है—

“इत्यमितगतिकृत योगसार तत्त्वप्रदीपिका नवाधिकार समाप्तः ॥

संवत् १७५९ वर्षे वैशाख शुक्लेकादशवार्षी कोटानगरे लिन पं० द्वयारामेन ॥”

इस प्रतिकी लिखावट अच्छी साक है; परन्तु बहुत कुछ अशुद्ध है । कितनी ही जगह अक्षर लूटे हैं; अन्यथा भी लिखे गये हैं, व-व, श-स आदिका ठीक भेद नहीं रखा गया । फिर भी इस प्रतिमें कुछ पाठ ऐसे मिले हैं जो मुद्रित प्रतिकी अपेक्षा शुद्ध हैं । मोटी अशुद्धियाँ अधिक होनेके कारण उनका नोट नहीं लिया गया । अधिकारोंके नाम इसमें ‘ओवाधिकारः’, ‘अजीबाधिकारः’ आदि रूपसे अधिकारके अन्तमें दिये हैं ।

इस प्रति तथा आमेरकी प्रथम प्रति ( नं० १३६ ) के अन्तमें ‘योगसारके अनन्तर तत्त्वप्रदीपिका’ नामका प्रयोग देखकर मुझे यह सन्देह हुआ था कि शायद इस प्रन्थपर ‘तत्त्वप्रदीपिका’ नामकी कोई टीका लिखी गयी है और उस टीकापर-से यह प्रति उद्धृत की गयी है, इसीसे ‘तत्त्वप्रदीपिका’ का साथमें नामोल्लेख हुआ है, जिसके अन्तका ‘या’ शब्द छूट गया है, जो सप्तमी विभक्तिका बाचक था और उससे ‘योगसारकी तत्त्वप्रदीपिका टीकामें नवमा अधिकार समाप्त हुआ’ ऐसा अर्थ हो जाता है । अतः मैंने बहुत-से दिगम्बर-द्वेषात्म्बर भण्डारोंमें पूछ-ताछ आदिके द्वारा उसकी खोज की, परन्तु कहींसे भी उसकी उपलब्धि नहीं हो सकी । दक्षिण कश्मीर प्रान्तके भण्डारोंमें तो यह मूल प्रन्थ भी नहीं है; जैसा कि पं० के० भुजबली शास्त्री-द्वारा संकलित एवं सम्पादित और भारतीय शानपीठ-द्वारा प्रकाशित “कन्नड प्रान्तीय ताणपत्र प्रन्थसूची” से जाना जाता है । शास्त्रीजीको स्वतः प्रेरित करनेपर भी यहीं पता चला कि इस प्रन्थकी कोई प्रति उधरके शास्त्रभण्डारोंमें नहीं है । दिल्ली, अजमेर, आरा, आगरा, सोनागिर, कोहिया गंज, काँधला, कैराना, प्रतापगढ़, रोहतक, श्रीमहाबीरजी, सहारनपुर, केकड़ी, एटा आदिके शास्त्रभण्डारोंमें भी इसकी कोई हस्त-लिखित मूल प्रति नहीं है । श्री डॉ० चैलनकर ने ‘‘जिनरत्नकोश’’ में इसे ‘योगसार’ नामसे उल्लेखित किया है और वीतराग अमितगति कृत लिखा है, परन्तु इसकी किसी हस्तलिखित प्रतिका कोई उल्लेख नहीं किया—मुद्रित प्रतिका ही उल्लेख किया है और उसे सनातन जैन प्रन्थमाला कलकत्तामें नं० १६ पर प्रकाशित व्यक्त किया है । ऐसी स्थितिमें प्रन्थ-नामके साथ ‘तत्त्वप्रदीपिका’ नामकी योजनाका रहस्य अभी तक अन्धकारमें ही चला जाता है—हल होनेमें नहीं आया ।

एक चौथी प्रतिका पता मुझे अपनी उस नोटबुकसे चला जिसमें बहुत वर्ष हुए मैंने सेठ माणिकचन्द्र हीराचन्द्रजी बन्धुईके रत्नाकर पैलेस चौपाटी स्थित शास्त्रभण्डारके प्रशस्ति-

संग्रह नामक दो रजिस्टरोफर-से, जो उन भण्डारमें स्थित शाखोपर-से संकलित किये गये थे, कुछ ग्रन्थोंकी प्रशस्तियाँ उन पृष्ठोंपर उद्धृत की थीं और उसके बाद प्रशस्तिसंग्रहके तीसरे रजिस्टरमें शाखाग्रहमें जौचूद ग्रन्थोंकी दो सूची दी हुई है। इस र-से कुछ खास ग्रन्थोंके नामोंको भी नोट किया था, जिनकी संख्या ४७ है। इस नोटबुकके २३वें पृष्ठपर इस ग्रन्थ-की प्रशस्तिको उद्धृत किया है, जिसमें फहला पत्र न होनेकी सूचना की गयी है और इसलिए मंगल पव्य नहीं दिया जा सका। प्रशस्तिमें ग्रन्थके अन्तमें दो पदोंके अनन्तर ग्रन्थको समाप्त करते हुए जो कुछ लिखा है, वह इस प्रकार है—

“इति श्रीअमितगतिवीतरागी विरचित नवाधिकारः ।

“इति वीतराग-अमितगति-विरचितायामध्यात्मतरंगिण्या नवाधिकाराः समाप्ताः ॥”

“संवत् १६५२ वर्षे जेष्ठद्वितीयदशम्यां शुक्ले मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलांगणे श्री कुन्द-कुन्दा(चार्दन्वये) भ० श्री पद्मनन्दीदेवास्तत्प० भ० सकलकीर्तिदेवास्तत्प० भ० भुवनकीर्तिदेवा-स्तत्प० भ० श्री ज्ञानभूषणदेवास्तत्प० भ० विजयकीर्तिदेवास्तत्प० भ० वाविभूषणगुरु तच्छिष्य-पं० देवजी पठनार्थम् ।”

इस प्रशस्तिसे प्रतिके लेखन-काल और जिनके लिए प्रति लिखी गयी उन पं० देवजी-की गुरुपरम्पराके अतिरिक्त दो बातें खास तौर-पर सामने आती हैं—एक ग्रन्थका नाम अध्यात्मतरंगिणी और दूसरे ग्रन्थकार अमितगतिका विशेषण ‘वीतराग’। यह विशेषण उनके स्वोक्त ‘निःसंगत्या’ और अमितगति द्वितीयोक्त ‘त्यक्तनिःशोषसंगः’ विशेषणोंको पुष्ट करता है, और उन्हें अमितगति प्रथम ही सिद्ध करता है। रही ‘अध्यात्म-तरंगिणी’ नामकी बात, उसकी पुष्टि कहींसे नहीं होती। मूलग्रन्थके दोनों अन्तम पश्चामें ग्रन्थका साफ और मष्ट नाम ‘योगसार-प्राभुत’ दिया है; प्रशस्तिसंग्रहके तीसरे रजिस्टरमें शाखाभण्डार मिथ्य ग्रन्थोंकी जो सूची दी है उसमें भी ‘योगसार’ नाम दिया है, तब यह ‘अध्यात्म-तरंगिणी’ नामकी कल्पना कैसी? मुद्रित प्रतिकी सन्धियोंमें ‘योगसार’ के अनन्तर ब्रेकटके भीतर ‘अध्यात्मतरंगिणी’ नाम दिया है और इस तरह उसे ग्रन्थका द्वितीय नाम सूचित किया है; परन्तु इसका कोई आधार व्यक्त नहीं किया। ‘अध्यात्मतरंगिणी’ तो ‘तत्त्वप्रदी-पिका’ की तरह टीकाका नाम हो सकता है और इससे ग्रन्थकी ‘अध्यात्मतरंगिणी टीका’ की भी कल्पना की जा सकती है, परन्तु वह कहीं उपलब्ध नहीं होती और न उसके रचे जानेका कहीं कोई सप्त्र उल्लेख ही पाया जाता है। अस्तु ।

इस बम्बई-प्रतिकी प्राप्तिके लिए मैंने बहुत यत्न किया, डॉ० यिशाचन्द्रजी जैन, हीरा-बाग बम्बई-द्वारा सेठ माणिकचन्द्रजीके उत्तराधिकारियोंको बहुत कुछ प्रेरणा की, स्वयं भी पत्र लिखे; परन्तु कोई भी उससे मस नहीं हुआ और न किसीने द्विष्टाचारके तौरपर उत्तर देना ही उचित समझा—सर्वत्र उपेक्षाका ही चातावरण रहा। अन्तमें मैंने भारतीय शानपीठ के मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्रजीको प्रेरित किया कि वे स्वयं बम्बई लिखकर ग्रन्थकी उक्त प्रतिको ग्राप करके मेरे पास मिजवायें, उत्तरमें उन्होंने मुझे साहू श्रेयसप्रसादजीको लिखनेकी प्रेरणा की, तदनुसार मैंने साहूजीको लिखा और उन्होंने सेठ माणिकचन्द्रजीके उत्तराधिकारी एवं शाखा-भण्डारके अधिकारीको बुड़ाकर ग्रन्थको निकालकर देने आदिकी प्रेरणा की। अन्तको नतीजा यही निकला और यही उत्तर मिला कि ग्रन्थ शास्त्रभण्डारकी सूचीमें दर्ज तो है परन्तु मिल नहीं रहा है। इसलिए मजबूरी है। वहे परि अमरवं खर्चसे एकत्र किये हुए सेठ माणिकचन्द्रजीके शाखाभण्डारकी ऐसी स्थितिको जानकर बड़ा अकसोस हुआ।

## ग्रन्थका संक्षिप्त विषय-परिचय और महत्व

यह ग्रन्थ ९ अधिकारोंमें विभक्त है जिनके नाम हैं—१ जीवाधिकार, २ अजीवाधिकार, ३ आख्याधिकार, ४ बन्धाधिकार, ५ संबराधिकार, ६ निर्जराधिकार, ७ मोक्षाधिकार और ८ चारित्राधिकार। नवमें अधिकारको 'नवाधिकार' तथा 'नवमाधिकार' नामसे ही ग्रन्थ-प्रतियोंमें उल्लेखित किया है, दूसरे अधिकारोंकी तरह उसका कोई खास नाम नहीं दिया; जब कि ग्रन्थ-सन्दर्भकी हष्टिसे उसका दिया जाना आवश्यक था। यह अधिकार सातों तत्त्वों तथा सम्यक् चारित्र-जैसे आठ अधिकारोंके अनन्तर 'चूलिका' रूपमें स्थित है—आठों अधिकारोंके विषयको स्पर्श करता हुआ उनकी कुछ विशेषताओंका उल्लेख करता है और इसलिए उसे यहाँ 'चूलिकाधिकार' नाम दिया गया है। जैसे किसी मन्दिर-भवनकी चूलिकाचोटी उसके कलशादिके रूपमें स्थित होती है उसी प्रकार 'योगसार-प्राभृत' नामक ग्रन्थ-भवनकी चूलिका-चोटीके रूपमें यह भवना अधिकार स्थित है अतः इसे 'चूलिकाधिकार' कहना समुचित जान पड़ता है। ग्रन्थके 'परिशिष्ट' अधिकाररूपमें भी इसे प्रहण किया जा सकता है।

इन अधिकारोंमें योगसे सम्बन्ध रखनेवाले और योगको समझनेके लिए अत्यावश्यक जिन विषयोंका प्रतिपादन हुआ है वे अपनी खास विशेषता रखते हैं और उनकी प्रतिपादन शीली बही ही मुन्दर जान पड़ती है—पढ़ते समय जरा भी मन उकताता नहीं, जिधरसे और जहाँसे भी पढ़ो आनन्दका स्रोत वह निकलता है, नयी-नयी अनुभूतियाँ सामने आती हैं, बार-बार पढ़नेको मन होता है और तृप्ति नहीं हो पाती। यही कारण है कि कुछ समयके भीतर मैं इसे सौ-से भी अधिक बार पूरा पढ़ गया हूँ। इस ग्रन्थका मैं क्या परिचय दूँ और क्या महत्व व्यापित करूँ वह सब तो इस ग्रन्थको पढ़नेसे ही सम्बन्ध रखता है। पढ़नेवाले विज्ञ पाठक स्वयं जान सकेंगे कि यह ग्रन्थ जैनधर्म तथा अपने आत्माको समझने और उसका उद्धार करनेके लिए कितना अधिक उपयोगी है, युक्तियुक्त है और विना किसी संकोचके सभी जैन-जैनेतर विद्वानोंके हाथोंमें दिये जानेके बोग्य है; फिर भी मैं यह बतलाते हुए कि ग्रन्थकी भाषा अच्छी सरल संरक्षित है, कृतिमतासे रहित प्रायः स्वाभाविक प्रवाहको लिये हुए गम्भीरार्थक है और उसमें उक्तियाँ, उपमाओं तथा उदाहरणोंके द्वारा विषयको अच्छा बोधगम्य किया गया है, संक्षेपसे अपने पाठकोंको इसके अधिकारोंका कुछ विषय-परिचय करा देना चाहता हूँ और यह अधिकार-क्रमसे इस प्रकार है—

(१) ग्रन्थके आदिमें 'विद्यिक' आदि छह विशेषणोंके साथ सिद्ध समूहका स्वरूप मंगलाचरण किया गया है और उसका उद्देश्य स्वस्वभावकी उपलब्धि बतलाया है—ग्रन्थके निर्माणका भी उद्देश्य इसीमें सम्मिलित है (१)। स्वस्वभावकी उपलब्धि ( जानकारी एवं सम्प्राप्ति ) के लिए जीव और अजीवके लक्षणोंको जाननेकी प्रेरणा की है; क्योंकि इन दो प्रकारके ( चेतन-अचेतन ) पदार्थोंसे भिन्न संसारमें तीसरे प्रकारका कोई पदार्थ नहीं—सभीका इन दोमें अन्तर्भूत है (२)। इन दोनों जीव-अजीवको वास्तविक रूपमें जान लेने-से जीवकी अजीवमें अनुरक्षितथा आसक्ति न रहकर उसका परिहार बनता है—उसे आत्म-द्रव्यसे बहिर्भूत समझा जाता है (३)—अजीवके परिहारसे जीवकी अपनेमें लीनता बढ़ित होती है, आत्मलीनतासे राग-द्वेषका भ्रय होता है, राग-द्वेषके भ्रयसे कर्मके आश्रयका—आस्त्र-बन्धका—छेद होता है और कर्माश्रयके छेदसे निर्वाणका समागम ( सुक्षिलाभ ) होता है, यही उक्त दोनों तत्त्वोंकी वास्तविक जानकारीका फल है ( ३, ४ )। इसके बाद

जीवके उपयोग लक्षण और उसके भेद-प्रभेदोंका उल्लेख करके केवलज्ञान और केवलदर्शन नामके दो उपयोगोंका कर्मोंके क्षयसे और शेष उपयोगोंका कर्मोंके अयोपशमसे उदित होना लिखा है तथा क्षयसे उदित होनेवाले ज्ञान-दर्शनकी युगपत् और दूसरे सथ ज्ञान दर्शनोंकी क्रमशः उत्पत्ति बतलायी है ( १०, ११ )। ज्ञानोपयोगमें मिथ्याज्ञानका मिथ्यात्वके और सम्यक् ज्ञानका सम्यक्त्वके समवायसे उद्य होना बतलाकर दोनोंके स्वरूप तथा भेदोंका उल्लेख करते हुए मिथ्यात्वको कर्मरूपी बगीचेके डगाने-घडानेके लिए जलदानके समान लिखा है ( १३ ) और सम्यक्त्वको सिद्धिके साधनमें समर्थ निर्दिष्ट किया है ( १६ )।

आत्माको ज्ञानप्रमाण, ज्ञानको ज्ञेयप्रमाण सर्वगत और ज्ञेयको लोकालोक-प्रमाण बतलाकर ज्ञानको आत्मासे अधिक ( बड़ा ) माननेआदिपर जो दोषापत्ति उदित होती है उसे तथा ज्ञानकी व्यापकताको एक उदाहरण-द्वारा स्पष्ट किया गया है ( २०, २१ )। ज्ञान-ज्ञेयको जानता हुआ कैसे ज्ञेयरूप नहीं हो जाता, कैसे उसमें दूरबर्ती पदार्थोंको अपनी ओर आकर्षित करनेकी शक्ति है और कैसे वह स्वपरको जानता है, इन सबको स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि क्षायोपशमिक ज्ञान तो विवित कर्मोंका नाश हो जानेपर नाशको प्राप्त हो जाता है परन्तु आविक ज्ञान जो केवलज्ञान है वह सदा उदयको प्राप्त रहता है—कर्मोंके नाशसे उसका नाश नहीं होता ( २२-२५ )। इसके बाद केवलज्ञानको त्रिकालगोचर सभी सत्-असत् विषयोंको, जिनके स्वरूपका निर्देश भी साथमें किया गया है, युगपत् जाननेवाला बतलाकर यह युक्तिपुरस्सर प्रतिपादन किया गया है कि यदि ऐसा न माना जाय तो वह एक भी पदार्थका पूर्णज्ञाता नहीं बन सकेगा ( २६-३० )। इसके पश्चात् धातिकर्मोंके क्षयसे उत्पन्न आत्माके परमरूपकी श्रद्धा किसको होती है और उसका कथा फल है इसे बतलाते हुए ( ३१-३२ ) आत्माके परमरूपकी अनुभूतिके मार्गका निर्देश किया है और उसमें निरवश श्रुतज्ञानको भी शामिल किया है ( ३३, ३४ )।

आत्माके सम्यक्-चारित्र कथ बनता है, कथ उसके अहिंसादिक ब्रतभंग हो जाते हैं और कथ हिंसादिक पाप उससे पलायन कर जाते हैं, इन सबको दर्शाते हुए ( ३५-३७ ) किस ध्यानसे कर्मच्युति बनती है, पर-द्वयगतयोगीकी कथा स्थिति होती है और निश्चय तथा व्यवहार चारित्रका कथा स्वरूप है यह भव बतलाया है ( ३८-४३ ) और फिर यह निर्देश करते हुए कि आत्मोपासनासे भिन्न दूसरा कोई भी निर्वाण-सुखकी प्राप्तिका उपाय नहीं है आत्माकी अनुभूतिके उपायको और आत्माके शुद्धस्वरूपको दर्शाया है, जो कि कर्म-नोकर्मसे विमुक्त अजर, अमर, निर्विशेष और सर्व प्रकारके बन्धनोंसे रहित है। इसीसे चेतनात्मा जीवके स्वभावसे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्दादिक नहीं होते। ये सब शुद्ध स्फटिक में रक्त पुष्पादिके योगकी तरह शरीरके योगसे कहे जाते हैं ( ४४-५४ ) राग-हेपादिक भी संसारी जीवों के आद्यिक भाव हैं—स्वभाव-भाव नहीं; युगस्थानादि २० प्रलेपणात् और क्षायोपशमिक भावरूप ज्ञानादि भी शुद्ध जीवका कोई लक्षण नहीं हैं ( ५५-५९ ) अन्तमें मुक्तिको प्राप्त करनेवाले जीवका कथा रूप होता है उसे साररूपमें देकर ( ५९ ) प्रथम अधिकारको समाप्त किया गया है।

(२) दूसरे अधिकारमें धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पाँच द्रव्योंके नाम देकर इन्हें 'जगीव' बतलाया है; क्योंकि वे जीवके उपयोग-लक्षणसे रहित हैं ( १ )। ये पाँचों अजीव द्रव्य परस्पर मिलते-जुलते, एक-दूसरेको अपनेमें अवकाश देते हुए कभी भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ते ( २ )। इनमें पुद्गलको छोड़कर शेष सब अमूर्तिक और निष्ठिक हैं। जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्शकी व्यवस्थाको अपनेमें लिये हुए हो उसे 'मूर्तिक' कहते हैं।

सारे पुद्गल द्रव्य इस व्यवस्थाको अपनेमें लिये हुए हैं, इसीलिए 'मूर्तिक' कहलाते हैं (३)। 'जीव'-सहित ये पौचों 'द्रव्य' कहलाते हैं; क्योंकि द्रव्यके 'गुणपर्ययबद्धत्व' इस लक्षणसे युक्त है (४)। इसके बाद द्रव्यका निर्युक्तिरक लक्षण देकर सब द्रव्योंको सात्त्विक बतलाया है और सत्त्वाका रूप 'ध्रौष्णोत्पादलयालीढा' निर्विष्ट किया है (५-६)। सम्पूर्ण पदार्थ-समूह पर्यायकी अपेक्षासे उत्पन्न तथा नष्ट होता है—द्रव्यकी अपेक्षासे न कभी कोई पदार्थ उत्पन्न होता है और न नष्ट (७)। गुणपर्याय विना कोई द्रव्य नहीं और न द्रव्यके विना कोई गुण-पर्याय कही पाये जाते हैं (८)। इसके बाद धर्म-अधर्म और एक जीवके प्रदेशों तथा परमाणुसे आकाश द्रव्य कैसे अवरुद्ध हैं इसे बतलाते हुए परमाणुका लक्षण दिया है (९-१०)। सब द्रव्योंके प्रदेशोंकी संख्या और उनकी अवस्थितिका निर्देश किया है (११-१३) और फिर शरीरधारी जीवोंके प्रदेश कैसे संकोच-विस्तारको प्राप्त होते हैं इसे दर्शाया है, जो कि कर्म-निर्मित है और इसीलिए सिद्धोंके संकोच-विस्तार नहीं होता (१४)। इसके बाद द्रव्योंका एक दूसरेके प्रति उपकार-अपकारका निर्देश करते हुए मुक्त जीवोंको उससे रहित बतलाया है (१५)। परमार्थसे कोई भी पदार्थ किसीका उपकार-अपकार नहीं करता (१६)।

तदनन्तर पुद्गलके स्कन्ध, देश, प्रदेश और अणुके भेदसे चार भेद बतलाकर लोक उनसे कैसे भरा हुआ है, इसे दर्शाया है (१७-२०)। सब द्रव्योंके मूर्ति-अमूर्तके भेदसे दो भेद करके उनका स्वरूप दिया है और फिर कौन पुद्गल किसके साथ कर्मभावको प्राप्त होते हैं, कौन उसमें हेतु पढ़ते हैं, जीव और कर्ममें कौन किसका कैसे कर्ता होता है। उपादानभावसे एक-दूसरेके कर्तृत्वमें आपत्ति, देहादिलपसे कर्मजनित जितने विकार हैं वे सब अचेतन हैं। मिथ्यात्वादि १३ गुणस्थान भी पौद्गलिक तथा अचेतन हैं, देहन्तेतनको एक मानना मोहका परिणाम, जो इन्द्रियगोचर वह सब आत्मबादा, जीव कभी कर्मरूप और कर्म कभी जीवरूप नहीं होता, कर्मविद्यादि-सम्भव सब गुण अचेतन; इन सब बातोंके निर्देशानन्तर अधिकार को समाप्त करते हुए लिखा है कि जो लोग अजीव-तत्त्वको यथार्थरूपसे नहीं जानते वे चारित्रवान् होते हुए भी उस विविक्तात्माको प्राप्त नहीं होते जो कि निर्दोष है (२०)।

(३) तीसरे अधिकारमें यह बतलाते हुए कि मन-व्यवहारकी प्रवृत्तियाँ जब शुभ या अशुभ उपयोगसे बासित होती हैं, तो वे सामान्यतः कर्मास्थकी हेतु बनती हैं (१), मिथ्यादर्शनादिके रूपमें आस्त्रवके विशेष हेतुओंका निर्देश किया है, जिनमें पाँच प्रकारकी बुद्धियोंका निर्देश खासतौरसे ध्यानमें लेने योग्य है (२-१७)। उन्हींका कथन करते हुए निश्चय तथा व्यवहारसे आत्मा तथा कर्मके कर्तृत्व-भोक्तृत्वपर प्रकाश दाला है, एकको उपादानरूपसे दूसरेका कर्ता मानने तथा एकके कर्मफलका दूसरेको भोक्ता माननेपर जो आपत्ति घटित होती है उसे दर्शाया है और कथायस्तोतसे आया हुआ कर्म ही जीवमें ठहरता है इसे बतलाते हुए निष्क्रिय जीवके कर्मास्थकी मान्यता तथा एक द्रव्यका परिणाम दूसरे द्रव्यको प्राप्त होनेकी जान्यताको सदोष ठहराया है। इसके बाद कथाय उपयोगसे और उपयोग कथायसे तथा गूतिक अमूर्तिकसे और अमूर्तिकमूर्तिकसे उत्पन्न नहीं होते (२१) इसे दर्शाते हुए, कथाय परिणाम किसके होते हैं, और अपरिणामी जीव कौन होता है उसे स्पष्ट किया है (२२-२३)। साथ ही यह निर्धारित किया है कि परिणामको छोड़कर जीव तथा कर्मके एक-दूसरेके गुणोंका कर्तृत्व नहीं बनता (२४-२५)।

तदनन्तर निरन्तर जो ग्राही जीवका, कर्मसन्तति-हेतु अचारित्रका, अचारित्री तथा स्वचारित्रसे भ्रष्टका स्वरूप देते हुए, इन्द्रियजन्य सुखको दुःखरूपमें स्पष्ट किया गया है

(२७-३६)। साथ ही कोई वस्तु स्वतः कर्मोंके आख्य-बन्धका कारण नहीं, वस्तुके निमित्तसे उत्पन्न हुए वोष ही बन्धके कारण होते हैं, इसे बतलाते हुए ( ३५ ) अन्तमें उस जीधका स्वरूप दिया है जो शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्तिका अधिकारी होता है ( ४० )।

( ४ ) चौथे अधिकारमें बन्धका लक्षण देकर और उसे जीवकी पराधीनताका कारण बतलाकर ( १ ) उसके प्रकृति, स्थिति आदि चार भेदों और उनके स्वरूपका निर्देश करते हुए, कौन जीव कर्म बाँधता है और कौन नहीं बाँधता उसका सोदाहरण स्पष्टीकरण किया है ( २-८ )। साथ ही अमूर्त आत्माका मरणादि करनेमें यथापि कोई समर्थ नहीं फिर भी भार-णादिके परिणामसे बन्ध होता है, इसे बतलाते हुए ( ६-१० ) मरण-जीवनके प्रश्नपर कितना ही प्रकाश डाला है और तट्टियक आन्तियोंको दूर किया है। इसके बाद रागी, चीतरागी, ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मबन्धके होने न होने आदिका निर्देश करते हुए उनकी स्थितियों-को कुछ प्रदर्शित किया है, ज्ञान और वेदनके स्वरूप-भेदको जतलाया है। ज्ञानी ज्ञानता है अज्ञानी वेवता है और इसलिए एक अबन्धक, दूसरा बन्धक होता है। पर-द्रव्यगत-दोषसे कोई चीतरागी बन्धको प्राप्त नहीं होता। कौन रागादिक परिणाम पुण्य-पाप-बन्धके हेतु हैं और पुण्य-पापकी भेदाभेद दृष्टि, इन सबका निरूपण करते हुए अन्तमें निष्ठृति-पात्र-योगीका स्वरूप दिया है ( ४२ )।

( ५ ) पाँचवें अधिकारमें संवरका लक्षण देकर द्रव्य-भावके भेदसे उसके दो भेदोंका उल्लेख करते हुए उनका स्वरूप दिया है—कपायोंके निरोधको 'भावसंबर', और कपायोंका निरोध होनेपर द्रव्यकर्मोंके आख्य-विश्वेदको 'द्रव्यसंबर', बतलाया है ( १, २ )। कषाय और द्रव्यकर्म दोनोंके लाभाद्वारा पूर्ण शुद्धिरुप। दोनों निर्दिष्ट किया है ( ३ )। कषाय-क्षपणमें समर्थ योगीका स्वरूप देते हुए ( ६, ७ ) उसकी स्थिरताके लिए कुछ उपयोगी उपदेशात्मक प्रेरणाएँ की गयी हैं, जो काफी महसूपूर्ण हैं और जिन्हें संलग्न विषय-सूचीसे भले प्रकार जाना जा सकता है ( ८-४५ )। इसके बाद सामायिकादि पट् कर्मोंमें जो भक्तिसहित प्रशृत होता है उसके संवर बनता है, इसका निर्देश करते हुए छहों आवश्यक कर्मोंका स्वरूप दिया गया है ( ४६-५३ )।

द्रव्यमात्रसे जो निष्ठृत—भोगस्थागी—उसके कर्मोंका संवर नहीं बनता, भावसे जो निष्ठृत वह वास्तविक संवरका अधिकारी होता है, इसीसे भावसे निष्ठृत होनेकी विशेष प्रेरणा की गयी है ( ५७-५८ )। इसके सिवा शरीरात्मक लिंग-वेषको मुक्तिका कारण न बतलाते हुए सभी अचेतन पदार्थ-समूहको मुमुक्षु एवं संवरार्थीके लिए ल्याभ्य ठहराया है—उसमें आसक्ति-का निषेध किया है ( ५९-६० )। और अन्तमें उस योगीका स्वरूप दिया है जो शीघ्र कर्मोंका संवर करता है ( ६१ )।

( ६ ) छठा अधिकार निर्जरा तत्त्वसे सम्बन्ध रखता है, जिसमें निर्जराका लक्षण देकर उसके 'पाकजा', 'अपाकजा' नामके दो भेदोंका उल्लेख करते हुए उनके स्वरूपका निर्देश किया है ( १-३ )। तदनन्तर परम-निर्जराकारक ध्यान-प्रक्रमके अधिकारी साधुका स्वरूप दिया है ( ४-५ ), संवरके विना निर्जराको अकार्यकारी बतलाया है ( ६ ) और किस योगी-का कौन ध्यान कर्मोंको अय करता तथा सारे कर्ममलको धो डालता है, किसका तप कार्य-कारी नहीं, किसका संथम क्षीण होता है, कौन शुद्धिको प्राप्त नहीं होता, कौन साधु अन्वेषके समान है, विषिक्तात्माको छोड़कर अन्योपासककी स्थिति, निर्मल स्वात्मतीर्थको छोड़कर अन्यको भजनेयालोंकी स्थिति, स्वात्म-शानेच्छुकके लिए परीपदोंका सहना आवश्यक, आत्म-शुद्धिका साधन आत्मज्ञान, परद्रव्यसे आत्मा स्फुर्ष तथा शुद्ध नहीं होता, आत्म-द्रव्यको

जाननेके लिए परद्रव्यका जानना आवश्यक, इत्यादि वातोंका निर्देश करते हुए अन्तमें योगी-  
का संस्कृप्त कार्यक्रम और उसका फल दिया है ( ५० ) ।

(७) सातवें अधिकारमें 'मोहा' तत्त्वका निष्पत्ति करते हुए उसका स्वरूप दिया है और उसे 'अपुनर्भव' नामसे निर्दिष्ट किया है (१)। तदनन्तर आत्मामें केवलज्ञानका उद्दय कब होता है, दोषमत्तिल आत्मामें उसका उद्दय नहीं बनता, शुद्धात्माके ध्यान द्विना मोहादि दोषोंका नाश नहीं होता, व्याज-वज्रसे कर्मयन्त्रिका छेद अतीवानन्दोत्पादक हन बातोंको बतलाते हुए (२-६) यह सूचित किया है कि किस केवलीकी कब धर्मदेशना होती है (७-८)। केवली प्रतिबन्धकका अभाव हो जानेपर किसी भी ज्ञेय-धिष्यमें अश नहीं रहता (१-८), केवली किन कर्मोंका कैसे नाश कर निर्वृतिको के कारण आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदृशी है (१३-१४), केवली किन कर्मोंका कैसे नाश कर निर्वृतिको प्राप्त होता है (१५), निर्वृतिको प्राप्त सुखीभूत आत्मा फिर संसारमें नहीं आता (१६), कर्मका अभाव हो जानेसे पुनः शरीरका प्रहण नहीं बनता (१७), ज्ञानको प्रकृतिका धर्म मानना असंगत (२०), ज्ञानाविगुणोंके अभावमें जीवकी कोई व्यवस्थिति नहीं बनती (२१-२२) और द्विना उपाय किये बन्धको जानने मात्रसे कोई मुक्त नहीं होता (२३-२४)।

(८) आठवें अधिकारमें उस चारित्रका निरूपण है जो सुमुक्षके लिए आवश्यक है। सात तस्वीरोंका यथार्थ स्वरूप जान लेनेके अनन्तर जिसके अन्तरात्मामें मोक्षप्राप्तिकी सत्त्वी पद्धतीब्र इच्छा जागृत हो उस विवेक-सम्पन्न सुमुक्षको घर-गृहस्थीका त्याग कर 'जिनलिङ्ग' धारण करना चाहिए (१), यह बात बतलाते हुए जिनलिङ्गका स्वरूप दिया है, उसको किस गुहसे कैसे प्राप्त करके अमण बनना चाहिए (४-५) इसका निर्देश करते हुए श्रमणोंके २८ मूल गुणोंके नाम दिये हैं, जिन्हें योगीको निष्ठमावरूपसे पालन करना चाहिए (६), जो उनके पालनेमें प्रभाव करता है उस योगीको 'छेदोपस्थापक' बतलाया है (८)। साथ ही श्रमणोंके दो भेद 'सूरि', 'निप्राप्तक' का उल्लेख करके उनका स्वरूप दिया है। (९), चारित्रमें छेदोत्पत्ति

होने अथवा दोष लगनेपर उसकी प्रतिक्रिया बतलायी है ( १०-११ ) । निराकृतछेद होनेपर यतिको विद्वारका पात्र ठहराया है ( १२ ), पूर्ण श्रमणताकी प्राप्ति किसको होती है इसे बतलाते हुए भवतारहित, प्रभादचारी, यज्ञाचारी तथा परपीडक ज्ञानी साधुओंकी चर्या एवं प्रवृत्तियोंका कुछ उल्लेख किया है ( १३-१५ ) और इसके बाद भवाभिनन्दी मुनियोंका स्वरूप देकर उनकी कुछ प्रवृत्तियोंका उल्लेखादि किया है ( १८-२० ) ।

अथज्ञाचारी-प्रभादी साधु जीवका घात न होनेपर भी हिंसाका भागी और प्रयत्नचारी-अप्रभादी साधु जीवका घात होनेपर भी रंचमात्र बन्धका भागी नहीं ( २८-३० ), इसे बतलाते हुए दोनोंकी चर्यापर कुछ प्रकाश ढाला गया है ( ३१-३२ ) और परिग्रहसे भुव बन्धके होनेका निर्देश करके एक भी परिग्रहका त्याग किये जिनाचित्तशुद्धिका न होना तथा चित्तशुद्धिके अभावमें कर्मविच्छयितिका न बन सकना, इन दोनोंको दर्शाया है ( ३३-३५ ) । तदनन्तर जो साधु 'सूत्रोक्त' कहकर कुछ व्यञ्ज-पात्रादिका ग्रहण करते हैं उनकी उस चर्याको सदोष ठहराया है ( ३६-४२ ) । साथ ही ज्ञायोंके जिनलिंग-ग्रहणकी योग्यताका अभाव सूचित किया है ( ४३-५० ) और जो पुरुष जिनलिंगको धारण करनेके शोभ्य हैं उनका स्वरूप दिया है तथा उन व्यञ्जों-भञ्जोंका स्वरूप भी दिया है जो जिनलिंगके ग्रहणमें बाधक है ( ५१-५४ ) । इसके बाद श्रमणका रूप उसे 'सम-मानस' बतलाते हुए दिया है ( ५५ ) और श्रमणोंमें 'अनाहार' तथा 'केवलदेह' श्रमणोंका स्वरूप देते हुए ( ५६-५८ ) उनकी भिक्षाचर्याका निर्देश किया है, जिसमें मधु-भासादिको युक्तिपुरस्तर वर्जित ठहराया है ( ५९-६३ ) । दूसरी भी चर्या-विषयक कुछ विशेषताओंका उल्लेख करके ( ६४-६७ ) साधुके आगमब्रानकी विशेषता एवं उपयोगिताको दर्शाया है ( ६८-७८ ) ।

अनुष्टानके समान होनेपर भी परिणामके भेद से फलमें भेद होता है और वह परिणाम राग-देषादिके भेदसे तथा फलका उपभोग करनेवाले मनुष्योंकी बुद्धिके भेदसे बहुधा भेदरूप परिणमता है ( ७९,८० ) ऐसा निर्देश करते हुए बुद्धि, ज्ञान और असम्मोहके भेदसे सारे कर्मोंकी भेदरूप प्रतिपादित किया है; इन्द्रियाश्रित ज्ञानको 'बुद्धि,' आगमपूर्वक ज्ञानको 'ज्ञान' और वही ज्ञान जब सदनुष्टानको प्राप्त होता तो उसे 'असम्मोह' बतलाया है ( ८१-८२ ) । साथ ही बुद्ध्यादिपूर्वक कर्मोंके फलभेदकी विशाको सूचित करते हुए बुद्धि-पूर्वक कार्योंको संसारफलके प्रदाता, ज्ञानपूर्वक कार्योंको मुक्तिहेतुक और असम्मोहपूर्वक कार्योंको निर्वाण-सुखके प्रदाता लिखा है ( ८३-८६ ) । इसके बाद भवातीत-मार्गगमियोंका स्वरूप देकर उनके मार्गको सामान्यकी तरह एक ही प्रतिपादित किया है, शब्दभेदके होनेपर भी निर्वाण-तत्त्वकी एक ही निर्दिष्ट किया है तथा उसे तीव्र विद्वेषणोंसे युक्त बतलाया है और वह घोषित किया है कि असम्मोहसे ज्ञान निर्वाणतत्त्वमें कोई विवाद नहीं होता ( ८७-९३ ) । साथ ही निर्वाण-मार्गकी देशनाके विचित्र होनेका कारण भी निर्दिष्ट किया है । ( ९४ ) ।

अन्तमें इस सब चारित्रको व्यवहारसे मुक्तिका हेतु और निश्चयसे विविक्त चेतनाके ध्यानको मुक्तिहेतुक बतलाते हुए व्यवहारचारित्रके दो भेद किये हैं—एक निर्वृतिके अनुकूल और दूसरा संसृतिके अनुकूल । जो निर्वृतिके अनुकूल है वह जिनभाषित और जो संसृतिके अनुकूल है वह पर-भाषित चारित्र है ( ९५-९७ ) । जिनभाषित व्यवहारचारित्र निर्वृतिके अनुकूल कैसे हैं, इसे बतलाते हुए वह स्पष्ट घोषणा की है कि इस व्यवहारचारित्रके विना निश्चय चारित्र नहीं बनता ( ९८-९९ ), साथ ही इस चारित्रका अनुष्टान योगी कैसे सिद्धि-सदनको प्राप्त होता है उसकी स्पष्ट सूचना भी की है ( १०० ) ।

इस अधिकारमें अन्य अधिकारोंकी अपेक्षा उपमाओं तथा उदाहरणोंका अच्छा प्राचुर्य है, जिससे विषय रोचक तथा सहज बोधग्रन्थ बन गया है। प्रन्थकारकी निर्भीकता और स्पष्टवादिताका भी पद-पद्धति दर्शन होता है।

(९) नवमे अधिकारमें मुक्तात्माकी सदा आलन्दरूप स्थितिका उल्लेख करते हुए यह सहेतुक बतलाया है कि उसके चेतनस्त्रभावका कभी नाश नहीं होता और न वह कभी निरथंक ही होता है (१८)। इसके बाद योगीके योगका लक्षण वेकर (२०) योगसे उत्पन्न सुखकी विशिष्टता, सुख-दुःखका संश्लिष्ट लक्षण और उस लक्षणकी दृष्टिसे पुण्यसे उत्पन्न होतेहाँ भोगोंको भी हुआप निर्दिष्ट किया है (२१-२३)। योगका स्वरूप दिया है (२५), संसारको आत्माका महान् रोग बतलाया है और उस रोगसे ब्रूट जानेपर मुक्तात्माकी जैसी कुछ स्थिति होती है—वह फिर संसारमें नहीं आता और न अङ्गताको ही धारण करता है—उसे दर्शाया है (२५-२६)। साथ ही भोग-विषयपर और उसके भोक्ता जानी तथा मोही जीवकी स्थितिपर अच्छा प्रकाश ढाला है (२०-२१)। भोग संसारसे सद्वा वैराग्य कब बनता है और निर्वाण तत्त्वमें परमा भक्तिके लिए क्या कुछ कर्तव्य है उसे भी दर्शाया है (२७-२८)। और भी बहुत-सी आवश्यक रोचक एवं उपयोगी बातोंका निर्देश किया है, जिन्हें पिछले अधिकारोंमें यथेष्ट स्पष्टसे नहीं बतलाया जा सका और जिन्हें सलग ‘विषय-सूची’ से, जो अच्छे विश्वासरूपमें दी गयी है, भले प्रकार जाना जा सकता है। अन्तमें किनका जन्म और जीवन सफल है उसे बतलावे हुए प्रन्थ तथा प्रन्थकारके अभिप्रेतस्पष्टमें प्रशस्ति दी गयी है, जिसमें प्रस्तुत ग्रन्थ योगसार-शास्त्रके एकाप्रचिन्तासे पढ़नेके फलका भी निर्देश है (८२-८५)।

### प्रन्थका पूर्वानुवाद और उसकी स्थिति

इस प्रन्थपर संस्कृतकी कोई दीका उपलब्ध नहीं है। कुछ प्रतियोंके हाशियोंपर जो धोड़े-से टिप्पण फाये जाते हैं वे किसी-किसी शब्दका अर्थ शोतन करनेके लिए कठिपय पाठको-द्वारा अपने-अपने उपयोगार्थ नोट किये हुए जान पड़ते हैं और किसी एक ही विद्वानकी कृति मालूम नहीं होते, इसीसे उनमें सर्वत्र एकरूपता नहीं है। इन टिप्पणियोंके कितने ही नमूने ग्रन्थकी उन पाद-टिप्पणियोंमें दिये गये हैं जो पाठान्तरोंकी सूचना आदिसे भिन्न हैं।

हीं, प्रन्थपर अर्थ-भावार्थके रूपमें हिन्दीका एक पूर्वानुवाद जरूर उपलब्ध है, जो सुदृत प्रतिके साथ प्रकाशित हुआ है, इस सुदृत प्रतिका परिचय ग्रन्थ-प्रतियोंके परिचयमें सबसे पहले दिया जा चुका है। यह अनुवाद पं० गजाधरलालजी न्यायतीर्थ-कृत है और आजसे ५० वर्ष पहले निर्मित होकर सन् १९१८ में मूल ग्रन्थके साथ प्रकाशित हुआ है। इस अनुवादके प्रस्तुत करनेमें पण्डितजीने कितना ही परिश्रम किया जान पड़ता है, जिसके लिए वे धन्यवादके पात्र हैं। परन्तु भाषा, लेखनशैली और प्रतिपादन-पद्धति आदिकी दृष्टिसे वह ग्रन्थ-गौरवके अनुरूप नहीं बन पड़ा। अर्थकी गलतियाँ भी उसमें कितनी ही रही हुई हैं, जिसमें-से कुछ तो प्रायः मूलपाठकी अशुद्धियोंके कारण हुई जान पड़ती हैं, अनुवादकजीको ग्रन्थकी एक ही प्रति प्राप्त होनेसे मूलका ठीक संशोधन उससे नहीं बन सका और इसलिए अनुवादमें वैसी गलतियोंका होना प्रायः स्वाभाविक रहा। मूलपाठको ऐसी अशुद्धियोंको प्रस्तुत भाष्यमें तुलनात्मक टिप्पणियों-द्वारा ‘मु’ अक्षरके अनन्तर दिये हुए पाठान्तरोंसे जाना जा सकता है, तथा उनसे होनेवाले अर्थ-

भेदको समझा जा सकता है। ऐसे अशुद्ध पाठोंके कुछ नमूने उदाहरणके तौरपर उनके शुद्ध-रूप-सहित नीचे दिये जाते हैं—

अधिकार	पद्म	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१	३४	केवलेनैष बुध्यते	केवलेनैव बुध्यते
२	१२	एकैकाल्यतिरिक्तास्ते	एकैका ल्यवतिष्ठन्ते
३	१८	अचेतनत्वमङ्गत्वात्	अचेतनत्वमङ्गत्वा
४	५०	श्चायते	त्यज्यते
५	१	जीवस्वातंत्र्यकारणं	जीवाऽस्वातंत्र्यकारणं
६	११	मारणादिकमात्मनः	मरणादिकमात्मनः
७	११	ज्ञानी ज्ञेयो भवत्यज्ञो	ज्ञानी ज्ञेये भवत्यज्ञो
८	२२	मुक्तेरासन्नभावेन	मुक्तेरासन्नभवेन
९	४८	श्रवणं	स्रावणं
१०	४	आत्मात्मके न चैतन्यं	ज्ञानात्मकत्वे चैतन्ये
११	८२	शिवमयं	शममयं

दूसरे प्रकारकी गलतियाँ अर्थका ठीक प्रतिभास न होनेसे सम्बन्ध रखती हैं। उनमें कुछ ऐसी हैं जिनमें कठिपय शब्दोंका अर्थ ही छोड़ दिया गया है; जैसे पद्म ७४७ में 'सांप्रते-क्षणात्' पदका और पद्म ८१ में 'निर्यापका:' पदका कोई अर्थ ही नहीं दिया—उन्हें अर्थमें ग्रहण ही नहीं किया। कुछ ऐसी हैं जिनमें शब्दोंका गलत अर्थ प्रस्तुत किया गया है; जैसे पद्म ८०० शा०१० में 'विचिन्त विलङ्घ' शब्दोंका अर्थ 'सर्वथा भिन्न', ८१५ में 'कर्पट' का अर्थ 'वस्त्र' की जगह 'सुवर्ण', ८१८ में 'संज्ञावशीकृतः' का अर्थ 'आहारादि चतुर्विध संज्ञाओंके वशीभूत'के स्थानपर 'अभिमानके वशीभूत', ८४३ में 'तज्ज्योतिः परमात्मनः' का अर्थ 'वह आत्माकी परं ज्योतिः' के स्थानपर 'वह परमात्माका प्रकाश है' और ८४५ में प्रयुक्त 'स्वार्थ-व्यावरिताकाः' पदका अर्थ 'जिसकी आत्मा परमार्थसे विमुख है' ऐसा दिया है, जब कि वह इन्द्रियोंको उनके धिष्योंसे अलग रखनेवाला अथवा रखता हुआ होना चाहिए था। इसके सिवा दो पद्मोंको उनके गलत तथा समुचित अर्थके साथ भी नमूनेके तौरपर यहाँ दिया जाता है, जिससे अर्थका ठीक प्रतिभास न होनेको और भी अच्छी तरहसे समझा जा सकता है। साथ ही अनुवादकी भाषा, लेखन-शैली और प्रतिपादन-पद्धतिको भी कुछ समझा जा सकता है—

आत्मना कुरुते कर्म यद्यात्मा निश्चितं तदा ।

कथं तस्य फलं भुञ्गे स दत्ते कर्म वा कथम् ॥ २-४८ ॥

( गलत अर्थ ) “यदि यह बात निश्चित है कि आत्मा स्वयं कर्मोंका कर्ता है तो वह कर्मोंके फलको क्यों भोगता है ? वा कर्म भी उसे क्यों फल देते हैं ?”

( समुचित अर्थ ) “यदि यह निश्चित रूपसे माना जाय कि आत्मा आत्माके द्वारा—अपने ही उपादानसे—कर्मको करता है तो फिर वह उस कर्मके फलको कैसे भोगता है ? और वह कर्म ( आत्माको ) फल कैसे देता है ?—दोनोंके एक ही होनेपर फलदान और फलभोगकी बात नहीं बन सकती ?”

जायन्ते भौहलोभाद्या दोषां यद्यपि वस्तुतः ।

तथापि दोषतो बन्धो बुद्धिस्य न वस्तुतः ॥३-३९॥

( गलत अर्थ ) “यथपि मोह-लोभ आदि दोषोंकी उत्पत्ति निश्चयसे होती है, तथापि दोषोंसे जो आत्माके साथ कर्मका बन्ध होता है वह निश्चय नयसे नहीं।”

( समुचित अर्थ ) “यथपि वस्तुके—परपदार्थके—निभित्तसे मोह सथा लोभादिक दोष उत्पन्न होते हैं, तथापि कर्मका बन्ध उत्पन्न हुए दोषके कारण होता है, न कि वस्तुके कारण—परपदार्थ बन्धका कारण नहीं, उसे बन्धका कारण माननेसे किसीका भी बन्धसे छूटना नहीं बन सकता।”

इस प्रकार यह पूर्वानुवादकी स्थितिका कुछ दिग्दर्शन है। अनुवादकी ऐसी त्रुटियों आदिको देखते हुए मुझे वह अन्ध-गौरवके अनुरूप नहीं जँचा और इसलिए अन्धके महत्वको ख्यापित करने तथा लोकहितकी दृष्टिसे उसे प्रचारमें लानेके उद्देश्यसे मेरा विचार अन्धका समुचित भाष्य रचनेकी ओर हुआ है। मैं उसमें कहीं तक सफल हो सका हूँ, इसे विज्ञ पाठक स्वर्यं समझ सकते हैं।

## योगसार नामके दूसरे ग्रन्थ

‘योगसार’ नामके कुछ दूसरे अन्य भी उपलब्ध हैं, जिनमें एक परमात्मप्रकाशके कर्ता योगीन्दुदेव कृत है, जिसे अन्धमें ‘जोगिचन्द’ लिखा है। यह अपश्रंश भाषाके १०८ दोहोंमें अध्यात्म-विषयक उपदेशको लिये हुए है और परमात्मप्रकाशके साथ डॉ० ए० एन० उपाध्ये एम०ए०, डी०लिट०, कोल्हापुर-द्वारा सम्पादित होकर श्रीमद्राजचन्द जैन शास्त्रमालामें पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्रीके हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित हो चुका है। दूसरा अन्य ‘योगसार-संग्रह’ नामसे उक्त डॉ० ए० एन० उपाध्येके द्वारा सम्पादित होकर माणिकचन्द दि० जैन मालामें प्रकाशित हुआ है। यह संस्कृतमें श्रीणुहदासकी कृति है, जो कि श्रीनन्दी शुरुके शिष्य थे। ये श्रीनन्दीगुरु श्रीनन्दनन्दिके शिष्य जान पड़ते हैं, जिनके पूर्व विशेषण रूपमें ‘श्रीनन्दनन्दिवत्सः’ पढ़ दिया हुआ है, जो कि ‘श्रीनन्दनन्दिवत्स’-होना चाहिए। इस अन्धकी दृष्टि संख्या १५८ है, जिनमें योग-विषयक कथन है, ध्यानोंका स्वरूप है, मंत्रोंके ध्यानकी विधि और ध्यानको ढूँढ़ करनेवाली द्वादश भाषनाओं आदिका कथन है। तीसरा ‘योगसार’ नामका संस्कृत ग्रन्थ अज्ञात कर्तृक है। इसमें पाँच प्रस्ताव और २०६ पद्म हैं। प्रस्तावोंके नाम हैं—

१. यथावस्थितदेवस्वरूपोपदेशक, २. तत्त्वसारोपदेशक, ३. साम्योपदेशक, ४. सत्त्वोपदेशक, ५. भावशुद्धिजनकोपदेशक। इस तरह यह अध्यात्म-विषयका एक अच्छा औपदेशिक ग्रन्थ है और गुजराती अनुवादके साथ जैन साहित्यविकास मंडल अन्धईसे प्रकाशित हो चुका है।

इन तीनों योगसार नामक ग्रन्थोंमें से एक भी योगसार-प्राभृतके जोड़का नहीं। योगसार-प्राभृतकी पद्म-संख्या भी सबसे अधिक ५४७ है।

## उपसंहार और आभार

प्रस्तावनाको समाप्त करते हुए, सबसे पहले, मैं उन ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारोंका आभार मानता हूँ जिनका भाष्यमें उपयोग हुआ है, अथवा जिनके वाक्योंसे भाष्यको समृद्ध करके अधिक उपयोगी बनाया गया है। दूसरे, पं० दीपचन्द्रजी पांड्या केकड़ी ( अजमेर ) का

आमार प्रकट करता हूँ जिन्होंने दूसरे अधिकारसे लेकर अन्त तक के सब पद्योंको प्रायः एक-एक करके कापियोंके एक-एक पृष्ठपर लिख दिया और इससे मुझे उनका अनुबाद करनेमें बड़ी सुविधा तथा सहायता मिली और वह कोई एक महीनेमें ही ३१ मई १९६४ को सम्पन्न हो गया। इसके बाद व्याख्याका कार्य २१ जून १९६४ को आरम्भ होकर यथावकाश चलता रहा और ३१ जुलाई १९६५ को पूरा हो गया। भाष्यके पूरा हो जानेपर उसकी प्रेस-कापीकी चिन्ता खड़ी हुई, दो-एक विद्वानोंसे पक्ष व्यवहार किया गया, उन्होंने आनेकी स्थीरता भी दी, परन्तु अन्तको कोई भी नहीं आ सका और इससे प्रेस कापीका कार्य बराबर टलता रहा। यह वेष्टकर और मेरी अस्वस्थतादिको मालूम करके चिरंजीव डॉ श्रीचंद्रने अनुरोध किया कि प्रेस कापीका काम मुझे दिया जावे, आदमें आप उसका सुधार कर लेवें। उन्होंने सन् १९६७ में प्रेस कापी की (जो २ सितम्बर १९६७ को प्रेस भेजी गयी) और अच्छी कापी की, जिसमें मुझे सुधारके लिए विशेष परिश्रम नहीं करना। पड़ा, इसलिए वे आभारके पात्र हैं। यद्यपि वे अपने हैं और अपनोंका आभार प्रदर्शित करनेकी जरूरत नहीं होती; फिर भी कूँकि उन्होंने बहुत हिस्मतका काम किया है और मुझे निराकुल चलाया है, इसलिए मैं उनका आभार मानना अपना कर्तव्य समझता हूँ। अन्तमें भारतीय ज्ञानपीठ और उसके मंत्री श्री लक्ष्मीनवनजीका आभार प्रकट किये बिना भी मैं नहीं रह सकता, जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थको अपने यहाँसे प्रकाशित करनेकी स्थीकारता देकर और प्रकाशित करके मुझे अनुग्रहीत किया है।

जुगलकिशोर मुख्तार  
‘युगधीर’

एटा, आषाढ़ कृ० ५ सं २०२५  
ता० १५ जून १९६८

## विषय-सूची

### १. जीवाधिकार

भाष्यका मंगलाचरण  
मूलका मंगलाचरण और उद्देश्य  
स्वरूप-ज्ञानसासे जीवाजीव-लक्षणको  
जाननेकी सहेतुक प्रेरणा  
जीवाजीव-स्वरूपको वस्तुतः जाननेका  
फल  
स्वरूपको परद्रव्य-बहिर्भूत जाननेका  
परिमाण  
जीवक। लक्षण उपयोग और इसके दर्शन-  
ज्ञान दो भेद  
दर्शनके चार भेद और उसका लक्षण  
ज्ञानका लक्षण और उसके आठ भेद  
केवलज्ञान-दर्शनादि के उद्यम से कारण  
केवलज्ञान-दर्शनकी युगपत् और शेषकी  
क्रमशः उत्पत्ति  
मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञानके कारणोंका निर्देश  
मिथ्यात्मका स्वरूप और उसकी लीलाहा  
निर्देश  
दर्शनमोहके उद्यजन्य-मिथ्यात्मके  
तीन भेद  
मिथ्यात्म-भावित-जीवकी मान्यता  
सम्यक्त्वका स्वरूप और उसकी क्षमता  
सम्यक्त्वके आविकादि भेद और उनमें  
साध्य-साधनता  
आत्मा और ज्ञानका प्रमाण तथा ज्ञानका  
सर्वगतत्व  
आत्मासे ज्ञान-ज्ञेयको अधिक माननेपर  
दोषापत्ति  
ज्ञेय-क्षिति-ज्ञानकी व्यापकताका स्पष्टीकरण  
ज्ञेयको ज्ञानता हुआ ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं  
होता  
ज्ञानस्वभाव से दूरबर्ती पदार्थोंको भी  
जानता है।

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
२	ज्ञान स्वभावसे स्व-परको जाजता है	१८
३	आधिक-क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी स्थिति	१९
४	केवलज्ञानकी त्रिकालगोचर सभी सत्-	
५	असत्-पदार्थोंको युगपत् जाननेमें प्रवृत्ति	२६
६	सत् और असत् पदार्थ कौन ?	२६
७	भूत-भावी पदार्थोंको जाननेका रूप	२०
८	ज्ञानके सब पदार्थोंमें युगपत् प्रवृत्त न होनेसे दोषापत्ति	२०
९	आत्माके ज्ञातिकर्म-क्षयोत्पन्न-परमरूपकी श्रद्धाका पात्र	२१
१०	आत्माके परमरूप श्रद्धानीको अव्ययपद- की प्राप्ति	२२
११	आत्माके परमरूपकी अनुभूतिका मार्ग	२२
१२	श्रुतके द्वारा भी केवल-सम आत्मवोधकी प्राप्ति	२३
१३	आत्माके सम्यक् चारित्र कव्र होता है	२४
१४	ज्ञानके कपाय-वश होनेपर अहिंसादि कोई व्रत नहीं ठहरता	२५
१५	ज्ञानके आत्मरूप-रत्त होनेपर हिंसादिक पापोंका पलायन	२५
१६	आत्माके निर्मलज्ञानाद्विरूपध्यानसे कर्म- च्युति	२६
१७	पर-उद्यव्य-रत्त-योगीकी स्थिति	२६
१८	निश्चय-चारित्रका स्वरूप	२६
१९	व्यवहार-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का रूप	२७
२०	स्वभाव-परिणत आत्मा ही वस्तुतः मुक्ति- मार्ग	२७
२१	निश्चयसे आत्मा दर्शनज्ञान-चारित्ररूप	२८
२२	आत्मोपासनासे भिन्न शिष्य-सुख-प्राप्तिका कोई उपाय नहीं	२८
२३	आत्मस्वरूपकी अनुभूतिका उपाय	२९

विवरणित-केवलज्ञानसे भिन्न आत्माका कोई परमरूप नहीं	२९	कालागुओंकी संदृश्या और अवस्थिति	४४
परबरस्तुमें अणुमात्र भी राग रखनेका परिणाम	३०	धर्म-अधर्म तथा पुद्गलोंकी अवस्थिति	४४
परमेष्ठिरूपकी उपासना परम पुण्यवन्ध- की हेतु	३१	संसारी जीवोंकी लोकस्थिति और उनमें संकोच-विस्तार	४५
कर्मासावको रोकनेका अनन्य उपाय	३२	जीव-पुद्गलोंका अन्यद्रव्यकृत उपकार	४६
परद्रव्योपासक मुमुक्षुओंकी स्थिति	३३	संसारी और मुक्त जीवका उपकार	४६
परद्रव्य-विचिन्तक और विविरकात्म- विचिन्तककी स्थिति	३४	संसारी जीवोंका पुद्गलकृत उपकार	४७
विविक्तात्माका स्वरूप	३५	परमार्थसे कोई पदार्थ किसीका कुछ नहीं करता	४७
आत्माके स्वभावसे वर्णनाधारिका अभाव	३६	पुद्गलके चार भेद और उनकी स्वरूप- व्यवस्था	४८
शरीर-योगसे वर्णादिकी स्थितिका स्पष्टी- करण	३७	किस प्रकारके पुद्गलोंसे लोक कैसे भरा हुआ है	४९
रागादिक औद्यिक भावोंको आत्माके स्वभाव भावनेपर आपत्ति	३८	द्रव्यके मूर्तीमूर्त दो भेद और उनके लक्षण	५०
जीवके गुणस्थानादि २० प्रस्तुपणाओंकी स्थिति	३९	कौन पुद्गल किसके साथ कर्मभावको प्राप्त होते हैं	५०
क्षायोपशमिक-भाव भी शुद्धजीवके रूप नहीं	४०	योग-द्वारा समायात-पुद्गलोंके कर्मरूप- परिणाममें हेतु	५१
कीन योगी कव किसका कैसे चिन्तन करता हुआ मुक्तिको प्राप्त होता है	४१	आठ कर्मोंके नाम	५१
<b>२. अजीवाधिकार</b>		जीव कलमषोदय-जनित भावका कर्ता न कि कर्मका	५१
अजीव-द्रव्योंके नाम	४२	कर्मोंकी विविधरूपसे उत्पत्ति कैसे होती है	५२
पाँचों अजीव-द्रव्योंकी सदा स्व-स्वभाव- में स्थिति	४३	जीव कर्मी कर्मरूप और कर्म जीवरूप नहीं होते	५३
अजीवोंमें कीन अमूर्तिक, कीन मूर्तिक और मूर्ति-लक्षण	४४	जीवके उपादान-भावसे कर्मकि करने पर आपत्ति	५३
जीव-सहित पाँचों अजीवोंकी द्रव्यसंज्ञा द्रव्यका व्युत्पत्तिप्रक लक्षण और सत्ता- मय स्वरूप	४५	कर्मके उपादान-भावसे जीवके करनेपर आपत्ति	५४
सर्व-पदार्थगत-सत्ताका स्वरूप	४६	उक्त दोनों मान्यताओंपर अनिवार्य- दोषापत्ति	५४
द्रव्यका उत्पाद-व्यय पर्यायको अपेक्षासे	४७	पुद्गलोंके कर्मरूप और जीवोंके सराग- रूप परिणामके हेतु	५५
गुण-पर्यायके बिना द्रव्य और द्रव्यके बिना गुण-पर्याय नहीं	४८	कर्मकृत-भावका कर्तृत्व और जीवका अकर्तृत्व	५५
धर्माधर्मादि द्रव्योंकी प्रदेश-व्यवस्था	४९	कर्मसे भाव और भावसे कर्म इस प्रकार एक दूसरेका कर्तृत्व	५६
परमाणुका लक्षण	५०	क्रोधादिकृत-कर्मको जीवकृत कैसे कहा जाता है	५६
आकाश और पुद्गलोंकी प्रदेश-संलया	५१		

कर्मजनित देहादिक सब विकार चेतन्य- रहित हैं	५३	एकके किये हुए कर्मके फलको दूसरेके भोगनेपर आपत्ति	६९
त्रयोदश गुणस्थान और उनकी पौद्वा- लिकता	५७	कर्म कैसे जीवका आच्छादक होता है	७०
उनका गुणस्थानोंको कौन जान सकते हैं और कौन नहीं	५८	कषाय-स्रोतसे आया हुआ कर्म जीवमें उत्तरता है	७०
प्रमत्तादि-गुणस्थानोंकी बन्दनासे चेतन मुनि बन्दित नहीं	५८	निष्ठाधाय-जीवके कर्मास्त्रव माननेपर दोषापत्ति	७०
बन्दनाकी उपयोगिता	५९	एक द्रव्यका परिणाम दूसरेको प्राप्त होने- पर दोषापत्ति	७१
अचेतन-देहके स्तुत होनेपर चेतनात्मा स्तुत नहीं होता	६०	पाँचवीं बुद्धि जिससे कर्मास्त्रव नहीं रुकता ७१ स्वदेह-परदेहके अचेतनत्वको न जाननेका फल	
विभिन्नताका एक सिद्धान्त और उससे चेतनकी देहसे भिन्नता	६०	परमें आत्मीयत्व-बुद्धिका कारण	७२
जो कुछ इन्द्रियगोचर वह सब आत्मवाद्य	६१	कौन किससे उत्तम नहीं होता	७२
इन्द्रियगोचर-स्वरूपका स्वरूप	६१	कषाय-परिणाम किसके होते हैं और अपरि- णामीका स्वरूप	७३
राग-द्वेषादि-विकार सब कर्मजनित	६२	परिणामको छोड़कर जीव-कर्मके एक दूसरेके गुणोंका कर्तृत्व नहीं	७३
जीव कभी कर्मरूप और कर्म कभी जीव- रूप नहीं होता	६२	पुढ़गलापेशिक जीवभावोंकी उत्पत्ति और अवधिक भावोंकी स्थिति	७४
आत्माको द्रव्यकर्मका कर्ता माननेपर दोषापत्ति	६३	निरन्तर रजोग्राही कौन ?	७४
कर्मादियादि-संभव-गुण सब अचेतन	६३	कौन स्वपर-विवेकको प्राप्त नहीं होता	७५
अजीव-तत्त्वको यथार्थ जाने दिना सब- स्वभावोपलिङ्ग नहीं घनती	६४	कर्म-संतति-हेतु अचारित्रका स्वरूप	७५
<b>३. आस्थाधिकार</b>		राग-द्वेषसे गुमाझुभ-भावका कर्ता अचारित्री	७५
आस्थके सामान्य हेतु	६५	स्व-चारित्रसे भ्रष्ट कौन ?	७६
आस्थके विशेष हेतु	६६	स्थचारित्रसे भ्रष्ट चतुर्गतिके दुःख सहते हैं	७६
मोहको बहानेवाली बुद्धि	६६	देवेन्द्रोंका विषय-सुख भी दुःख है	७६
उक्त बुद्धिसे महाकर्मास्त्रव	६७	इन्द्रियजन्य सुख दुःख क्यों है ?	७७
एक दूसरी बुद्धि जिससे मिथ्यात्म नहीं छूट पाता	६७	सांसारिक सुखको दुःख न माननेवाला अचारित्री	७७
कर्मास्त्रवकी हेतुभूत एक तीसरी बुद्धि	६७	पुण्य-गापका भेद नहीं जाननेवाला चारित्र- भ्रष्ट	७७
चौथी बुद्धि जिससे कर्मास्त्र नहीं रुकता	६८	कौन सचारित्रका पालन करता हुआ भी कर्मोंसे नहीं छूटता	७८
निश्चय और व्यवहारसे आत्माका कर्तृत्व	६८	बन्धका कारण बस्तु या वस्तुसे उत्पन्न दोष	७८
जीव-परिणामाश्रित कर्मास्त्र, कर्माद्या- श्रित जीव-परिणाम	६८	शुद्ध-स्वात्माकी उपलब्धि किसे होती है	७९
किसका किसके साथ कार्य-कारणभाव	६९		
कर्मको जीवका कर्ता माननेपर आपत्ति	६९		

## ४. वन्धाधिकार

वन्धका लक्षण

प्रकृति-स्थित्यादि के भेदसे कर्मवन्धके चार भेद

चारों बन्धोंका सामान्य रूप

कीन जीव कर्म वैधता है और कीन नहीं वैधता

पूर्वकथनका उदाहरणों-द्वारा स्पष्टीकरण  
अमूर्त आत्माका मरणादि करनेमें कोई समर्थ नहीं, किर भी मरणादि के परिणामसे वन्ध

मरणादि क सब कर्म-निर्भित, अन्य कोई करने-हरनेमें समर्थ नहीं

जिलाने-मारने आदिकी सब बुद्धि मोह-  
कलिपत

कोई किसीके उपकार-अपकारका कर्ता नहीं, कर्तृत्वबुद्धि मिथ्या

चारित्रादि को मलिनताका हेतु भिन्नत्व  
मलिन चारित्रादि दोषके माहक हैंअप्रापुक द्रव्यको भोगता हुआ भी वीत-  
रागी अवन्धकन भोगता हुआ भी सरागी पाप-वन्धक  
विषयोंका संग होनेपर भी ज्ञानी उनसे लिप नहीं होता

नीरागी योगी परकृतादि अहारादि से बन्धको प्राप्त नहीं होता

परद्रव्यगत-दोषसे नीरागीके वैधनेवर दोषापत्ति

वीतराग-योगी विषयको जानता हुआ भी नहीं वैधता

ज्ञानी जानता है वेदता नहीं, अज्ञानी वेदता है जानता नहीं

ज्ञान और वेदनमें स्वरूप-भेद  
अज्ञानमें ज्ञान और ज्ञानमें-अज्ञान- पर्याय नहीं है

ज्ञानी कलभपोंका अवन्धक और अज्ञानी अवन्धक होता है

कर्मफलको भोगनेवाले ज्ञानी-अज्ञानीमें अन्तर

	कर्म-ब्रह्मणका तथा सुराति-दुर्गतिनामन- का हेतु	१०
८०	संसार-परिभ्रमणका हेतु और निर्वृत्तिका उपाय	११
८०	रागादिसे युक्त जीवका परिणाम कीन परिणाम पुण्य, कीन पाप, दोनोंकी स्थिति	११
८१	पुण्य-पाप-फलको भोगते हुए जीवकी स्थिति	१२
८१	पुण्य-पापके बश अमूर्त भी मूर्त हो जाता है	१२
८२	उदाहरण-द्वारा स्पष्टीकरण	१३
८३	पुण्य-बन्धके कारण	१३
८३	पाप-बन्धके कारण	१४
८४	पुण्य-पापमें भेद-नहिं	१४
८४	पुण्य-पापमें अभेद-नहिं	१४
८५	निर्वृत्तिका पात्र योगी	१५
	५. संवराधिकार	.
	संवरका लक्षण और उसके भेद	१६
	भाव तथा द्रव्य-संवरका स्वरूप	१६
	कपाय और द्रव्यकर्म दोनोंके अभावसे पूर्णशुद्धि	१६
८६	कपाय-न्यायकी उपयोगिताका सहेतुक निर्देश	१७
८६	कपाय-श्रापणमें समर्थ योगी	१७
८७	मूर्त-पूद्गलोंमें राग-द्वेष करनेवाले मूर्त- बुद्धि	१८
८७	किसीमें रोप-तोप न करनेकी सहेतुक प्रेरणा	१८
८८	अपकार-उपकार बननेपर किसमें राग-द्वेष किया जावे ?	१९
८८	शरीरका निश्चानुप्राह करनेवालोंमें राग- द्वेष कैसा ?	१९
८८	अहश्य-आत्माओंका निश्चानुप्राह कैसे ?	१९
८९	शरीरको आत्माका निश्चानुप्राहक मानना व्यर्थ	२००
८९	किसीके गुणोंके करने-हरनेमें कोई समर्थ नहीं	२००

ज्ञानादिक-गुणोंका किसके द्वारा हरण-		शुद्धहाता परके त्याग-प्रहणमें प्रवृत्त नहीं	
सूजन नहीं	१००	होता	१०९
शरीरादिक व्यवहारसे मेरे हैं, निश्चयसे		सामायिकादि घटकमोंमें सभक्षि-प्रवृत्त-	
नहीं	१०१	के संबंध	१०९
दोनों नयोंसे स्व-परको जाननेका फल	१०१	सामायिकका स्वरूप	१०९
द्रव्य-पर्यायकी अपेक्षा कर्म-फल-भोगकी		स्वावका स्वरूप	११०
व्यवस्था	१०२	बन्दनाका स्वरूप	११०
आत्मा औद्यिक भावेंके द्वारा कर्मका		प्रतिकमणका स्वरूप	१११
कर्ता तथा फलभोक्ता	१०३	प्रत्याख्यानका स्वरूप	१११
इन्द्रिय-विषय आत्माका कुछ नहीं करते	१०३	कायोत्सर्गका स्वरूप	१११
द्रव्यके गुण-पर्याय संकल्प-विना इष्टा-		सम्यग्ज्ञानपरायण आत्मह-योगी कर्मोंका	
निष्ठ नहीं होते	१०४	निरोधक	११२
निन्दा-सुन्ति-बचनोंसे रोप-तोषको प्राप्त		कोई द्रव्यसे भोजक तो भावसे अभोजक,	
होना व्यर्थ	१०४	दूसरा इसके विपरीत	११२
मोहके दोषसे बाह्यवस्तु सुख-दुःखकी		द्रव्य-भावसे निष्टृतोंमें कौन किसके द्वारा	
दाता	१०४	पूज्य	११३
बचन-द्वारा वस्तुतः कोई निन्दित या स्तुत		भावसे निष्टृत ही वास्तविक-संबंधका	
नहीं होता	१०४	अधिकारी	११३
परदोष-गुणोंके कारण हर्ष-विषाद नहीं		भावसे निष्टृत होनेकी विशेष प्रेरणा	११३
बनता	१०५	शरीरात्मक लिंग सुक्किका कारण नहीं	११४
परके चिन्तनसे इष्ट-अनिष्ट नहीं होता	१०५	मुमुक्षुके लिए त्याज्य और माला	११४
एक दूसरेके विकल्पसे शुद्धिहाति मानने		कौन योगी शीघ्र कर्मोंका संबंध करता है	११५
पर आपत्ति	१०५		
वस्तुतः कोई द्रव्य इष्ट-अनिष्ट नहीं	१०६	<b>६. निर्जराधिकार</b>	
पावन रक्तशयमें जीवका स्वयं प्रवर्तन	१०६	निर्जराका लक्षण और दो भेद	११६
स्वयं आत्मा परद्रव्यको अद्वानादिगोचर		पाकजा-अपाकजा निर्जराका स्वरूप	११६
करता है	१०६	अपाकजा निर्जराकी शक्तिका सोदाहरण-	
मोह अपने संगसे जीवको मलिन करता		निर्देश	११६
है	१०७	परमनिर्जराकारक ध्यान-प्रक्रमका	
मोहका विलय हो जाने पर स्वरूपकी		अधिकारी	११७
उपलक्ष्य	१०७	कौन योगी कर्मसमूहकी निर्जराका कर्ता	११७
जो मोहका त्यागी यह अन्य सब द्रव्यों-		संबंधके बिना निर्जरा वास्तविक नहीं	११७
का त्यागी	१०७	किसका कौन ध्यान कर्मोंका ध्याय	
परद्रव्यमें राग-द्वेष-विधाताकी तपसे		करता है	११८
शुद्धि नहीं होती	१०८	कौन योगी सारे कर्मसलको धोड़ालता है	११८
कर्म करता और फल भोगता हुआ आत्मा		विशुद्धभावका धारी कर्मशयका	
कर्म बर्धता है	१०८	अधिकारी	११६
सारे कर्मफलको पौदगलिक जाननेयाला		शुद्धात्मतत्त्वको न जाननेवालेका तप	
शुद्धात्मा बनता है	१०८	कार्यकारी नहीं	११९

किस संयमसे किसके द्वारा कर्मकी निर्जरा होती है	११९	ज्ञानकी आराधना ज्ञानको, अज्ञानकी अज्ञानको देती है	१२४
कौन योगी कर्मदण्डको स्वर्य धुन डालता है १२०		ज्ञानके ज्ञात होनेपर ज्ञानी जाना जाता है १२८	
लोकाचारको अपनानेवालं योगीका संयम क्षीण होता है	१२०	ज्ञानानुभवसे हीनके अर्थज्ञान नहीं बनता	१२९
अर्द्धदुच्चनकी श्रद्धा न करनेवाला सुचारित्री भी शुद्धिको नहीं पाता	१२०	जिस परोक्षज्ञानसे विषयकी प्रतीति उससे ज्ञानीकी प्रतीति क्यों नहीं ?	१३०
जिनागमका न जानता हुआ संयमी अन्वेषके समाल	१२१	जिससे पदार्थ जाना जाय उससे ज्ञानी न जाना जाय, यह कैसे ?	१३१
किसका कौन नेत्र	१२२	वेदको जानना वेदको न जानना आश्रयकारी	१३२
आगम प्रदर्शित सारा अनुष्ठान किसके निर्जराका हेतु	१२२	ज्ञेयके लक्ष्यसे आत्माके शुद्धरूपको जानकर ध्यानेका फल	१३०
अज्ञानी-ज्ञानीके विषय-सेवनका फल	१२२	पूर्वकथनका उदाहरण-द्वारा स्पष्टीकरण	१३१
कर्मफलको भोगते हुए किसके बल्ध और किसके निर्जरा	१२२	आत्मोपलब्धिपर ज्ञानियोंकी सुखस्थिति	१३१
निर्जिकचन-योगी भी निर्जराका अधिकारी	१२३	आत्मतस्वरतोंके द्वारा परद्रव्यका त्याग	१३१
विविक्तात्माको छोड़कर अन्योपासककी स्थिति	१२३	विशेषधित ज्ञान तथा अज्ञानकी स्थिति	१३१
स्वदेहस्थ-परमात्माको छोड़कर अन्यत्र देवोपासककी स्थिति	१२३	निर्मल-चेतनमें मोहके दिखाई देनेका हेतु	१३२
कौन कर्म-रज्जुओंसे बँधता और कौन छूटता है	१२४	शुद्धिके लिए ज्ञानाराधनमें शुद्धिको लगानेकी प्रेरणा	१३२
प्रमादी सर्वत्र पापोंसे बँधता और अप्रमादी द्वूटता है	१२४	निर्मलताको प्राप्त ज्ञानी अज्ञानको नहीं अपनाता	१३२
स्वनिर्मल तीर्थको छोड़कर अन्यको भजनेवालोंकी स्थिति	१२४	विद्वानके अध्ययनादि कार्योंकी दिशाका निर्देश	१३३
स्वात्मज्ञानेच्छुको परीपरोंका सहना आवश्यक	१२५	योगीका संक्षिप्त कार्यक्रम और उसका फल	१३३
सुख-दुःखमें अनुबन्धका फल	१२५		
आत्मशुद्धिका साधन आत्मज्ञान, अन्य नहीं	१२६		
परद्रव्यसे आत्मा स्वृष्ट तथा शुद्ध नहीं होता	१२६		
स्वात्मरूपकी भावनाका फल परद्रव्यका त्याग	१२६		
आत्मद्रव्यको जाननेके लिए परद्रव्यका जानना आवश्यक	१२७		
जगत्के स्वभावकी भावनाका लक्ष्य	१२७		
एक आश्रयकी बात	१२७		

#### ७. मोक्षाधिकार

मोक्षका स्वरूप	१३५
आत्मामें केशलज्जानका उदय कथ होता है	
दोषोंसे मलिन आत्मामें केशलज्जान उद्दित नहीं होता	१३६
मोहादि-दोषोंका नाश शुद्धात्मध्यानके बिना नहीं होता	१३६
ध्यान-वज्रसे कर्मग्रन्थिका छेद अतीवानन्दोत्पादक	१३६

किस केवलीकी कथा धर्मदेशना होती है १३७	उक्त ध्यानकी बात सामग्री १५९
ज्ञान किस प्रकार आत्माका स्वभाव है १३८	बुद्धिके ब्रेधा संशोधकको ध्यानकी प्राप्ति १५०
आत्माका चैतन्यरूप क्यों स्वकार्यमें प्रवृत्त नहीं होता १३९	विद्वत्ताका परम फल आत्मध्यानरति १५१
प्रतिबन्धकर्क विना ज्ञानी ज्ञेय-विषयमें अज्ञ नहीं रहता १३८	मूढ़चेतों और अव्यात्मरहित पंडितोंका संसार क्या ? १५१
ज्ञानकि देशाविका विप्रकर्ष कोई प्रति- बन्ध नहीं १३९	ज्ञानवीजादिको पाकर भी कौन सद- ध्यानकी खेती नहीं करते १५१
ज्ञानस्वभावके कारण आत्मा सर्वज्ञ- सर्वदर्शी १४०	भोगासाक्षिमें ध्यान-त्यागी विद्वानोंके मोहको धिकार १५२
केवली हैंए किन कर्मोंको कैसे नष्ट कर निषुच्छ होता है १४०	मोही जीवों-विद्वानों आदिकी स्थिति १५३
शुक्लध्यानसे कर्म नहीं छिपता, ऐसा वचन अनुचित १४१	ध्यानके लिए तत्त्वश्रुतिको उपयोगिता १५३
सुखोभूत निषुच्छजीव फिर संसारमें नहीं आता १४१	भोगबुद्धि त्याज्य और तत्त्वश्रुति प्राप्ति १५३
कर्मका अभाव हो जानेसे पुनः शरीरका शहृण नहीं बनता १४२	ध्यानका शश्रु कुतक त्याज्य १५४
ज्ञानको प्रकृतिका धर्म मानना असंगत १४२	मोक्षतत्त्वका सार १५४
ज्ञानादिगुणोंके अभावमें जीवकी व्यव- स्थिति नहीं बनती १४३	<b>८. चारित्राधिकार</b>
विना उपायके बन्धको जातने-मात्रसे कोई सुक्ष नहीं होता १४३	मुमुक्षुको जिनलिङ्ग-धारण करना योग्य १५५
जीवके शुद्धागुद्धकी अपेक्षा दो भेद १४४	जिनलिङ्गका स्वरूप १५५
शुद्ध-जीविको अपुनर्भव करनेका हेतु १४५	जिनदीक्षा देनेके योग्य गुरु और श्रमणत्वकी प्राप्ति १५६
मुक्तिमें आत्मा किस रूपसे रहता है १४५	श्रमणके कुछ मूलगुण १५६
ध्यानका सुख फल और उसमें यतनकी प्रेरणा १४६	मूलगुणोंके पालनमें प्रमादी मुनि छेदोप- स्थापक १५८
ध्यान-मर्मज्ञ योगियोंका हितरूप वचन १४६	श्रमणोंके दो भेद सूरि और निर्यापिक १५८
परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय १४७	चारित्रमें छेदोत्पत्तिरर उसकी प्रतिक्रिया १५९
आत्मा ध्यानविधिसे कर्मोंका उन्मूलक कैसे ? १४७	विद्वारका पात्र श्रमण १५९
विविक्तात्माका ध्यान अचिन्त्यादि फलका दाता १४७	किस योगीके श्रमणताकी पूर्णता होती है १६०
उक्त ध्यानसे कामदेवका सहज हनन १४८	निर्ममत्व-प्राप्ति योगी किनमें राग नहीं रखता १६०
चाद-प्रवादको छोड़कर अध्यात्म-चिन्तन- की प्रेरणा १४८	अशनादिमें प्रमादचारी साधुके निरन्तर हिस्सा १६१
विद्वानोंको सिद्धिके लिए सदुपाय कर्तव्य १४८	यत्नाचारीकी क्रियाएँ गुणकारी, प्रमादी- की दोषकारी १६१
अध्यात्म-ध्यानसे भिन्न सदुपाय नहीं १४९	पर-वीड़क साधुमें ज्ञानके होते हुए भी चारित्र मलिन १६१

धर्मार्थ लोक-पंक्ति और लोक-पंक्तिके		जिनलिङ्ग-प्रहणमें बाधक व्यङ्ग	१७८
लिप धर्म	१६३	व्यङ्गका वास्तविक रूप	१७८
मुक्ति-मार्गपर तत्पर होते हुए भी सभीको		व्यावहारिक व्यंग सल्लेखनाके समय	
मुक्ति नहीं	१६४	अव्यंग नहीं होता	१७६
भवाभिनन्दियोंका मुक्तिके प्रति विद्वेष	१६५	कौन अमण अनाहार कहे जाते हैं	१७६
जिनके मुग्धिये अति विद्वेष भरी वे धन्य १६६		किवलदेह-जातुका स्वरूप	१८०
मुक्तिमार्गको मलिनचिन्न मलिन करते		केवलदेह-साधुकी भिक्षाचर्याका रूप	१८०
हैं	१६७	वर्जित मास दोष	१८१
मुक्तिमार्गके आराधन तथा विराधनका		मधु-दोष तथा अन्य अनेशनीय पदार्थ	१८१
फल	१६७	इस्तगतपिण्ड दूसरेको देकर भोजन	
मार्गकी मलिनतासे होनेवाले अनर्थका		करनेवाला यति दोषका भागी	१८३
सूचन	१६७	बाल-वृद्धादि यतियोंकी चारित्राचरणमें	
हिंसा-पापका बन्ध किसको और किस-		दिशाबोध	१८४
को नहीं	१६८	स्वरूपलेदी यति कब होता है	१८४
पूर्व कथनका स्पष्टीकरण	१६८	तपस्वीको किस प्रकारके काम नहीं करने १८४	
अन्तरंग-परिप्रहको न छोड़कर घातको		आगमकी उपयोगिता और उसमें सादर	
छोड़नेवाला प्रमादी	१६९	प्रवृत्तिकी प्रेरणा	१८५
अन्तःशुद्धिके बिना शाहशुद्धि अविश्व-		समान अनुष्ठानके होनेपर भी परिणा-	
सनीय	१७०	मादिसे फल-भेद	१८८
प्रमादी तथा निष्प्रमादी योगीकी स्थिति	१७०	शुद्धि, ज्ञान और असम्मोहके भेदसे सारे	
जीवधात होनेपर बन्ध हो न भी हो,		कर्म भेदरूप	१८६
परिप्रहसे उसका होना निश्चित	१७१	शुद्धि, ज्ञान और असम्मोहका स्वरूप	१८६
एक भी परिप्रहके न त्यागनेका परिणाम	१७१	बुद्धादिपूर्वक कायोंके फलभेदकी	
चेलखण्डका धारक साधु निरालम्ब-निरा-		दिशा-सूचना	१८९
रम्भ नहीं हो पाता	१७२	शुद्धिपूर्वक सब कार्य संसारफलके बाता	१९०
वस्त्र-पात्र-प्राही योगीके ग्राणधात और		ज्ञानपूर्वक कार्य मुक्तिहेतुक	१९०
चित्तविक्षेप अनिवार्य	१७२	असम्मोह-पूर्वक कार्य निर्वाणमुखके	
विक्षेपकी अनिवार्यता और सिद्धिका		प्रदाता	१९०
अभाव	१७२	भवातीतमार्ग-गामियोंका स्वरूप	१९१
जिसका प्रहण-त्याग करते कोई दोष न		भवातीतमार्ग-गामियोंका मार्ग सामान्य-	
लगे उसमें प्रवृत्तिकी व्यवस्था	१७३	की तरह एक ही	१९१
कौन पदार्थ प्रहण नहीं करना चाहिए	१७४	शब्दभेदके होनेपर भी निर्वाणतत्त्व एक	
कायसे भी निस्तृद सुमुक्ष कुछ नहीं प्रहण		ही है	१९१
करते	१७४	विमुक्तादि शब्द अन्वर्थक	१९२
स्त्रियोंका जिनलिङ्ग-प्रहण सब्बपेश क्यों?	१७४	निर्वाण-तत्त्व तीन विशेषणोंसे युक्त	१९३
पूर्वप्रश्नका उत्तर : जी पर्यायसे मुक्ति न		असम्मोहसे ज्ञात-निर्वाण-तत्त्वमें कोई	
होना आदि	१७५	विवाद तथा भेद नहीं होता	१९३
कौन पुरुष जिनलिङ्ग-प्रहणके योग्य	१७३	निर्वाण सार्गकी देशनाके विचित्र होने-	
		का कारण	१९३

उक्त चारित्र व्यवहार से मुक्ति होतु, निश्चय-	
से विविक्त चेतनका ध्यान	१०५
व्यावहारिक चारित्र के दो भेद	१०६
कौन चारित्र मुक्ति के अनुकूल और कौन	
संमृति के	१०७
जिनभावित-चारित्र के से मुक्ति के	
अनुकूल हैं	१०८
उक्त व्यवहार-चारित्र के बिना निश्चय-	
चारित्र नहीं बनता	१०९
उक्त चारित्र के अनुष्ठान योगी की स्थिति	११०

## ६. चूलिकाधिकार

मुक्तात्मा दर्शन-ज्ञान-स्वभाव को लिये	
सदा आनन्दरूप रहता है	११०
मुक्तात्माका चेतन्य निरर्थक नहीं	११०
चेतन्यको आत्माका निरर्थक स्वभाव	
मानने पर दोषापत्ति	१११
सनका अभाव न होनेसे मुक्तिमें आत्मा-	
का अभाव नहीं बनता	१११
चन्द्रकान्ति और मेघके उदाहरण-द्वारा	
विषयका स्पष्टीकरण	११२
आत्मापर छाये कर्मोंको योगी कैसे प्राण-	
भरमें भुन डालता है	११२
योगीके योगका लक्षण	११३
योगसे उत्पन्न मुखकी विशिष्टता	११३
मुख-दुःखका संश्लिष्ट लक्षण	११३
उक्त लक्षणकी हाइसे पुण्यजन्यभोगों	
और योगजन्य ज्ञानकी स्थिति	११४
निर्मलज्ञान स्थिर होनेपर ध्यान हो	
जाता है	११५
भागका रूप और उसे स्थिर-वास्तविक	
समझनेवाले	११६
यह संसार आत्माका महान् रोग	११७
सर्व संसार-शिकारोंका अभाव होने पर	
मुक्तजीवकी स्थिति	११८
उदाहरण-द्वारा पूर्वकथनका समर्थन	११८
किसके भोग संसारका कारण नहीं होते	११९
भोगोंको भोगता हुआ भी कौन परम-	
पदको प्राप्त होता है	१२०

भोगोंको तस्व-हाइसे देखनेवालोंकी	
स्थिति	२०२
भोग-भायासे यिमोहित जीवकी स्थिति	२०४
धर्मसे उत्पन्न भोग भी दुःख-परम्पराका	
दाता	२०४
विदेशी यिद्वामोही इष्टमें लक्ष्मी और	
भोग	२०५
भोग-संसारसे सजा वैराग्य कव उत्पन्न	
होता है	२०५
निर्बाणमें परमाभक्ति और उसके लिए	
कर्तव्य	२०५
ज्ञानों पापोंसे कैसे लिये नहीं होता	२०६
ज्ञानकी सहितमाका कीर्तन	२०६
कौन तत्त्व किसके द्वारा बस्तुतः चिन्तन-	
के योग्य है	२०६
परमतत्त्व की और उससे भिन्न क्या	२०७
सुमुकुओंको किसी भी तस्वमें आप्रद	
नहीं करना	२०७
आपह-वर्जित तत्त्वमें कर्ता-कर्मादिका	
विकल्प नहीं	२०७
आत्मस्थित-कर्म, वर्गणाएँ कभी आत्म-	
तत्त्वको प्राप्त नहीं होतीं	२०८
कर्मजन्य स्थावर विकार आत्माके नहीं	
बनते	२०८
जीवके रागादिक-परिणामोंकी स्थिति	२०८
जीवके कपाथादिक-परिणामोंकी स्थिति	२०९
कथाय-परिणामोंका स्वरूप	२०९
कालुष्य और कर्ममें-से एकके नाश दोने-	
पर दोनोंका नाश	२०९
कलुपताका अभाव होनेपर परिणामोंकी	
स्थिति	२०९
कलुपताका अभाव हो जानेपर जीवकी	
स्थिति	२१०
आत्माके शुद्धस्वरूपकी कुछ सूचना	२१०
आत्माकी परम्यतोतिका स्वरूप	२१०
स्वस्वभावमें स्थित पदार्थोंको कोई	
अन्वया करनेमें समर्प नहीं	२११
मिलनेवाले परद्रव्योंसे आत्माको कैसे	
अन्वया नहीं किया जा सकता	२११

भिन्न-ज्ञानोपलब्धिसे देह और जीवना का	२१२	शुद्धिर-विद्वानेहे	व्यवहर-निरोधककी
भेद		स्थिति	२१७
कर्म जीविके और जीव कर्मके गुणोंको		भोगको भोगता हुआ कौन बन्धको प्राप्त	
नहीं जातता	२१८	होता है कौन नहीं	२१८
जीव और कर्ममें पारम्परिक परिणामकी		विषयोंको जानता हुआ ज्ञानी बन्धको	
निमित्तता न रहनेपर मोक्ष	२१९	प्राप्त नहीं होता	२१८
युक्त-भावके साथ आत्माकी स्फटिकसम-		महामूढ़ इन्द्रिय-विषयोंको न ग्रहण करता	
तन्मयता	२२३	हुआ भी बन्धकर्ता	२१८
आत्माको आत्मभावके अभ्यासमें लगाना		किसका प्रत्याख्यानादि कर्म व्यर्थ है	२१९
आवृद्धक	२१३	दोषोंके प्रत्याख्यानसे कौन मुक्त है	२१९
कर्मभलसे पूर्णतः पृथक् हुआ आत्मा फिर		दोषोंके विषयमें रागी-बीतरागीकी स्थिति	२२०
उस मलसे लिप नहीं होता	२१३	औद्यिक और पारिणामिक भावोंका	
घटोपादान-मृत्तिकाके समान कर्मका उपा-		फल	२२०
दान कलुपता	२१४	विषयासुभय और स्वात्मानुभवमें उपा-	
कथायादि करता हुआ जीव कैसे कथा-		देय कौन	२२०
यादिरूप नहीं होता ?	२१४	वैषयिक ज्ञान सब पौद्गलिक	२२१
सर्वकर्मोंका कर्ता होते हुए कौन निरा-		मानवोंमें बाष्पभेदके कारण ज्ञानमें भेद	
कर्ता होता है	२१५	नहीं होता	२२१
चिपथस्थ होते हुए भी कौन लिप नहीं		किस ज्ञानसे ज्ञेयको जानकर उसे त्यागा	
होता	२१५	जाता है	२२२
देह-चेतनके तात्त्विक भेद-ज्ञानाकी		विकारहेतुके देशच्छेद तथा मूलच्छेदका	
स्थिति	२१६	परिणाम	२२२
जीवके त्रिविध-भावोंकी स्थिति और		देशच्छेद और मूलच्छेदके चिषयका	
कर्तव्य	२१६	स्पष्टीकरण	२२३
निरस्तात्त्विलक्लमण-योगीका कर्तव्य	२१६	किनका जन्म और जीवन सफल है	२२४
इन्द्रिय-विषयोंके स्परणकर्ता की स्थिति	२१७	प्रथ और प्रथकारके अभिप्रेत-रूप	
भोगको न भोगने-भोगनेवाले किन्हीं		प्रशस्ति	२२४
दोकी स्थिति	२१७	भाष्यका अन्त्यमंगल और प्रशस्ति	२२५
<b>परिशिष्ट</b>	<b>२२९ से २३६</b>		

# अहं

## भाष्यका मंगलाचरण

योगानलमें जला कर्म-मल, किया जिन्होंने आत्म-विकास,  
भव-बन्धनसे कूट निराकुल करते जो लोकाश्र-निवास।  
उन सिद्धोंको सिद्धि-अर्थ में बन्दूँ धार हृदय उज्ज्वास,  
मंगलकारी ध्यान जिन्होंका, महागुणोंके जो आवास ॥ १ ॥

मोह-चित्त-आवरण नाश जिन, पाया केवलज्ञान अपार,  
सब जीवोंको मोह मार्गका दिया परम उपदेश उदार।  
जिनकी दिव्य-ध्वनिसे जगमें तीर्थ प्रवर्ती हुआ सुधार,  
उन अहंतोंको प्रणमूँ मैं भक्ति-भावसे बारंबार ॥ २ ॥

योग-सार-प्राप्ति है अनुपम, सिद्धि-सौख्यका जो आधार,  
तर्शबोंका अनुशासन जिसमें, कहें जिसे 'परमार्गम-सार'।  
योगिराज-निःसंग-अमितगति-रचित जिनार्गमके अनुसार,  
व्याख्या सुगम करूँ मैं उसकी, निज-परके हितको उर धार ॥ ३ ॥



मूलका भंगलाचरण और उद्देश्य

विविक्तमव्ययं सिद्धं स्व-स्वभावोपलब्धये ।

स्व-स्वभाव-मयं बुद्धं ध्रुवं स्तौमि विकल्पम् ॥ १ ॥

‘मैं अपने स्वभावको उपलब्धिके लिए—जानकारी एवं संप्राप्तिके अर्थ—उस सिद्धिको—सिद्धिको प्राप्त सिद्धसमूहको—स्तुतिगोचर करता हूँ—अपनी उपासनाका विषय ( उपास्य ) बनाता हूँ—जो विविक्त है—शुद्ध एवं खालिस है,—कषायादिमलसे रहित है, धोधको प्राप्त है, अविनाशी है, नित्य है और स्व-स्वभाव-मय है—सदा अपने स्वरूपमें स्थित हूँ।’

आख्या—यह पद्य सिद्ध-समूहकी स्तुतिरूप है। एकवचनात्मक ‘सिद्धं’ पद् यहाँ सिद्ध-समूहका बाचक है; क्योंकि सिद्ध कोई एक नहीं है, अनेकानेक हैं; जैसा कि पूर्वांचार्योंके ‘वंदितु सब्बसिद्धे’, सिद्धानुदृतकर्मप्रकृतिसमुदयान्’ जैसे बहुवचनात्म-पदोंके प्रयोगसे जाना जाता है। उस सिद्ध-समूहमें अत्येक सिद्ध उन विशेषणोंसे विशिष्ट है जिनका ‘विविक्त’ आदि छह विशेषण-पदोंके द्वारा यहाँ स्मरण किया गया है। इन विशेषणोंमें ‘विविक्त’ विशेषण अमुख तथा गृह-गम्भीर है, सर्वप्रकारके मिश्रण-मिलाव और सम्बन्धसे रहित शुद्ध एवं खालिस आत्माका बोतक है। ‘विकल्पम्’ विशेषण राग-द्वेष-कांम-कोध-मान-माया-लोभादिरूप विकारो—मलोंके अभावका सूचक है और इस तरह सिद्धात्माकी उस शुद्धताको स्पष्ट करता है। ‘बुद्धं’ विशेषण उस मलरहित शुद्ध-आत्माको ज्ञानरूप प्रकट करता है जो कि मलके अभावका फल है—ज्ञानसे भिन्न शुद्ध-आत्माका कोई दूसरा रूप नहीं है, इसीसे आत्माको ज्ञान तथा ज्ञान-प्रमाण कहा गया है। ‘अव्यय’ विशेषण अन्युतका बाचक है और इस बातको बतलाता है कि वह सिद्धात्मा अपने इस शुद्ध-बुद्ध स्वरूपसे कभी न्युत नहीं होता—सिद्ध-पर्यायको छोड़-कर भव या अवतार धारणादिके रूपमें कभी संसारी नहीं बनता और न उसमें कभी कोई विक्रिया ही उत्पन्न होती है। ‘ध्रुव’ विशेषण इस बातका व्यंजक है कि सिद्धिका आत्मा सदा स्थिर रहता है—कभी उसका अभाव नहीं होता। और ‘स्वभावमय’ विशेषण सिद्धात्मा-के उक्त सब रूपको उसका स्वभाव व्यक्त करता है जिसका कर्म-मलके सम्बन्धसे तिरोभाव हो रहा था और जिसको सिद्ध करके ही यह आत्मा सिद्धिकी प्राप्त सिद्धात्मा बनता है। इसीसे सिद्धिका लक्षण ‘स्वात्मोपलब्धिः’ कहा गया है। ये सब विशेषण जिसमें घटेत नहीं होते वह सिद्ध या सिद्ध-समूह यहाँ विवक्षित नहीं हैं।

‘स्तौमि’ पदके द्वारा स्तुति-बन्दनाके रूपमें जिस उपासनाका यहाँ उल्लेख है उसका उद्देश्य भी ‘स्वस्वभावोपलब्धये’ पदके द्वारा साथमें दे दिया गया है, जो यह व्यक्त करता है कि स्वस्वभावमें स्थित सिद्ध-समूहकी भैरो यह उपासना स्वस्वभावकी—आत्माके बास्तविक स्वरूपकी—प्राप्तिके लिए है। और यह ठीक ही है, जो आत्मसाधन कर अपने शुद्ध-बुद्ध स्वरूप-को प्राप्त कर चुका है उसीकी उपासना—आराधनासे तद्विप्रयक सिद्धिकी प्राप्ति होती है। इसी

१. समयसार १ । २. सिद्धभक्ति १ । ३. प्रवचनसार ३ । ४. जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके इस वाक्यसे प्रकट है—काले कल्पतेरुपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या । उत्पातोऽपि यदि स्वात् विलोक्यसंभ्रान्तिकरणनद् ॥—उपो० धर्म० १३३ । ५. सिद्धः स्वात्मोपलब्धिः—सिद्धभक्ति १ ।

भावको लेकर मोश्यास्त्रके 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि मंगल-पद्ममें 'वन्दे तद्गुणलब्धये' इस वाक्यकी सृष्टि हुई है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि स्वभावका तो कभी अभाव नहीं होता, वह सदा वस्तुमें विद्यमान रहता है; तब यह स्वभावकी उपलब्धि कैसी? और उसके लिए प्रयत्न कैसा? इसके उत्तरमें मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि यह ठीक है कि स्वभावका कभी अभाव नहीं होता परन्तु उसका तिरोभाव (आच्छाइन) होता तथा ही सकता है और वह उन्हीं जीव-पुद्गल नामके दो द्रव्योंमें होता है जो वैभाविक परिणमनको लिये हुए होते हैं। आत्माके वैभाविक परिणमनको सदाके लिए दूर कर उसे उसके शुद्ध-स्वरूपमें स्थित करना ही 'स्वस्वभावोपलब्धिः' कहलाता है, जिसके लिए प्रयत्नका होना आवश्यक है।

इस पदमें प्रन्थके निर्माणकी कोई प्रतिक्षा नहीं है, अगले पदमें भी उसे दिया नहीं गया। फिर भी 'स्वस्वभावोपलब्धये' पदमें सिद्ध-समूहकी उपासनाका जो उद्देश्य संनिहित है वही इस प्रन्थके निर्माणका भी लक्ष्यभूत है और वह है आत्माके शुद्धस्वरूपकी ज्ञानि (जानकारी) और संप्राप्ति, जिसको प्रदर्शित करने के लिए प्रन्थके अन्त तक पूरा प्रयत्न किया गया है। प्रन्थके अन्तमें लिखा है कि जो इस योगसारप्राप्तको एकचित्त हुआ एकाप्रतासे पढ़ता है वह अपने स्वरूपको जानकर तथा सम्प्राप्त कर उस परमपद्मको प्राप्त होता है जो सांसारिक दोषोंसे रहित है। और इसलिए उस उद्देश्यात्मक-पदमें प्रन्थविषयके निर्माणकी प्रतिक्षा भी शामिल है। प्रन्थके नाममें, जिसे अन्तके दो पदोंमें व्यक्त किया गया है, जो 'योग' शब्द पढ़ा है उसके लक्षण अथवा स्वरूपनिर्देशसे भी इसका समर्थन होता है, जिसमें बतलाया है कि 'जिस योगसे—सम्बन्ध-विशेषरूप ध्यानसे—विविक्तात्माका फरिजान होता है उसे उन योगियोंने 'योग' कहा है जिन्होंने योगके द्वारा पापोंको—कणायादिमलको—आत्मासे धो डाला है।' और इसलिए कारणमें कार्यका उपचार करके यहाँ 'योगसार' नाम शुद्धात्मरूप समर्थसारका भी बाचक है।

स्वरूप-जिज्ञासासे जीवाजीवलक्षणको जाननेकी सहेतुक प्रेरणा

जीवाजीवं द्वयं त्यक्त्वा नापरं विद्यते यतः ।

तद्वच्छणं ततो ज्ञेयं स्व-स्वभाव-पूभूतस्या ॥ २ ॥

'कूकि (इस संसारमें) जीव-अजीव—आत्मा-अनात्मा (इन दो मूल तत्त्वों) को छोड़कर अन्य कुछ भी विद्यमान नहीं है—सब कुछ इन्हींके अन्तर्गत है, इन्हींका विस्तार है—इसीलिए अपने स्वरूपको जाननेको हच्छासे इन दोनोंका—जीव-अजीवका—लक्षण जानना चाहिए।'

**व्याख्या**—पहले पदमें सिद्ध-समूहकी स्तुति-बन्दनरूप उपासनाका और प्रकारान्तरसे प्रन्थके विषय-प्रतिपादनस्य निर्माणका उद्देश्य स्व-स्वभावकी उपलब्धि बतलाया था। स्व-स्वभावकी उपलब्धिका प्रयत्न स्वभावको जाने—पहचाने विना नहीं बन सकता। अतः इस पदमें स्वस्वभावको जाननेके लिए जीव तथा अजीवके लक्षणको जानना चाहिए ऐसा जाननेके उपायरूपमें निर्वेश किया है; क्योंकि जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वोंसे भिन्न संसारमें और कुछ भी विद्यमान नहीं है—संसारकी सारी वस्तु-वस्तु इन्हीं दो मूल तत्त्वोंके अन्तर्गत है—इन्हीं दोके भीतर समायी हुई है अथवा इन्हींका विस्तार है<sup>१</sup>, जिन्हें आत्मा-अनात्मा

१. दिविक्तात्मपरिज्ञानं योगात्मजायते यतः । स योगो योगिभिर्भीतो योगनिर्भूतपातकं ॥९-१०॥

२. जीवोऽन्यः पुद्गलस्त्वान्य इत्यसी तत्त्वसंग्रहः । यदन्यदुव्यते किञ्चित्सोऽस्मु तस्यैव विस्तारः ॥५०॥

तथा अचेतन-अचेतन भी कहा जाता है और अचेतनको 'जड़' नामसे भी निदिष्ट किया जाता है।

यहाँ जीव तथा अजीवके गुणोंको जाननेकी बात न कहकर उनके लक्षणोंको जाननेकी जो बात कही गयी है वह अपनी विशेषता रखती है; क्योंकि गुण सामान्य और विशेष दो प्रकारके होते हैं, जिनमें अस्तित्व-वस्तुत्वादि सामान्य गुण होते हैं तो जीव-अजीव दोनों तत्त्वोंमें समान-रूपसे पाये जाते हैं, उनको जाननेसे दोनोंकी भिन्नताका बोध नहीं होता। विशेष गुण प्राच्यः बहुत होते हैं, उन सबको जानकर वस्तुतत्त्वका निर्णय करना बहुधा कठिन पड़ता है—सहज बोध नहीं हो पाता। विशेष गुणोंमें जो गुण व्यावर्तक कोटि के होते हैं—परस्पर मिली हुई वस्तुओंमें एक दूसरेसे भिन्नताका सहज बोध करानेमें समर्थ होते हैं—वे ही 'लक्षण' कहे जाते हैं, उन्हींके जाननेकी ओर यहाँ 'लक्षण' शब्दके प्रयोग-द्वारा संकेत किया गया है।

जीवाजीव-स्वरूपको वस्तुतः जाननेवा फल

यो जीवाजीवयोर्वैति स्वरूपं परमार्थतः ।

सोऽजीव-परिहारेण जीवतत्त्वे निलीयते ॥ ३ ॥

जीव-तत्त्व-निलीनस्य राग-द्वेष-परिक्षयः ।

ततः कर्माश्रयच्छेदस्ततो निर्वाणं संगमः ॥ ४ ॥

'जो वस्तुतः जीव और अजीव दोनोंके स्वरूपको—लक्षणात्मक गुणोंको—जानता है वह अजीवके परिहार-द्वारा—अजीव तत्त्वको ढोड़कर—जीवतत्त्वमें निलीन (निमम्न) होता है ॥३॥ जो जीव तत्त्वमें निलीन होता है उसके राग-द्वेषका नाश होता है; राग-द्वेषके नाशसे कर्म-आत्मवका—आत्मव और बन्धका—विच्छेद (विवर्तन) होता है; कर्म-आत्मवके (आत्मव और बन्धके) विच्छेदसे निर्वाणका संगम—मोक्षका समाप्ति (मिलाप) होता है।'

**ध्याया**—इन दो पदोंमें जीव और अजीव तत्त्वोंके लक्षणोंको जाननेसे, उस 'स्वस्वभावोपलक्षित' रूप उद्देश्यकी सिद्धि कैसे होती है, इसे संक्षेपमें दर्शाया है और इस तरह उक्त दोनों तत्त्वोंके पृथक्-पृथक् लक्षणको जाननेकी उपयोगिताका निर्देश किया है। 'लक्षण' पदके स्थानपर यहाँ 'स्वरूपं' पदका जो प्रयोग किया गया है वह लक्षणके 'आत्मभूत' और 'अनात्मभूत' ऐसे दो भेदोंमेंसे प्रथम भेदका बोतक है, जिसका वस्तुके स्वभावके साथ लादात्म्य-सम्बन्ध होता है।

प्रथम पदमें प्रयुक्त 'परमार्थतः' पद शुद्ध-द्रव्यार्थिक अध्यवा शुद्ध-निश्चयनयकी हष्टिका वाचक है। उस हष्टिसे जो जीव तथा अजीवके स्वरूपको जानता है वह अजीवतत्त्वसे भिन्न अपनेको जीवरूपमें अनुभव करता है और उसकी अजीवतत्त्वमें आत्मदुद्धि नहीं रहती, आत्मदुद्धिके न रहनेसे पर पवार्थ अजीवके प्रति उसकी उत्सुकता तथा आसक्ति मिट जाती है, यही उसका परिहार अथवा परित्याग है, जिससे आत्मलीक्षता घटित होती है। आत्म-लीनताके घटित होनेसे राग-द्वेष नहीं बनते, राग-द्वेषके अभावमें कर्मोंका आश्रय-आधार विघटित हो जाता है, जो कि कर्मोंकि आने और ठहरने लगे आत्मव-बन्धकी व्यवस्थाको लिये हुए होता है। कर्माश्रयके विघटित हो जानेपर—आत्मव तथा बन्धके न रहनेपर—

१. व्युत्कीर्त्यस्तु-आवृत्ति-हेतुलक्षणम् । परस्परव्यतिकरं सति येनात्मवं लक्ष्यते सलक्षणम् । (राजवातिक) । २. जो परियाणइ अप्य-पह सो पह चयह गिर्भंतु, (योगसार ८२) । ३. मु विलीनस्य ।

निर्वाणकी प्राप्ति होती है, जिसे मोक्ष, मुक्ति तथा निर्वृति भी कहते हैं, और यही स्वस्वभाव-की उपलब्धि है।

स्वरूपको परद्रव्य-बहिर्भूत जाननेका परिणाम  
पर-द्रव्य-बहिर्भूतं स्व-स्वभावमवैति यः ।  
पर-द्रव्ये स कुत्रापि न च द्वेष्टि न इज्यति ॥ ५ ॥

'जो अपने स्वभावको परद्रव्यसे बहिर्भूत रूपमें जानता है—समस्त परद्रव्य-समूहसे अपनेको भिन्न अनुभव करता है—वह परद्रव्योंमें कहीं भी—परद्रव्यकी किसी अवस्थामें भी—राग नहीं करता और न द्वेष करता है।

**ध्याल्या—**पूर्व पदमें यह कहा गया है कि जो जीव-तत्त्वमें निलीन होता है उसके राग-द्वेषका अस्त्र हो जाता है, उसी बातको इस पदमें स्पष्ट किया गया है—यह दशाया गया है कि जो आत्मलीन हुआ अपने स्वभावको परद्रव्योंसे बहिर्भूत रूपमें जानता है—यह अनुभव करता है कि पर मुक्षरूप नहीं, मैं परलय नहीं, पर मुक्षमें नहीं, मैं परमें नहीं; पर मेरा नहीं और न मैं परका हूँ; इस तरह परको अपने साथ असम्बद्ध रूपमें देखता है—तो वह परद्रव्यकी किसी भी अवस्थामें राग नहीं करता और न द्वेष करता है; क्योंकि पर-द्रव्यके सम्बन्धसे और उसे इष्ट-अनिष्ट मानकर ही राग-द्वेषकी प्रवृत्ति होती है।

जीवका लक्षण, उपयोग और उसके दर्शन-ज्ञान से भेद  
उपयोगो विनिर्दिष्टस्तत्र लक्षणमात्मनः ।  
द्वि-विधो दर्शन-ज्ञान-प्रभेदेन जिनाधिष्ठेः ॥ ६ ॥

'उन दो मूल-तत्त्वोंमें आत्माका लक्षण जिनेन्द्रवेदने 'उपयोग' निर्दिष्ट किया है और उस उपयोगको दर्शन-ज्ञानके प्रभेदसे दो प्रकारका वितलाया है।'

**ध्याल्या—**यहाँ 'आत्मनः' पदके द्वारा जीवको 'आत्मा' शब्दसे उल्लिखित किया है और इससे यह जाना जाता है कि आत्मा जीवका नामान्तर अथवा पर्यायनाम है। जीवके जिस लक्षणको जाननेकी बात पहले कही गयी है वह लक्षण 'उपयोग' है जो कि आत्माका चतन्या-नुविधायी परिणाम है, जिसके मूल विभाग दर्शन और ज्ञानके भेदसे दो प्रकारके हैं और इन भेदोंकी लक्षितसे देखने तथा ज्ञानने रूप चैतन्यानुविधायी परिणामको 'उपयोग' समझना चाहिये, जिसमें यह परिणाम वस्तुतः लक्षित होता है वही लक्ष्यभूत 'जीव' तत्त्व है; क्योंकि यह जीवका सदा काल अनन्यभूत परिणाम है, जो जीवसे पृथक् अन्यत्र कहीं कभी लक्षित नहीं होता; जैसा कि श्री कृन्दकुन्दाचार्यके निम्न वाक्यसे भी जाना जाता है:—

उवओगो खलु दुष्विहो णाणेण य दंसणेण संजुतो ।  
जीवस्स सव्वकालं अणणभूदं विषाणीहि ॥ ( पंचास्ति ४० )

१. सध्यण्डुणाणद्वौ जीवो उवओगलक्षणो णिन्चनं । ( समयसार २४ ); उवओगो खलु दुष्विहो णाणेण य दंसणेण संजुतो ॥ जीवस्स सव्वकालं अणणभूदं विषाणीहि ॥ ( पंचास्ति ४० ); उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥ १. द्वि-विधोऽष्टन्त्रमेवः ॥ ९ ॥ ( मोक्षसारत्र अ० २ ) । २. आत्मनश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः ( अमृतवन्द्वासूरिः ) ।

दर्शनके चार भेद और उसका लक्षण

**चतुर्धी दर्शनं तत्र चतुषोऽचतुषोऽवधेः ।  
केवलस्य च विज्ञेयं वस्तु-सामान्य-वेदकम् ॥ ७ ॥**

‘उस उपयोग लक्षणमें दर्शनोपयोग चक्षुर्दीर्घन-अचक्षुर्दीर्घन-अवधि-दर्शन-केवल-दर्शन रूप चार प्रकारका हैं और उसे वस्तुसामान्यका वेदक—वस्तुके अस्तित्व जैसे सामान्य रूपका द्वाता—जानना चाहिए—यही उसका लक्षण है, जो उसके चारों भेदोंमें व्याप है।’

**ध्यात्वा**—उपयोगके जिन दो भेदोंका पिछले पद्मसे उल्लेख है उनमेंसे दर्शनोपयोगको यहाँ १. चक्षुर्दीर्घन, २. अचक्षुर्दीर्घन, ३. अवधिदर्शन, ४. केवलदर्शन रूप चार प्रकारका बतलाया है और उसका लक्षण ‘वस्तुसामान्यवेदक’ हिचा है, जिसे आकारादि-विषयक किसी विशेष पूर्थक् व भेद परम्पराके किंवा वस्तुके सामान्य रूपका यहाँ दर्शाना चाहिए। इसीसे सर्वार्थसिद्धिकार श्री पूज्यपादाचार्यने दर्शनको ‘निराकार’ और ज्ञानको साकार लिखा है।

तेत्र इन्द्रियके द्वारा वस्तुके सामान्य अवलोकनको ‘चक्षुर्दीर्घन’, अन्य इन्द्रियों तथा मनके द्वारा वस्तुके सामान्य अवलोकनको ‘अचक्षुर्दीर्घन’, अवधिज्ञानके पूर्व होनेवाले सामान्य अवलोकनको ‘अवधिदर्शन’ और केवलज्ञानके साथ होनेवाले सामान्य अवलोकनको ‘केवलदर्शन’ कहते हैं।

ज्ञानका लक्षण और उसके आठ भेद

**‘मतिः श्रुतावधी ज्ञाने मनःपर्यय-केवले ।  
सञ्ज्ञानं पञ्चावाचाचि विशेषाकारवेदनम् ॥८॥  
मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभंगज्ञान-भेदतः ।  
मिथ्याज्ञानं त्रिभेत्येवमष्टधा ज्ञानमुच्यते ॥९॥**

‘( ज्ञानोपयोगमें ) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान यह पाँच प्रकारका ज्ञान ( जिनेन्द्रियके द्वारा ) ‘सम्यग्ज्ञान’ कहा गया है और वह वस्तुके विशेषाकार-वेदनरूप है—यही उसका लक्षण है, जो उसके पाँचों भेदोंमें व्याप है ॥८॥ मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान, विभंग-ज्ञानके भेदसे मिथ्याज्ञान तीन प्रकारका है। इस तरह ज्ञानोपयोग ( पाँच सम्यग्ज्ञान और तीन मिथ्या ज्ञान रूप ) आठ प्रकारका कहा जाता है।’

**ध्यात्वा**—इन दोनों पद्मोंमें ज्ञानोपयोगको अष्टभेदरूप बतलाते हुए उसके मुख्य दो भेद किये हैं—एक सम्यक्ज्ञान, दूसरा मिथ्याज्ञान। सम्यक्ज्ञानके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ऐसे पाँच भेद दर्शाये हैं और मिथ्याज्ञानकी मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान और विभंगज्ञानके भेदसे त्रिभेद रूप प्रकट किया है। साथ ही, ज्ञानोपयोगका लक्षण वस्तुके विशेषाकार-वेदनको सूचित किया है, जो कि वस्तुमात्र सामान्य-प्रणाली प्रतिपक्षी है।

१. साकार ज्ञानमताकार दर्शनसिद्धि । ( १-९ ) । २. अवधिसुदेषिभूषणकेवलाणि ज्ञानाणि पञ्चभेदाणि । कुमदिसुश्विभूषणि य तिष्णि वि ज्ञानेद्वि संजृते ॥ ४१ ॥ —पञ्चस्तिवाच्य । ३. ध्या त्रिभेत्येवं केवले । ४. ध्या सामान्य ।

मतिज्ञानको अभिनिवोधिक, मति-अज्ञानको कुमति और श्रुत-अज्ञानको कुश्रुत भी कहते हैं; जैसा कि पूर्वोद्दृशृत पंचास्तिकायकी गाथा ४१ से जाना जाता है। विभंगज्ञानको आमतौरपर कुअवधिज्ञान भी कहा जाता है। आत्मा जो स्वभावसे सर्वांत्मप्रदेशव्यापी शुद्ध ज्ञानस्वरूप है वह अनादिकालसे ज्ञानावरणान्त्यादितप्रदेश हो रहा है और उस आवरणके मतिज्ञानावरणादि पाँच मुख्यभेद हैं। मतिज्ञानावरण कर्मके अयोपशमसे प्रादूर्भूत स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियोंमें-से किसी इन्द्रिय तथा मनके अवलम्बन-सहयोगसे युक्त जिस ज्ञान-द्वारा कुछ मूर्त-अमूर्त द्रव्यको विशेष रूपसे जाना जाता है उसे 'मतिज्ञान' तथा 'अभिनिवोधिक ज्ञान' कहते हैं। श्रुतज्ञानावरण कर्मके अयोपशमसे उद्भूत और अनिन्द्रिय मनके अवलम्बन-सहयोगसे युक्त जिस ज्ञानके द्वारा कुछ मूर्त-अमूर्त द्रव्यको विशेष रूपसे जाना जाता है उसे 'श्रुतज्ञान' कहते हैं। अवधिज्ञानावरण कर्मके अयोपशमसे उद्भूत जिस ज्ञान-द्वारा कुछ मूर्त द्रव्योंको विशेष रूपसे साक्षात् जाना जाता है उसका नाम 'अवधिज्ञान' है। मनःपर्यय ज्ञानावरणकर्मके अयोपशमसे उद्भूत जिस ज्ञानके द्वारा परमनोगत कुछ मूर्त द्रव्योंको विशेष रूपसे साक्षात् जाना जाता है उसे 'मनःपर्ययज्ञान' कहते हैं। ज्ञानावरण कर्मके सम्पूर्ण आवरणके अत्यन्त क्षयसे प्रादूर्भूत हुए जिस ज्ञानसे सम्पूर्ण मूर्त-अमूर्तरूप द्रव्य समूहको विशेष रूपसे जाना जाता है उसे 'केवलज्ञान' कहा जाता है और वह स्वाभाविक होता है। मिथ्यादर्शनके उदयको साथमें लिये हुए जो अभिनिवोधिक ज्ञान है उसे ही 'कुमतिज्ञान', जो श्रुतज्ञान है उसे ही 'कुश्रुत ज्ञान' और जो अवधिज्ञान है उसे ही 'विभंगज्ञान' कहते हैं।

केवलज्ञान दर्शनादिके उदयमें कारण

**उद्देति केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनम् ।**

**कर्मणः क्षयतः सर्वे क्षयोपशमतः परम् ॥१०॥**

'केवलज्ञान तथा केवलदर्शन कर्मके क्षयसे—ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण अथवा विवक्षित कर्मसमूहके विनाशसे—उदयको प्राप्त होता है—पूर्णरूपसे विवक्षित होता है। शेष सब ज्ञान तथा दर्शन उक्त आवरणों अथवा विवक्षित कर्म समूहके क्षयोपशमसे—अय उपशम रूप मिली-जुली अवस्थासे—उदयको प्राप्त होते हैं।

**ध्याद्या—**पूर्वके दो पदोंमें उपयोगके जिन बारह भेदोंका नामोल्लेख है उनमें-से केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग अपने-अपने प्रतिपक्षी कर्मके अयसे आत्मामें उदित, आविहूत अथवा विवक्षित होते हैं। केवलज्ञानको आवृत-आच्छादित करनेवाला प्रतिपक्षी कर्म केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनको आवृत-आच्छादित करनेवाला प्रतिपक्षी कर्म केवलदर्शनावरण है। इन दोनों आवरणोंका क्षय मोहकर्मका क्षय हुए विना नहीं बनता और आवश्यक कर्मके क्षयके साथ अन्तराय कर्मका अय भी अविनामात्री है, अतः मोह और अन्तराय कर्मका अय भी यहाँ 'कर्मणः क्षयतः' पदोंके द्वारा विवक्षित है। इसीसे मोश्र-शास्त्र ( तत्त्वार्थ सूत्र ) में 'मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलं' इस सूत्रके द्वारा मोहके क्षयपूर्वक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका अय द्वैनेसे केवलज्ञान तथा केवलदर्शनका आविभाव निश्चित किया है। शेष चक्षुदर्शनादि दश उपयोगोंका जिन्हें 'परं सर्वं' पदोंके द्वारा उल्लेखित किया है, आत्मामें आविभाव विवक्षित कर्मके क्षयोपशमसे होता है। वे विवक्षित कर्म चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, मतिज्ञानावरण,

श्रुतज्ञानाचरण, अबधिज्ञानाचरण, मनःपर्ययज्ञानाचरण हैं। इस तरह 'कर्मणः' पद यहाँ उपयोगोंके विपक्षीमूल बारह कर्मोंके अलग-अलग वाचक अनेक अर्थोंको निर्विरोधरूपसे लिये हुए हैं। यह सब निर्माणकी सूची ( विशेष ) है जो एक ही पदमें इतने अर्थोंका संकलन एवं समावेश किया गया है। 'परं सर्वं' पदोंमें भी दश उपयोगोंका समावेश किया गया है।

जिस प्रकार केवलज्ञानाचरणादिके लघुके साथ मोहृ तथा अन्तराय कर्मका लघु भी विवक्षित है उसी तरह चक्षुदर्शनादिके लघुओपशमके साथ भी मोहृ तथा अन्तराय कर्मका लघुओपशम विवक्षित है। कर्मोंके लघुसे उद्दित होनेवाले ज्ञान-दर्शन 'क्षायिक ज्ञान-दर्शन' और कर्मोंके लघुओपशमसे उद्दित होनेवाले ज्ञान-दर्शन 'क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन' कहे जाते हैं।

केवलज्ञान-दर्शनकी युगपत् और शेषकी कमशः उत्पत्ति

यौवान्देव लायेते गेवलङ्घात-दूरते ।

कर्मेण दर्शनं ज्ञानं परं निःशेषमात्मनः ॥११॥

'आत्माके केवलज्ञान और केवलदर्शन ( ये दो उपयोग ) युगपत्—एक साथ—उद्देत होते हैं। शेष सब दर्शन और ज्ञान—चक्षु-अचक्षु-अबधिरूप तीन दर्शन, मति-श्रुत-अष्टधि-मनःपर्यय-रूप चार सम्यक्ज्ञान और कुमति-कुश्रुति तथा कुअवधिरूप तीन मिथ्याज्ञान—कर्मसे उदयको प्राप्त होते हैं। इनमेंसे कोई भी दर्शन विवक्षित ज्ञानके साथ युगपत् प्रवृत्त नहीं होता, सदा दर्शनपूर्वक ज्ञान हुआ करता है।'

**व्याख्या—**पूर्व पदमें विवक्षित कर्मोंके लघुयोगोंके उदयकी वात कही गयी है। उनके उदयकी कालक्रम-उद्यवस्थाको इस पदमें दर्शाते हुए बतलाया है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग तो युगपत्—कालभेद रहित एक साथ—उदयको प्राप्त होते हैं, शेष सब ज्ञानोपयोगों तथा दर्शनोपयोगोंका उदय आत्मामें कर्मसे होता है—एक साथ नहीं बनता—ज्ञानके पहले दर्शन हुआ करता है।

मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञानके कारणोंका निर्देश

मिथ्याज्ञानं भतं तत्र मिथ्यात्वसमवायतः ।

सम्यग्ज्ञानं शुनज्ञैः सम्यक्त्वसमवायतः ॥१२॥

'ज्ञानोपयोगमें, मिथ्याज्ञानको जैनोंके द्वारा मिथ्यात्वके समवायसे—सम्बन्धसे—और सम्यग्ज्ञानको सम्यक्त्वके समवायसे उदयको प्राप्त होना माना गया है।

**व्याख्या—**पूर्वके हो पद्म सं० ८,९में ज्ञानोपयोगके आठ भेदोंमें पाँचको 'सम्यग्ज्ञान' और तीनको 'मिथ्याज्ञान' बतलाया गया है। इस पद्ममें वैसा बतलानेके कारणोंको सूचित करते हुए लिखा है कि 'मिथ्यात्वके समवायसे—सम्बन्धसे—मिथ्याज्ञान और सम्यक्त्वके समवायसे सम्यग्ज्ञान होता है, ऐसी जैनियोंकी मान्यता है। जैनियोंकी मान्यताके अनुसार 'समवाय' शब्द अस्वन्यका वाचक है, वैदेशिकोंकी मान्यतानुसार उस पदार्थ-विशेषका वाचक नहीं जो एड है और सर्वथा भिन्न पदार्थोंका, स्वयं अलग-अलग रहकर, सम्बन्ध करता है। 'समवाय' शब्दके प्रयोगसे यहाँ विवक्षित सम्बन्धको कोई वैशेषिक भौतानुसार समवाय-

१. मतिः युतावधी चैव मिथ्यात्व-प्रभवायिनः । मिथ्याज्ञानानि कथ्यन्ते न तु तेषां प्रमाणता ॥

पदार्थके सहयोगसे होनेवाले मिथ्यात्म तथा सम्बन्धके सम्बन्धको न समझ ले, इसीसे 'जैनैः मतं'—जैनियोंके द्वारा माना गया है—इस स्पष्ट करणात्मक वाक्यका प्रयोग किया गया है। मिथ्यात्मके सम्बन्धको प्राप्त होनेवाले ज्ञान तीन हैं—मति, श्रुत और अवधि; जो प्रमाण नहीं होते।

मिथ्यात्मका स्वरूप और उसकी लीलाका निर्देश  
वस्त्वन्यथा परिच्छेदो ज्ञाने संपद्यते यतः ।  
तनिमिथ्यात्मं मतं सदूभिः कर्मरामोदयोदकम् ॥१३॥

'जिसके कारण ज्ञानमें वस्तुका अन्यथा परिच्छेद—त्रिपरीतादिरूपसे जानना—बनता है उसको सत्पुरुषोंने मिथ्यात्म माना है, जो कि कर्मरूपी बगीचेको उगानेअद्वानेके लिए जलनित्यन-के समान है।'

**व्याख्या**—यहाँ पूर्व पदमें उल्लिखित उस मिथ्यात्मके स्वरूपका निर्देश किया गया है जिसके सम्बन्धसे ज्ञान मिथ्याज्ञान हो जाता है—जो वस्तु जिस रूपमें स्थित है उसका उस रूपमें ह्वान न होकर चिपरीतादिके रूपमें ह्वानका होना जिसके सम्बन्धसे होता है—उसे 'मिथ्यात्म' कहते हैं। यह मिथ्यात्म सारे कर्मरूप बगीचेको उगाने-दृष्टिके लिए जलदानके समान है। मिथ्यात्मका यह किशेषण बड़ा ही महस्त्वपूर्ण है और उसकी सारी लीलाके संकेतको लिये हुए है।

दर्शनमोहके उदयजन्य मिथ्यात्मके तीन भेद  
उदये दृष्टिमोहस्य गृहीतमगृहीतकम् ।  
जातं सांशयिकं चेति मिथ्यात्मं तत् त्रिधा विदुः ॥१४॥

'दर्शनमोहनीय कर्मका उक्त दृष्टिमोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न होता है वह मिथ्यात्म गृहीत, अगृहीत और सांशयिक ऐसे तीन प्रकारका कहा गया है।'

**व्याख्या**—जिस मिथ्यात्मका स्वरूप पिछले पदमें दिया है उसके सम्बन्धमें यहाँ बतलाया है कि वह दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न होता है और इसलिए उसे दृष्टिचिकारसे युक्त तत्त्वों तथा पदार्थोंके अश्रद्धानरूप समझना चाहिए। वस्तुके यथार्थरूपमें अपनी इस अश्रद्धाके कारण ही ज्ञानको यह मिथ्याज्ञान बनाता है। उस मिथ्यात्मके गृहीत, अगृहीत और सांशयिक ( संशयरूप ) ऐसे तीन भेदोंका यहाँ उल्लेख किया गया है—अगृहीतको 'नैसर्गिक' और गृहीतको 'परोपदेशिक' भी कहते हैं। जो दिना परोपदेशके मिथ्यात्मकर्मके उदयघटना तत्त्वोंके अश्रद्धानरूप होता है उसे 'नैसर्गिक' ( अगृहीत ) मिथ्यात्म कहते हैं और जो परोपदेशके निमित्तसे तत्त्वोंके अश्रद्धानरूप होता है उसे 'परोपदेशिक' अथवा गृहीत मिथ्यात्म कहते हैं। वस्तु-तत्त्वके यथार्थ अद्वानमें चिरहृद अनेक कोटियोंको स्पर्श करनेवाले और किसीका भी निश्चय न करनेवाले अद्वानको 'संशय मिथ्यात्म' कहते हैं जैसे मोक्षमार्ग दर्शनज्ञानचारित्र-रूप है या कि नहीं, इस प्रकार किसी एक पक्षको स्वीकार न करनेका सन्देश बनाये रखना।

१. तं मिथ्यात्मं जमसहृण तत्त्वाण हीह अत्थाणः संसारमभिगहिर्य अणभिगहिर्य च तं त्तिविहृ ॥५८॥

—भगवती आराधना, अध्याय १

२. सर्वार्थसिद्धि अध्याय ८ सूत्र १

सर्वार्थसिद्धि आदि दूसरे प्रन्थोंमें मिथ्यात्वके पाँच भेदोंका भी उल्लेख है जिनके नाम हैं—एकान्त-मिथ्यादर्शन, वैनयिक-मिथ्यादर्शन, आज्ञानिक-मिथ्यादर्शन और संशय-मिथ्यादर्शन<sup>१</sup>। जिनमें प्रथम चारको यहाँ गृहीत मिथ्यात्वके अन्तर्गत समझना चाहिए। इनके बिस्तार पूर्वक स्वरूपको दूसरे प्रन्थोंसे जानना चाहिए।

### मिथ्यात्व-भावित जीवकी मान्यता

अतत्त्वं मन्यते तत्त्वं जीवो मिथ्यात्वभावितः ।

अस्वर्णमीकृते स्वर्णं न किं कलकमोहितः ॥१५॥

'मिथ्यात्वसे प्रभावित हुआ जीव अतत्त्वको तत्त्व मानता है। ( ठीक है ) धतुरेसे मोहित प्राणी क्या अस्वर्णको स्वर्णरूपमें नहीं देखता ?—देखता ही है ।'

व्याख्या—मिथ्यात्वसे संस्कारित अधबा मिथ्यात्वकी भावनासे भावित जीव अतत्त्वको तत्त्वरूप उसी प्रकार मानता है जिस प्रकार कि धतुरा खाकर मोहित हुआ प्राणी उस सारे पदार्थसमूहको स्वर्ण रूपमें देखता है जो वस्तुतः स्वर्णरूप नहीं है।

### सम्यक्त्वका स्वरूप और उसकी समता

यथा वस्तु तथा ज्ञानं संभवत्यात्मनो यतः ।

जिनैरभाणि सम्यक्त्वं तत्त्वम् सिद्धिसाधने ॥१६॥

'जिसके कारण आत्माका ज्ञान जिस रूप वस्तु स्थित है उसी रूप भले प्रकार होता है उसे जिनेन्द्रियेन 'सम्यक्त्व' कहा है जो सिद्धिके—स्वात्मोपलक्षित्वके—साधनमें समर्थ है ।'

व्याख्या—यहाँ १२वें पद्ममें उल्लिखित उस सम्यक्त्वका लक्षण दिया गया है जिसके सम्बन्धसे ज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप परिणत होता है। यह लक्षण यह है—'जो वस्तु जिस रूपमें स्थित है उसका उसी रूपमें आत्माको ज्ञान जिसके कारण होता है उसको 'सम्यक्त्व' कहते हैं। यहाँ सम्यक्त्वको स्वात्मोपलक्षित्वके साधनमें समर्थ घटलाया है और इससे सम्यक्त्वका महत्त्व ख्यापित होता है, जो कि सारे आत्मविकासका मूल आधार है।

### सम्यक्त्वके ज्ञायिकादि भेद और उनमें साध्य-नाधनता

मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्व-संयोजन-चतुष्टये ।

क्षर्यं शर्मं द्वर्यं प्राप्ते सप्तधा मोहकर्मणि ॥१७॥

ज्ञायिकं शामिकं द्वेर्यं ज्ञायोपशमिकं त्रिधा ।

तत्रापि ज्ञायिकं साध्यं साधनं द्वितयं परम् ॥१८॥

'( वह सम्यक्त्व ) मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व और संयोजन चतुष्टय—अनन्तानुवन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ—इन सात भेदरूप मोहकर्मके क्षयको प्राप्त

१. एकान्तिक सांशयिक विपरीत तथैव च। आज्ञानिक च मिथ्यात्वं तथा वैनयिकं भवेत् ॥

—तत्त्वार्थसार

२. ज्ञा सर्वं । ३. ज्ञा सामिकं ।

होनेपर क्षायिक, उपशमको प्राप्त होनेपर औपशमिक, क्षयोपशमको प्राप्त होनेपर क्षायोपशमिक, इस तरह तीन प्रकारका होता है। उन तीनों सम्यक्त्वोंमें भी क्षायिक सम्यक्त्व साध्य है और शेष दो उसके साधन हैं।'

**व्याख्या**—जिस सम्यक्त्वके स्वरूपका पिछले पत्रमें उल्लेख है, उसके तीन भेदोंका उनके कारण-सहित इन पत्रोंमें जिदेश है। सम्यक्त्वके वे तीन भेद क्षायिक, औपशमिक, और अत्योपशमिक हैं। दर्शनमोहकी तीन...विद्युत्त्व, विद्युत्य, स-विद्युत्त्व और चारित्र मोहकी चार—अनन्तानुशन्धी क्रोध-मान-भाया-लोभ, इस प्रकार मोहकर्मकी सात प्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिक, उपशमसे औपशमिक और क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका उदय होता है। इन तीनोंमें क्षायिक सम्यक्त्व मुख्य है, स्थायी है, और इसलिए साध्य पत्र आराध्य है। शेष दोनों सम्यक्त्व साधनकी कोटिमें स्थित हैं—उनके सहारे क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त किया जाता है।

आत्मा और ज्ञानका प्रमाण तथा ज्ञानका सर्वगतत्व

**'ज्ञानप्रमाणमात्मानं ज्ञानं ज्ञेयप्रमं विदुः ।  
लोकालोकं यतो ज्ञेयं ज्ञानं सर्वगतं ततः ॥१६॥**

‘जिनेन्द्रियेव अत्माको ज्ञानप्रमाण—ज्ञान जितना और ज्ञानको ज्ञेयप्रमाण—ज्ञेय जितना बतलाते हैं। ज्ञेय चूंकि लोक-अलोकरूप है अतः ज्ञान सर्वगत है—सारे विद्युतमें व्याप्त होनेके स्वभावकी लिये हुए हैं।’

**व्याख्या**—‘सम-गुण-पर्यायं द्रव्यम्’ इस सूत्रके अनुसार द्रव्य गुण तथा पर्यायके समान होता है। पर्यायद्विसे आत्मा जिस प्रकार स्वदेह-परिमाण है, गुण-द्विसे उसी प्रकार स्वज्ञान-परिमाण है। ज्ञानको यहाँ बिना किसी विशेषणके प्रयुक्त किया है और इसलिए ज्ञान यदि क्षायिक है तो आत्मा क्षायिकज्ञान-परिमाण है, ज्ञान यदि क्षयोपशमिक है तो आत्माको उस क्षयोपशमिकज्ञान-परिमाण समझना चाहिए। परन्तु यहाँ ‘ज्ञानं’ पदके द्वारा मुख्यतः वह ज्ञान विवक्षित है जो पूर्णतः विकसित अथवा क्षायिक (केवल) ज्ञान है, तभी वह लोकालोकको अपना साक्षात् विषय करनेवाला ‘ज्ञेयप्रमाण’ हो सकता है। असाक्षात् (परोक्ष) रूपमें लोकालोकको विषय करनेकी द्विसे स्वाद्वाद-नय-संस्कृत श्रुतज्ञानको भी ग्रहण किया जा सकता है। आत्माको ज्ञान-प्रमाण कहा है, ज्ञानसे बढ़ा या छोटा आत्मा नहीं होता। और यह ठीक ही है; क्योंकि ज्ञानसे आत्माको बढ़ा माननेपर आत्माका बढ़ बढ़ हुआ अंश ज्ञानशून्य जड़ ठहरेगा और तब यह कहना नहीं बन सकेगा कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है अथवा ज्ञान आत्मा-का गुण है जो कि गुणी (आत्मा) में व्यापक होना चाहिए। और ज्ञानसे आत्माको छोटा माननेपर आत्मप्रदेशोंसे बाहर स्थित (बढ़ा हुआ) ज्ञानगुण गुणी (द्रव्य) के आश्रय बिना ठहरेगा और गुण गुणी (द्रव्य) के आश्रय बिना कहीं रहता नहीं; जैसा कि ‘द्रव्याभ्या निर्गुणा गुणाः’ गुणके इस मोक्षज्ञास्त्रन् (तत्त्वार्थं सूक्ष्म- ) वर्णित लक्षणसे प्रकट है। अतः आत्मा ज्ञानसे बढ़ा या छोटा न होकर ज्ञान-प्रमाण है इसमें आपत्तिके लिए तनिक भी स्थान नहीं है।

१. आदा गागप्रमाणं णाणं जेयप्रमाणमुद्दितुं । जेमं लोकालोयं तम्हा णाणं तु सञ्चययं ॥२३॥

'लोक' उसे कहते हैं जो अनन्त आकाशके बहुमध्य-भागमें स्थित और अन्तमें तीन महावातवलयोंसे वेष्टित जीवादि पद् द्रव्योंका समूह है अथवा जहाँ जीव-पुद्गलादि लहू प्रकारके द्रव्य' अब लोकन किये जायें—देखेपाये जायें—वह सब लोक है, और उसके उड्बं, मध्य, अधःलोकके भेदसे तीन भेद हैं, जिनकी 'त्रिलोक' संज्ञा है। इस त्रिभागरूप लोकसे बाहरका जो क्षेत्र है और जिसमें सब और अनन्त आकाशके सिवा दूसरा कोई द्रव्य नहीं है उसे 'अलोक' कहते हैं। लोक-अलोकमें सम्पूर्ण ज्ञेय तत्त्वोंका समावेश हो जानेसे उन्हींमें ज्ञेय-नन्तरकी परिसमाप्ति की गयी है। अर्थात् यह प्रतिपादन किया गया है कि 'ज्ञेय-तत्त्व लोक-अलोक हैं'—लोक-अलोकसे भिन्न अथवा बाहर दूसरा कोई 'ज्ञेय' नहीं है ही नहीं। साथ ही ज्ञेय ज्ञानका विषय होनेसे और ज्ञानकी सीमाके बाहर ज्ञेयका कोई अस्तित्व न घन सकनेसे यह भी प्रतिपादन किया गया है कि 'ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण है'। जब ज्ञेय लोक-अलोक प्रमाण हैं तब ज्ञान भी लोक-अलोक-प्रमाण ठहरा, और इसलिए ज्ञानको लोक-अलोक-की तरह सर्वगत (व्यापक) होना चाहिए। इसीसे पुरातनाचार्य श्री कुन्दकुलदाचार्यने भी प्रबन्धनसारकी 'आदा जाणप्रमाण' गाधामें 'तम्हा णाणं तु सर्वगतं' इस वाक्यके द्वारा ज्ञानको 'सर्वगत' घोषणा है।

जब आत्मा ज्ञान-प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण होनेसे लोकालोक-प्रमाण तथा सर्वगत है तब आत्मा भी सर्वगत हुआ। और इससे यह निष्कर्ष निकला कि आत्मा अपने ज्ञान-गुण सहिय सर्वगत (सर्वव्यापक) होकर लोकालोकको जानता है, और इसलिए लोक-लोकके ज्ञाता जो-जो सर्वज्ञ अथवा केवलज्ञानी (किवली) हैं वे सर्वगत होकर ही लोक-लोकको जानते हैं। परन्तु आत्मा सदा स्वात्मप्रदेशोंमें स्थित रहता है—संसारावस्थामें आत्माका कोई प्रदेश मूलोच्चर इस आत्मदेहसे बाहर नहीं जाता और मुक्तावस्थामें शरीरका सम्बन्ध सदाके लिये दूर जानेपर आत्माके प्रदेश प्रायः चरम देहके आकारको लिये हुए लोक-के अग्रभागमें जाकर स्थित हो जाते हैं, वहाँसे फिर कोई भी प्रदेश किसी समय स्वात्मासे बाहर निकलकर अन्य पदार्थोंमें नहीं जाता। इसीसे ऐसे शुद्धात्माओं अथवा मुक्तात्माओंको 'स्वात्मस्थित' कहा गया है और प्रदेशोंकी अपेक्षा सर्व व्यापक नहीं माना गया; साथ ही 'सर्वगत' भी कहा गया है, जैसा कि 'स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्तव्यापारबेदी विनिवृत्तसंगः'<sup>१</sup> जैसे वाक्योंसे प्रकट है। तब उनके इस सर्वगततत्त्वका क्या रहस्य है और उनका ज्ञान कैसे एक जगह स्थित होकर सब जगत्के पदार्थोंको युगपत् जानता है? यह एक मर्मस्फी वात है, जिसे स्वामी समन्वयभद्रने सभीचीन-पर्मशास्त्रके मंगलपद्ममें श्री अर्द्धमान स्वामीके लिए प्रयुक्त निम्न विशेषण वाक्यके द्वारा घोड़ेमें ही व्यक्त कर दिया है—

सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ।

इस वाक्यमें ज्ञानको दर्पण घटलाकर अथवा दर्पणकी उपमा देकर यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार दर्पण अपने व्यानसे उठकर पदार्थोंके पास नहीं जाता, न उनमें प्रविष्ट होता है और न पदार्थ ही अपने व्यानसे चलकर दर्पणके पास आते तथा उसमें

१. जैनविज्ञानके अनुसार जीव, पुद्गल, वर्म, अधर्म, काल और आकाश में लहू द्रव्य हैं। इनके अतिरिक्त दूसरा कोई द्रव्य नहीं है। इसरे जिन द्रव्योंकी लोकमें कल्पना की जाती है उन सबका समावेश इन्हींमें हो जाता है। ये नित्य और अवस्थित हैं—अपनी छहकी संख्याका कभी परित्याग नहीं करते। इनमें पुद्गलको छोड़कर शेष सब द्रव्य अरूपी हैं और इन सबकी चरणि प्रायः सभी जैन सिद्धान्त ग्रन्थ भरे पड़े हैं। २. देखो, श्रीधनंजय-कृत 'विषापहार-स्तोत्र'।

प्रविष्ट होते हैं; किर भी पदार्थ दर्पणमें प्रतिविम्बित होकर प्रविष्ट-से जान पड़ते हैं और दर्पण भी उन पदार्थोंको अपनेमें प्रतिविम्बित करता हुआ तदृगत तथा उन पदार्थोंके आकाररूप परिणत मालूम होता है, और यह सब दर्पण तथा पदार्थोंकी इच्छाके बिना ही वस्तु-स्वभावसे होता है। उसी प्रकार वस्तु-स्वभावसे ही शुद्धात्मा केवलीके केवलज्ञानरूप दर्पणमें अलोक-सहित सब पदार्थ प्रतिविम्बित होते हैं और इस दृष्टिसे उनका यह निर्मल ज्ञान आत्म-प्रवेशोंकी अपेक्षा सर्वगत न होता हुआ भी 'सर्वंगत' कहलाता है और तदनुरूप वे केवली भी स्वात्मस्थित होते हुए 'सर्वंगत' करते हैं। इसमें दिनेधरी कोई बात नहीं है। इस प्रकारका कथन विरोधालंकारका एक प्रकार है, जो वास्तवमें विरोधको लिये हुए न होकर विरोध-सा ज्ञान पड़ता है, और इसीसे 'विरोधाभास' कहा जाता है। अतः केवलज्ञानीक प्रदेशापेक्षा सर्वव्यापक न होते हुए भी, स्वात्मस्थित होकर सर्व पदार्थोंको जानने-प्रतिभासित करनेमें कोई बाधा नहीं आती।

अब यहाँपर यह प्रश्न किया जा सकता है कि दर्पण तो वर्तमानमें अपने सम्मुख तथा कुछ तिर्यक् स्थित पदार्थोंको ही प्रतिविम्बित करता है—पीछेके अथवा अधिक अगल-बगलके पदार्थोंको बहु प्रतिविम्बित नहीं करता—और सम्मुखादिरूपसे स्थित पदार्थोंमें भी जो सूक्ष्म हैं, दूरवर्ती हैं, किसी प्रकारके व्यवधान अथवा आवरणसे युक्त हैं, अमूर्तीक हैं, भूतकालमें सम्मुख उपस्थित थे, भविष्यकालमें सम्मुख उपस्थित होंगे किन्तु वर्तमानमें सम्मुख उपस्थित नहीं हैं उनमें-से किसीको भी वर्तमान समयमें प्रतिविम्बित नहीं करता है, जब ज्ञान दर्पणके समान है तब केवली भगवान्के ज्ञान-दर्पणमें अलोक-सहित तीनों लोकोंके सब पदार्थ युगपत् कैसे प्रतिभासित हो सकते हैं? और यदि युगपत् प्रतिभासित नहीं हो सकते तो सर्वज्ञता कैसे बन सकती है? और कैसे 'सालोकानां शिलो-कानरं यद्विद्या दर्पणायते' यह विशेषण श्री वर्धमान स्वामीके साथ संगत बैठ सकता है?

इसके उत्तरमें मैं सिर्फ़ इच्छा ही बतलाना चाहता हूँ कि उपमा और उदाहरण ( दृष्टान्त ) प्रायः एकदेश होते हैं—सर्वदेश नहीं, और इसलिए सर्वापेक्षासे उनके साथ तुलना नहीं की जा सकती। उनसे किसी विषयको समझनेमें मदद मिलती है, यही उनके प्रयोगका लक्ष्य होता है। जैसे किसीके मुखको चन्द्रमाकी उपमा दी जाती है, तो उसका इतना ही अभिप्राय होता है कि वह अतीव गौरवर्ण है—यह अभिप्राय नहीं होता कि उसका और चन्द्रमाका वर्ण चिलकुल एक है अथवा वह सर्वधा चन्द्रधातुका ही बना हुआ है और चन्द्रमाकी तरह गोलाकार भी है। इसी तरह दर्पण और ज्ञानके उपमान-उपमेय-भावको समझना चाहिए। यहाँ ज्ञान ( उपमेय ) को दर्पण ( उपमान ) की जो उपमा दी गयी है, उसका लक्ष्य प्रायः इतना ही है कि जिस प्रकार पदार्थ अपने-अपने स्थानपर स्थित रहते हुए भी निर्मल-दर्पणमें ज्योंके त्वयों झलकते और तदृगत मालूम होते हैं और अपने इस प्रतिविम्बित हीनमें उनकी कोई इच्छा नहीं होती और न दर्पण ही उन्हें अपनेमें प्रतिविम्बित करने-कराने-की कोई इच्छा रखता है—सब कुछ वस्तु स्वभावसे होता है; उसी तरह निर्मलज्ञानमें भी पदार्थ ज्योंके त्वयों प्रतिभासित होते तथा तदृगत मालूम होते हैं और इस कार्यमें किसीकी भी कोई इच्छा चरितार्थ नहीं होती—वस्तुस्वभाव ही सर्वत्र अपना कार्य करता हुआ जान पड़ता है। इससे अधिक उसका यह आशय कहापि नहीं लिया जा सकता कि ज्ञान भी साधारण दर्पणकी तरह जड़ है, दर्पण धातुका बना हुआ है, दर्पणके समान एक पाइर्व ( Side ) ही उसका प्रकाशित है और वह उस पाइर्वके सामने निराचरण अथवा व्यवधान-रहित अवस्थामें स्थित तात्कालिक मूर्तिक पदार्थोंको ही प्रतिविम्बित करता है। ऐसा आशय लेना उपमान-उपमेय-भाव तथा वस्तु-स्वभावको न समझने-जैसा होगा।

इसके सिवाय दर्पण भी तरह-तरह के होते हैं। एक सर्व साधारण दर्पण जो शरीर के ऊपरी भाग को ही प्रतिबिम्बित करता है—चर्म-मास के भीतर स्थित हाड़ों आदि को नहीं; परन्तु दूसरा ऐक्सरे-दर्पण जो चर्म-मास के व्यवधान में स्थित हाड़ों आदि को भी प्रतिबिम्बित करता है। एक प्रकार का दर्पण समीप अथवा कुछ ही दूर के पदार्थों को प्रतिबिम्बित करता है, दूसरा दर्पण (रेडियो, हेलीचिङ्गन आदि के द्वारा) बहुत दूर के पदार्थों को भी अपने में प्रतिबिम्बित कर लेता है। और यह बात तो साधारण दर्पणों तथा फोटो-दर्पणों में भी पायी जाती है कि वे बहुत से पदार्थों को अपने में युगपत् प्रतिबिम्बित कर लेते हैं और उसमें कितने ही निकट तथा दूरवर्ती पदार्थों का पारस्परिक अन्तराल भी लुप्त-गुप्त-सा हो जाता है, जो विधि-पूर्वक देखने से स्पष्ट जाना जाता है। इसके अलावा सृति ज्ञान-दर्पण में हजारों मील दूर की और वीसियों वर्ष पहले की देखी हुई घटनाएँ तथा शक्लें (आकृतियाँ) साक हालक आती हैं। और जाति-स्मरण का दर्पण तो उससे भी बढ़ा-बढ़ा होता है, जिसमें पूर्व जन्म अथवा जन्मों की सैकड़ों वर्ष पूर्व और हजारों मील दूर तक की भूतकालीन घटनाएँ साफ हालक आती हैं। इसी तरह निमित्तादि श्रुतज्ञान-द्वारा चन्द्रसूर्य प्रह्लादि जैसी भवित्व की घटनाओं का भी सच्चा प्रतिभास हुआ करता है। जब लौकिक दर्पणों और सृति आदि ज्ञायो-पश्चिमिक ज्ञान-दर्पणों का ऐसा हाल है तब केवल ज्ञान जैसे अलौकिक दर्पण की तो बात ही क्या है—उस सर्वातिशायि-ज्ञान-दर्पण में अलोक-सहित तीनों लोकों के वे सभी पदार्थ प्रतिभासित होते हैं जो 'ज्ञेय' कहलाते हैं—चाहे वे वर्तमान हों या अवर्तमान। क्योंकि ज्ञेय वही कहलाता है जो ज्ञानका विषय होता है—ज्ञान जिसे जानता है। ज्ञानमें लोक-अलोक के सभी ज्ञेय पदार्थों को जानने की शक्ति है, वह तभी तक उन्हें अपने पूर्णरूप में नहीं जान पाता जब तक उसपर पड़े हुए आवरणादि प्रतिबन्ध सर्वधा दूर होकर वह शक्ति पूर्णतः विकसित नहीं हो जाती। ज्ञानशक्ति के पूर्णविकसित और चरितार्थ होने में बाधक कारण हैं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामके चार धातियाकर्म। इन चारों धातियाकर्मों की सत्ता जब आत्मा में नहीं रहती तब उसमें उस अप्रतिहतशक्ति—ज्ञानव्योतिका उदय होता है जिसे लोक-अलोक के सभी ज्ञेय पदार्थों को अपना विषय करने से फिर कोई रोक नहीं सकता।

जिस प्रकार यह नहीं हो सकता कि दाहक-स्वभाव अग्नि मौजूद हो, दाह-इन्धन भी मौजूद हो, उसे दहन करने में अग्नि के लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध भी न हो और फिर भी वह अग्नि उस दाहकी दाहक न हो, उसी प्रकार यह भी नहीं हो सकता कि उक्त अप्रतिहत-ज्ञानव्योतिका धारक कोई केवल ज्ञानी हो और वह किसी भी ज्ञेय के विषय में अज्ञानी रह सके। इसी आशय को श्रीविद्यानन्दस्वामीने अपनी अद्वस्तुतीमें, जो कि समन्तभद्र कृत आत्मीमासिकी अपूर्व टीका है, निम्न पुरातन वाक्य-द्वारा व्यक्त किया है—

“हो ज्ञेये कथमज्जः स्वादसति प्रतिबन्धने ।  
वाह्येऽग्निर्दाहको न स्वादसति प्रतिबन्धने ।”

अतः केवल ज्ञानी श्रीवर्द्धमान स्वामी के ज्ञान-दर्पण में अलोक-सहित तीनों लोकों के प्रतिभासित होने में बाधक के लिए कोई स्थान नहीं है; जब कि वे धातिकर्म-मल को दूर करके निर्धूत कलिलात्मा होते हैं।

आत्मासे ज्ञान-ज्ञेयको अधिक प्राप्तेपर दोषापत्ति

यद्यात्मनोऽधिकं ज्ञानं ज्ञेयं वापि प्रजायते ।

लक्ष्य-लक्षणभावोऽस्ति तदानीं कथमेतयोः ॥२०॥

यदि आत्मासे ज्ञान अथवा ज्ञेय भी अधिक होता है ( ऐसा माना जाये ) तो इन दोनोंमें-आत्मा और ज्ञानमें—लक्ष्य-लक्षण-भाव कैसे बन सकता है ?—नहीं बन सकता ।

**व्याख्या**—यहाँ आत्मासे ज्ञानके तथा ज्ञेयके भी अधिक होनेपर दोनोंमें लक्ष्य-लक्षण-भावके घटित न होनेकी बात कही गयी है । जिसे लक्षित किया जाये—अनेक मिले-जुले पदार्थोंमें से प्रथक् बोधका विषय बनाया जाये—उसे 'लक्ष्य' कहते हैं और जिसके द्वारा लक्षित किया जाये उस व्यावर्तक ( भिन्नतान्वोधक ) हेतुको 'लक्षण' कहते हैं । लक्षणको अव्याप्ति, अविव्याप्ति और असम्भव इन तीन दोषोंसे रहित होना चाहिए; तभी वह लक्ष्यका ठीक तौरसे बोध करा सकेगा, अन्यथा नहीं । लक्ष्यके एक देशमें रहनेवाला लक्षण अव्याप्ति दोषसे, लक्ष्यसे बाहर अलक्ष्यमें भी पाया जानेवाला लक्षण अतिव्याप्ति दोषसे और लक्ष्यमें जिसका रहना चाहित है वह असम्भव दोषसे दूषित कहलाता है । यहाँ ज्ञान आत्माका लक्ष्य है जो सामान्य-वेदन तथा विशेष-वेदनके रूपमें दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके नाममें इसी अधिकारके उच्चे-उच्चे पदोंमें निर्दिष्ट हुआ है । आत्मा ( लक्ष्य )से ज्ञान ( लक्षण ) अधिक होनेपर ज्ञान-लक्षण 'अतिव्याप्ति' दोषसे दूषित होता है और इसलिए उसमें लक्षण-भाव घटित नहीं होता । ज्ञानस्वरूप आत्मासे ज्ञेयके अधिक होनेपर ज्ञान ज्ञेय प्रभाण न होकर ज्ञेयसे छोड़ा पड़ा और इसलिए 'अव्याप्ति' दोषसे दूषित रहा; क्योंकि आत्मा भी ज्ञेय है । इसके सिवाय ज्ञेय हो और ज्ञान न हो यह बात असंगत ज्ञान पड़ती है; क्योंकि जो ज्ञानका विषय हो उसीको 'ज्ञेय' कहते हैं । ज्ञानके बिना ज्ञेयका अस्तित्व नहीं बनता, वह चाहित ठहरता है ।

ज्ञेय-शिष्ट ज्ञानको व्यापकताका स्पष्टीकरण —

'द्वीरक्षितं यथा क्वीरमिन्द्रनीलं स्वतेजसा ।  
ज्ञेयक्षितं तथा ज्ञानं ज्ञेयं' व्याप्तोति सर्वतः ॥२१॥

'जैसे दूधमें पड़ा हुआ इन्द्रनीलमणि अपने तेजसे—अपनी प्रभासे—दूधको सब ओरसे ध्यान कर लेता है—अपनी प्रभा जैसा नीला बना लेता है—उसी प्रकार ज्ञेयके मध्यस्थित ज्ञान अपने प्रकाशसे ज्ञेय समूहको पूर्णतः व्याप कर उसे प्रकाशित करता है—अपना विषय बना लेता है ।'

**व्याख्या**—यहाँ 'इन्द्रनीलं' पद उस सातिशय महानील रत्नका वाचक है जो पड़ा तेज-ज्ञान होता है । उसे जय किसी दूधसे भरे बड़े कड़ाहे या देय जैसे वर्तमानमें डाला जाता है तो वह दुग्धके वर्तमान रूपका तिरस्कार कर उसे सब ओरसे अपनी प्रभा-द्वारा नीला बना देता है । उसी प्रकार ज्ञेयके मध्यके स्थित हुआ केवलज्ञान भी अपने तेजसे अज्ञान अन्धकारको दूर कर समस्त ज्ञेयोंमें ज्ञेयकार रूपसे व्याप हुआ उन्हें प्रकाशित करता है ।

१. रघुणमिह इन्द्रनीलं दुद्रज्जसितं जहा सभासाए । अभिभूय तं पि दुद्धे वद्वदि तह णाणमत्येसु ॥३०॥  
(—प्रवचनसार) जह पठमराधरणं लितं लीरे प्रभासयदि शीरं । तह देही देहत्यो दुद्धे उपभासयदि ॥  
—पञ्चास्ति० ३३ २. सु ज्ञेयं ज्ञानं ।

दूधसे भरे जिस बड़े पात्रमें इन्द्रनील रत्न पढ़ा होता है उसके धोड़े-से ही देशमें यद्यपि वह स्थित होता है और उसका कोई भी परमाणु उससे निकलकर अन्यत्र नहीं जाता; फिर भी उसकी प्रभावमें ऐसा वैचित्रय है कि वह सारे दूधको अपने रंगमें रंग लेता है और दूधका कोई भी परमाणु बस्तुतः नीला नहीं हो पाता—नीलमणिको बहि दूधसे निकाल लिया जाये तो दूध ज्योंका त्यों अपने स्थाभाविक रंगमें स्थित नज़र आता है, नीलरत्नकी प्रभावके संसर्गसे कहीं भी उसमें कोई विकार लक्षित नहीं होता। ऐसी ही अवस्था ज्ञान तथा ज्ञेयोंकी है, ज्ञेयोंके मध्यमें स्थित हुआ केवलज्ञान यद्यपि बस्तुतः अपने आत्मप्रदेशमें ही स्थित होता है, और आत्माका कोई भी प्रदेश आत्मासे अलग होकर वाय पदार्थोंमें नहीं जाता; फिर भी उसके केवलज्ञानमें तेजका ऐसा माहात्म्य है कि वह सारे पदार्थोंको अपनी प्रभावसे डोयाकार रूपमें व्याप्त कर उन पदार्थोंमें अपने प्रदेशोंके साथ तादात्म्यको प्राप्त-जैसा प्रतिभासित होता है; जब कि दर्पणमें उसकी स्वस्त्रताके बश प्रतिचिन्मिति पदार्थोंकी तरह वैसा कुछ भी नहीं है। अतः व्यवहारनयकी हृषिसे ज्ञानका ज्ञेयोंमें और ज्ञेयों ( पदार्थों ) का ज्ञानमें अस्तित्व कहा जाता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यने इस बातको और स्पष्ट करते हुए प्रबचनसारमें लिखा है—

जदि ते ण संति अट्टा णाणे णरणं ण होदि सब्बगयं ।  
सब्बगयं वा णाणं कहे ण णाणट्टिया अट्टा ॥३१॥

‘यदि वे पदार्थ केवलज्ञानमें अस्तित्व न रखते हों—न छलकते हों—तो केवलज्ञान-को सर्वगत नहीं रहा जा सकता, और ज्ञान यहि सर्वगत है तो पदार्थोंको ज्ञानमें स्थित कैसे नहीं कहा जायेगा ? —कहना ही होगा।

इस प्रकार यह ज्ञानमें ज्ञेयोंकी और ज्ञेयोंमें ज्ञानकी स्थिति व्यवहारनयकी हृषिसे है। निश्चयनयकी हृषिसे ज्ञान अपनेमें और ज्ञेय अपनेमें स्थित हैं। दर्पणमें प्रतिचिन्मिति और प्रतिचिन्मित्यमें दर्पणकी तरह एकके अस्तित्वका दूसरेमें व्यवहार किया जाता है।

ज्ञेयको जानता हुआ ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता

चेद्गुण्ठद्यथारूपं रूपरूपं न जायते ।

ज्ञानं जानन्तथः ज्ञेयं ज्ञेयरूपं न जायते ॥२२॥

‘जिस प्रकार आँख रूपको ग्रहण करती हुई रूपमय नहीं हो जाती उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयको जानता हुआ ज्ञेयरूप नहीं हो जाता।’

व्याख्या—यहीं आँखके उदाहरण-द्वारा इस बातको स्पष्ट किया गया है कि जिस पदार्थको ज्ञान जानता है, उस पदार्थके रूप नहीं हो जाता; जैसे कि आँख जिस रंग-रूपको देखती है, उस रूप स्वयं नहीं हो जाती। सारांश यह कि देखने और जाननेका काम तद्रूप-परिणमनका नहीं है।

१. णाणो णाणसहावो अट्टा णेष्पणा हि णाणिस्स । रूपाणि व चर्खणं णेवाण्णोणेषु वर्तुति ॥२२॥

—प्रबचनसार

ज्ञान स्वभावसे दूरवर्तीं पदार्थोंको भी जानता है

**द्वौयोऽसमपि ज्ञानमर्थं वेच्चि निसर्गतः ।  
अयस्कान्तः स्थितं दूरे नाकर्षति किमायसम् ॥२३॥**

‘अन द्वौयोऽसमपि—क्षेत्र-कालादिकी दृष्टिसे दूरस्थित पदार्थ-समूहको—भी स्वभावसे जानता है। क्या कालस्तलोह—चुम्बकपाषाण—दूरीपर स्थित लोहेको अपनी ओर नहीं खींचता ?—खींचता ही है।’

**व्याख्या**—यहाँ चुम्बक लोह पाषाणके उदाहरण-द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार चुम्बक-पाषाण दूरस्थित दूसरे लोहेको स्वभावसे अपनी ओर खींच लेता है उसी प्रकार केवलज्ञान भी क्षेत्रकी अपेक्षा तथा कालकी अपेक्षा दूरवर्तीं पदार्थोंको अपनी ओर आकर्षित कर उन्हें निकट-स्थित वर्तमानकी तरह जानता है, यह उसका स्वभाव है। इसपर कोई यह शंका कर सकता है कि चुम्बककी शक्ति तो सीमित है, उसकी शक्ति-सीमाके भीतर जब लोहा स्थित होता है तभी वह उसको खींचकर अपनेसे चिपटा लेता है, जब लोहा सीमाके बाहर होता है तब उसे नहीं खींच पाता; तब क्या केवलज्ञान भी सीमित क्षेत्रकाल-के पदार्थोंको ही अपना विषय बनाता है ? इसका समाधान इतना ही है कि दृष्टान्त केवल समझनेके लिए एकदेशी होता है, सर्वदेशी नहीं अतः चुम्बककी तरह ज्ञानकी सीमित-शक्ति न समझ लेना चाहिए उसमें प्रतिबन्धकका अभाव हो जानेसे दूरवर्तीं तथा अन्तरित ही नहीं किन्तु सूक्ष्म पदार्थोंको अपनी ओर आकर्षित करनेकी—अपना विषय बनानेकी—अनन्तानन्तशक्ति है—उसके बाहर कोई भी पदार्थ बिना जाने अड़ोयरूपमें नहीं रहता। इसीसे ज्ञानको ‘सर्वमात’ कहा है। वह अपने आत्म-प्रदेशोंकी अपेक्षा नहीं किन्तु प्रकाशकी अपेक्षा सर्वगत है।

ज्ञान स्वभावसे स्वप्नको जानता है

**ज्ञानमात्मानमर्थं च परिच्छित्ते स्वभावतः ।  
दीप उद्घोतयत्यर्थं स्थस्मिकान्यमपेक्षते ॥२४॥**

‘ज्ञान आत्माको और पदार्थ-समूहको स्वभावसे ही जानता है। जैसे दीपक स्वभावसे अन्य पदार्थ-समूहको प्रकाशित करता है वैसे अपने प्रकाशनमें अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं रखता—अपनेको भी प्रकाशित करता है।’

**व्याख्या**—पिछले पदमें यह बतलाया गया है कि केवलज्ञान दूरवर्तीं पदार्थको भी जानता है, चाहे वह दूरी क्षेत्र सम्बन्धी हो या काल-सम्बन्धी, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि ज्ञान परको ही स्वभावसे जानता है या अपनेको भी जानता है ? इस पदमें दीपकके उदाहरण-द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार दीपक पर पदार्थोंका उद्घोतन करता है उसी प्रकार अपना भी उद्घोतन करता है—अपने उद्घोतनमें किसी प्रकार परकी अपेक्षा नहीं रखता—उसी प्रकार ज्ञान भी अपनेको तथा पर पदार्थ समूहको स्वभावसे ही जानता है—अपनेको अथवा आत्माको जाननेमें किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता।

१. आ अयः स्वर्णतः । २. व्या किमायसां ।

क्षायिक-आयोपशमिक ज्ञानोंकी स्थिति

**आयोपशमिक ज्ञानं कर्मापाये निवर्तते ।  
प्रादुर्भवति जीवस्य नित्यं क्षायिकमुज्ज्वलम् ॥२५॥**

‘आत्माका आयोपशमिक ज्ञान कर्मोंके—ज्ञानावरणादि विवक्षित कर्म प्रकृतियोंके—नाश होनेपर नाशको प्राप्त हो जाता है और जो निर्मल क्षायिकज्ञान—केवलज्ञान—है वह सदा उदयको प्राप्त रहता है—सारे कर्मोंका नाश हो जानेपर भी उसका कभी नाश नहीं होता ।’

व्याख्या—यहाँ क्षायिक और आयोपशमिक दोनों प्रकारके ज्ञानोंके उदय-अस्तके नियमको कुछ दृश्यांया है—लिखा है कि आयोपशमिक ज्ञान तो जिन कर्म-प्रकृतियोंके क्षय-उपशमादिस्त्रप निमित्तको पाकर उदित होता है उन कर्मप्रकृतियोंके नाश होनेपर अस्तको प्राप्त हो जाता है; परन्तु केवलज्ञान एक बार उदय होकर फिर कभी अस्तको प्राप्त नहीं होता, सदा उदित ही बना रहता है, वह दोनोंमें भारी अन्तर है। आयोपशमिक ज्ञानकी स्थिति निमित्तमूल कर्मोंकी स्थितिके बदलनेसे बदलती रहती है परन्तु केवलज्ञानकी स्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं होता—वह त्रिकाल-त्रिलोक-विषयक समस्त जीवोंको युगपत् जानता रहता है।

केवलज्ञानकी त्रिकालगोचर सभी सत्-असत् पदार्थोंको युगपत् जाननेमें प्रवृत्ति

**‘सन्तमर्थमसन्तं च काल-त्रितय-गोचरम् ।**

**अवैति युगपञ्ज्ञानमध्याधात्मनुत्तमम् ॥२६॥**

‘( क्षायिक ) ज्ञान, जो कि अव्याधाती है—अपने विषयमें किसी भी पर-पदार्थसे वासित या रह नहीं होता—और अनुत्तम है—जिससे अधिक श्रेष्ठ दूसरी कोई यस्तु अधिक ज्ञान नहीं—वह त्रिकालविषयक सत्-असत् सभी पदार्थोंको युगपत्—एक साथ—जानता है।’

व्याख्या—यहाँ जिस ज्ञानको अव्याधात और अनुत्तम बतलाया गया है, वह वही क्षायिक ज्ञान है जिसे पिछले पदमें उज्ज्वल ( परम निर्मल ) और कभी अस्त न होकर सदा उदित रहनेवाला तथा २८वें पदमें ‘केवलज्ञान’ व्यक्त किया है। इसी ज्ञानको यह महिमा अधिक विशेषता है कि यह त्रिकाल-गोचर सारे विद्यमान तथा अविद्यमान पदार्थोंको युगपत्—एक साथ अपना विषय बनाता है—अपने अव्याधात गुणके कारण सदा अवाधित-विषय रहता है—कोई भी पर-पदार्थ उसके त्रिकाल-गोचर सत्-असत् पदार्थोंके जाननेमें कभी वाधक नहीं होता है।

सत् और असत् पदार्थ कौन ?

**अङ्गसन्तस्ते मताद् दक्षेरतीता भाविनश्च ये ।**

**वर्तमानाः पुनः सन्तस्त्रैलोक्योदरवर्तिनः ॥२७॥**

१. तत्कालिगेत्र सब्रे सदसदभूदा हि पञ्जाया तासि । वृत्ते ते णाणे विसेपदो दक्षजायीर्ण ॥२३॥

—ध्रवचनसार

२. जे गंव हि संजाया जे घन् गदा भवीयपञ्जाया । ते होति अग्रवभूदा पञ्जाया णाणा चक्षन् ॥२८॥

—ध्रवचनसार

‘विलोकके मध्यवर्तीं जो पदार्थ अतीत हैं—भूतकालमें तत्कालीन पर्याय-हप्तिसे जिनका अस्तित्व था—और जो भावी हैं—भविष्यकालमें तत्कालीन पर्याय-हप्तिसे जिनका अस्तित्व होगा—वे दशों—विवेक-विमुणके द्वारा व्यक्त—अविद्यमान—माने गए हैं और जो वर्तमान हैं—अपनी वर्तमान समव्यवस्थाएँ पर्यायमें स्थित हैं—उन्हें सत्—विद्यमान—सत्ता गया है।’

**व्याख्या—**—पिछले पद्यमें जिन सत् (विद्यमान) तथा असत् पदार्थोंको युगपत् जाननेकी बात कही गयी है उन्हें इस पद्यमें स्पष्ट किया गया है; असत् उन्हें बतलाया गया है जो अतीत (भूत) तथा अनागत (भविष्य) कालके विषय हैं और सत् ये हैं जो वर्तमान कालके विषय हैं। वह मीठी कहाँहै वे विद्यमानों लोकोंके उदरमें रहनेवाले हैं—कोई भी लोक ऐसा नहीं जहाँ भूत-भविष्यत्-वर्तमानरूपसे पदार्थोंका अस्तित्व न हो।

दृत-भव्यी पदार्थोंकी जाननेका ल्प

अतीता भाविनश्चार्थः स्वे स्वे काले यथासिलाः ।  
वर्तमानस्तस्तद्वृत्तिं तानपि केवलम् ॥२८॥

अतः—सत्-असत्की उक्त लक्षण हप्तिसे—सम्पूर्ण अतीत और अनागत पदार्थ अपने कालमें जिस रूपमें वर्तते हैं उनको भी केवलज्ञान उसी रूपमें जानता है।’

**व्याख्या—**—पिछले पद्यमें जिन अतीत-अनागत पदार्थोंको युगपत् जाननेकी बात कही गयी है उन्हें केवलज्ञान किसी रूपसे जानना है उसे इस पद्यमें स्पष्ट किया गया है—लिखा है कि अतीत-अनागत पदार्थ अपने-अपने कालमें जिस प्रकारसे वर्तमान होते हैं उन्हें भी केवलज्ञान उनके तत्कालीन वर्तमानरूपकी तरह जानता है, न कि केवल वर्तमान कालके पदार्थोंको वर्तमानकी तरह। जो आज भूत है वह कल वर्तमान था और जो आज वर्तमान है वह कलको भूत हो जायेगा। भूतको भूतिके द्वारा और भविष्यको किसी निमित्तकी सहायतासे केवलज्ञान नहीं जानता, उसके सामने द्रव्योंकी सब पर्यायें वर्तमानकी तरह स्पष्ट स्फुली हुई होती हैं, तभी वह उनका युगपत् जाननेवाला हो सकता है।

जानके सब पदार्थोंमें युगपत् प्रवृत्त न होनेसे दोषापत्ति

‘सर्वेषु यदि न ज्ञानं यौगपद्येन वर्तते ।  
तदैकमपि जानाति यदार्थं न कदाचन ॥२९॥  
एकत्रापि यतोऽनन्ताः पर्यायः सन्ति वस्तुनि ।  
कर्मण जानता सर्वे ज्ञायन्ते काव्यतां कदा ॥३०॥

‘पदि (केवल) ज्ञान सब पदार्थोंमें युगपत्-रूपसे नहीं वर्तता है—सबको एक साथ नहीं जानता है—तो वह एक भी वस्तुको कभी नहीं जानता; क्योंकि एक वस्तुमें भी अनन्त पद्याय होती है, कमसे जानते हुए वे सब पद्यायें कब जानी जाती हैं सो बतलाओ? पद्यायोंके ज्ञानका अन्त न आनेसे कभी भी एक वस्तुका पूरा जानना नहीं बन सकता।’

१. यदि पद्यवचनमजायं पदजायं यलद्यं च णाणस्स । ण हवदि वा तं णाणं दिव्यं ति हि के पूर्वेति ॥३१॥ —प्रवचनमार २. जो ण विजाणदि जुगवं अत्ये तिक्तालिगी तिहुवणत्ये । णाहुं तस्स ण मञ्चे सप्तजयं दद्वमेम् वा ॥४८॥ दद्वं अणंतपञ्जयमेगमणंताणि दद्वजादाणि । ण विजाणदि जदि जुगवं किव तो सञ्चाणि जाणादि ॥४९॥—प्रवचनमार

**व्याख्या—** पिछले पद्मोंमें विलोक-स्थित त्रिकालगत सर्व पदार्थोंको युगपत् जाननेकी बात कही गयी है। इन पद्मोंमें यह बतलाया गया है कि यदि केवलज्ञान उन सब पदार्थोंको युगपत् नहीं जानता है, तो यह कहना होगा कि वह एक पदार्थोंको भी पूरा नहीं जानता है; क्योंकि एक पदार्थमें भी अनन्त पर्यायें होती हैं, कमशः उन्हें जानते हुए कब उन सब पर्यायोंको जान पायेगा ? कभी भी नहीं। जब इस तरह एक द्रव्यकी अनन्त पर्यायें कभी भी पूरी जाननेमें नहीं आ सकेंगी तब एक द्रव्यका पूरा जानना कैसे कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता। और यह एक बड़ा दोष उपस्थित होगा। यदि एक द्रव्यकी पर्यायोंको क्रमशः जानते हुए उनके जाननेका अन्त माना जायेगा तो तदनन्तर द्रव्यको पर्यायशूल्य मानना होगा और पर्यायशूल्य माननेका अर्थ होगा द्रव्यका अभाव; क्योंकि 'गुण पर्याय-द्रव्यम्' इस सूत्र चाक्यके अनुसार गुण-पर्यायवानको 'द्रव्य' कहते हैं, गुण और पर्याय क्षेत्रोंमेंसे कोई नहीं तो द्रव्य नहीं। और द्रव्य चूंकि सत् लक्षणं होता है अतः उसका कभी अभाव नहीं हो सकता—भले ही पर्यायें जल-कलोलोलोंकी तरह समय-समयपर पलटती-बदलती रहें। ऐसी स्थितिमें केवलज्ञानका युगपत् सब पदार्थोंको जानना ही ठीक बैठता है—क्रमशः जानना नहीं। समस्त धार्थक कारणोंका अभाव हो जानेसे केवलज्ञान जाननेकी अनन्तानन्त-शक्तिसे सम्पन्न है, उसमें सब द्रव्य अपनी-अपनी अनन्त पर्यायोंके साथ ऐसे शलकते हैं जैसे दर्पणमें पदार्थ समूह शलका करते हैं।<sup>१</sup>

जो ज्ञान पदार्थोंको कमसे जानता है, वह न तो नित्य होता है, न क्षायिक और न सर्वगत; जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसारकी निम्न गाथामें व्यक्त किया है—

उपच्छदि जदि णाणं कमसो अहु पञ्चक्षण जाणिस्स ।

तं गे व हृष्टि णिरुचं ण णाइर्ण णेव सम्बगवं ॥५०॥

वह क्रमवर्ती ज्ञान नित्य इसलिए नहीं कि एक पदार्थका अवलम्बन लेकर उत्पन्न होता है दूसरे पदार्थके ग्रहणपर नष्ट हो जाता है; क्षायिक इसलिए नहीं कि वह ज्ञानाचरणीय कर्मके क्षयोपशमाधीन प्रवर्तता है, और सर्वगत इसलिए नहीं कि वह अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-को युगपत् जाननेमें असमर्थ है। अतः ऐसे क्रमवर्ती पराधीन ज्ञानका धनी आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

आत्माके धातिकर्मक्षयोत्पन्न परम रूपकी अद्वाका पात्र

‘धातिकर्मक्षयोत्पन्नं’ यद्रूपं परमात्मनः ।  
श्रद्धसे भक्तितो भव्यो नाभव्यो भववर्धकः ॥२१॥

‘धातिद्या कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुआ आत्माका जो परम रूप है उसको भव्यात्मा भक्तिसे अद्वान करता है, अभव्य जीव नहीं; क्योंकि वह भववर्धक होता है—स्वभावसे संसार-पर्यायोंको बद्धाता रहता है—और इसलिए आत्माके उस परम रूपकी अद्वासे सदा विमुख रहता है।

१. सद्द्रव्यलक्षणम् । —२० सूत्र ५-२९ । २. नैवासतो जन्म सत्तो न नाशो ।—( समन्तभद्र )

३. तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः । दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥१॥ —अमृतवन्द्र (पुरुष सिंह) ४. जो ण विजाणदि सम्ब वेच्छदि सो तेण सोक्षमणुहवदि । हृदि तं जाणदि भविओ अभव्यसत्तो ण सद्दहवदि ॥१६३॥ —पञ्चास्तिकाय

**व्याख्या—**प्रन्थके १०वें पदमें यह बतलाया था कि केवलज्ञान तथा केवलदर्शन कर्मके क्षयसे उदयको प्राप्त होते हैं। वे कर्म कौनसे हैं? यहाँ उनको 'घाति' विशेषणके द्वारा स्पष्ट किया गया है। घातिया कर्म चार हैं—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ मोहनीय, और ४ अन्तराय। अतः केवलज्ञान और केवलदर्शन, केवलज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मोंके क्षयसे ही उत्पन्न नहीं होते किन्तु मोहनीय और अन्तराय कर्मोंके क्षयकी भी साथमें अपेक्षा रखते हैं। इन चारों कर्मोंके मूलतः विनष्ट होनेपर ही आत्माका वह परम रूप विकास-को प्राप्त होता है, जो अनन्त-दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य चतुष्फलात्मक सर्वज्ञका रूप है।<sup>१</sup> इस रूपके प्रति भव्यजीवकी बड़े भक्तिभावसे श्रद्धा होती है; क्योंकि वह अपना भी यह रूप समझता है और जब भी अवसर मिलता है उसके विकासका यत्न करता है। परन्तु अभव्य जीव उसकी श्रद्धा नहीं करता; क्योंकि स्वभावसे ही भववर्द्धक—संसार चक्रको बढ़ानेवाला भवाऽभिनन्दी—होता है।

आत्माके परम रूप श्रद्धानीको अव्यय पदकी प्राप्ति

**यत्सर्वार्थवरिष्ठं यत्कमातीतमतीनिद्रयम् ।  
श्रद्धात्यात्मनो रूपं स याति पदमरुययम् ॥३२॥**

'जो सर्व पकार्थोमें धोष है, जो कमालीत है—क्रमवर्ती नहीं अथवा आदि मध्य अन्तसे रहित है—सथा अतीनिद्रय है—इनिद्रयज्ञानगोचर नहीं—उस आत्माके ( परम ) रूपको जो अद्वान करता है वह अविनाशी पद—मोक्षको प्राप्त होता है।'

**व्याख्या—**पिछले पदमें आत्माके घातिकर्म क्षयोत्पन्न जिस परम रूपका श्रद्धान करनेवाले भव्यजीवका उल्लेख है उसके विषयमें यहाँ इतना और स्पष्ट किया गया है कि वह आत्माके रूपको सर्व पकार्थोमें श्रेष्ठतम, कम रहित और अतीनिद्रय अद्वान करता है और ऐसा अद्वान करनेवाला अव्ययपद जो मोक्षपद है उसको प्राप्त होता है।

आत्माके परम रूपकी अनुभूतिका मार्ग

**निर्व्यापारीकृतादस्य यत्क्षणं भाति पश्यतः ।  
तद्रूपमात्मनो ज्ञेयं शुद्धं संवेदनात्मकम् ॥३३॥**

'इन्द्रियोंके व्यापारको रोककर क्षण-भर अन्तमुख होकर देखनेवाले योगीको जो रूप दिखलाई पड़ता है उसे आत्माका शुद्ध संवेदनात्मक ( ज्ञानात्मक ) रूप जानना चाहिए।'

**व्याख्या—**इस पदमें आत्माको साक्षात् रूपसे अनुभव करनेकी प्रक्रियाका उल्लेख है और वह यह कि सब इन्द्रियोंको व्यापार रहित करके—इन्द्रियोंकी अपने विषयोंमें प्रवृत्तिको रोककर—साथ ही मनको भी निर्विकल्प करके—जो कुछ ज्ञानमात्रके लिए अन्तर्गमें दिखलाई पड़ता है वह आत्माका रूप है, जो कि शुद्ध ज्ञायक रूपरूप है। यहाँ मनको निर्विकल्प करनेकी बात यथापि मूलमें नहीं है परन्तु उपलक्षणसे फलित होती है; क्योंकि मन इन्द्रियोंकी

१. अस्ति वास्तवसर्वज्ञः सर्वगीविणिवन्दितः । घातिकर्मक्षयोत्पन्नं स्पष्टात्तत्त्वनुष्टयः ॥—रामगीत, तस्यानुशासन । २. स श्रद्धात्यात्मनो । ३. सर्वेन्द्रियाणि संयम्य हितमितेनान्तरात्मना । यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्वं परमात्ममः ॥३०॥—समाधितत्त्व ।

प्रश्नति तथा निष्ठुतिमें समर्थ होता है।<sup>१</sup> मन सविकल्प अथवा चंचल रहे और इन्द्रियों अपने व्यापारसे निष्टृत हो जायें यह प्रायः नहीं बनता। श्री पूज्यपादाचार्यने भी समाधितन्त्रमें 'स्तोमतेनात्तरस्तमना' और इष्टोपदेशमें 'एकाग्रत्वेन चेतसः' पदके द्वारा इसी बातको व्यक्त किया है। इतना ही नहीं, प्रकृत पन्थमें भी उसका आगे स्पष्ट उल्लेख किया है—

निषिद्धं स्वार्थतोऽक्षाणि विकल्पातीतचेतसः ।  
तद्वूपं स्पष्टमाभाति कृताभ्यासस्य तस्मतः ॥४५॥

इस पदमें 'कृताभ्यासस्य' पदके द्वारा एक बात खास तौरसे और कही गयी है और वह यह कि यह आत्मदर्शन (यूँ ही सहज-साध्य नहीं) अभ्यासके द्वारा सिद्ध होता है अतः इन्द्रियोंको व्यापाररहित और मनको निर्विकल्प करनेके अभ्यासको बराबर बढ़ाते रहना चाहिए। मन तभी निर्विकल्प (स्थिर) होता है जबकि उसमें राग-द्वेषादिकी—काम-कोध-भान-माया-लोभ-मोह-शोक-भयादिकी—लहरें न हों, और ऐसा स्थिर अवस्था नीरी साधक ही आत्मतत्त्वके दर्शनका अधिकारी होता है—दूसरा कोई नहीं। जैसा कि पूज्यपादाचार्यके समाधितन्त्र गत निम्न वाक्यसे जाना जाता है—

राग-द्वेषादि-कल्पोलैरलोलं यन्मनोऽलभ् ।  
तं पश्यत्यात्मनस्तस्यं तत्त्वं नेतरो जनः ॥४५॥

श्रूतके द्वारा भी केवल-सम आत्मबोधकी प्राप्ति

आत्मा स्वात्मविचारज्ञैर्नीरागी भूतचेतनैः ।  
निरवद्यश्रुतेनापि केवलेनेव बुद्ध्यते ॥४६॥

'अपने आत्माके विचारमें निपुण राग-रहित जीवोंके द्वारा निर्वोष श्रुतशानसे भी आत्मा केवलशानके समान जाना जाता है।'

व्याख्या—यहाँ आत्मा एक दूसरे मार्गसे भी अपने शुद्धस्वरूपमें जाना जाता है इसका निर्देश है। यह मार्ग है निर्वोष श्रुतशानका और उस मार्गसे जाननेके अधिकारी हैं वे आत्मविचारमें निपुण विज्ञजन जिनका आत्मा प्रायः रागादिसे रहित हो राया है। यहाँ भी आत्माका साक्षात् अनुभव करनेवालेके लिए राग-द्वेषादिसे रहित होनेकी बात मुख्यतासे कही गयी है। यदि भन राग-द्वेषादिसे आकुलित है तो कितना भी श्रुताभ्यास किये जाओ उसके द्वारा आत्मदर्शन नहीं बन सकेगा। आत्मदर्शनकी पात्रताके लिए राग-द्वेषादिसे रहित होना आवश्यक है—मार्ग कोई भी ही सकता है: इन्द्रिय मनके व्यापारको दोक्कर देखना अथवा निर्मल भावश्रुतशानके द्वारा देखना।

जो भाव श्रुतशानके द्वारा आत्माके केवल शुद्ध स्वरूपका अनुभव करते हैं उन्हें 'श्रुत-केवली' कहा जाता है—जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

जो हि सुएणहिगच्छ अप्याणमिणं तु केवलं मुद्दं ।  
तं सुयकेवलिमिसिणो भण्ठति लोयप्पईवयरा ॥४॥

—समयसार।

१. इन्द्रियाणां प्रवृत्ती च निवृत्ती च मनः प्रभु । मन एवं ज्येत्तस्माजितते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥७६॥  
—रामसेम, तत्त्वानुशासन । २. आ निरवद्य ।

इस गाथामें जिसे 'केवल शुद्ध' कहा गया है प्रबचनसारकी ३३वीं गाथामें उसे ही 'ज्ञायकस्थभाव' रूप बतलाया है।<sup>१</sup>

जिनेन्द्र भगवान्के जिस श्रुतका—सूत्ररूप आगमका—यहाँ निर्देश किया है वह पौद्वगलिक वचनोंके द्वारा निर्दिष्ट होनेसे 'द्रव्य श्रुत' है—स्वतः ज्ञानरूप न होकर पुद्वगलके रूपमें है, उसकी जो ज्ञाति—ज्ञानकारी वह 'श्राव-शृणुज्ञान' कहलाती है। भाव-श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण पढ़नेसे उस द्रव्य-श्रुतको भी उपचारसे—व्यवहार नयसे—श्रुतज्ञान कहा जाता है। सूत्र तो उपाधिरूपमें होनेसे छूट जाता है, ज्ञाति ही अवशिष्ट रह जाती है। यह ज्ञाति केवलज्ञानीकी और श्रुतकेवलीकी आत्माके सम्बद्ध अनुभवनमें समान ही होती है, वस्तुतः ज्ञानका श्रुतोपाधिरूप भेद नहीं है। ऐसा श्री अमृतचन्द्राचार्यने प्रबचनसारकी ३४वीं आथाकी टीकामें व्यक्त किया है—

"अथ सूत्रमुपाधित्वान्लाक्रियते शमिरेवावशिष्यते । सा च केवलिनः श्रुतकेवलिनश्चात्म-संखेतने तुल्यवेति नास्ति ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदः ।"

स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनोंके सर्व-तत्त्व-प्रकाशनमें साक्षात्-असाक्षात्का—प्रत्यक्ष-परोक्षका—भेद है—जीवाजीवादि तत्त्वों-के यथार्थरूपसे जाननेमें कोई अन्तर नहीं है; जैसा कि देवागमकी निष्ठा कारिकासे प्रकट है—

स्याद्वादनेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।  
भेदः साक्षात्वसाक्षात्वं हृत्यस्त्वन्यतम् भवेत् ॥१०५॥

आत्माके सम्बन्धव्याख्यातिरिच्च कम होता है  
रागद्वेषापराधीनं यदा ज्ञानं प्रवर्तते ।  
तदाभ्यधायि चारित्रमात्मनो मलमृदनम् ॥३५॥

'जब ज्ञान राग-द्वेषको प्रराधीनतासे रहित हुआ प्रवर्तता है तब आत्माके वह चारित्र होता है जो कि मलका—कर्म-कालिमाका—नाशक है।'

उपाध्या—जिस समय ज्ञान राग-द्वेषके अधीन नहीं प्रवर्तता—जिस ज्ञेयको जानता है उसमें राग-द्वेष रूपसे विवृत न होकर मध्यस्थभाव बनाये रखता है—उस समय सम्बद्ध चारित्रकी प्रादुर्भूति आत्मामें स्वतः हो जाती है, उसके लिए किसी प्रयत्न-विशेषकी ज़रूरत नहीं रहती। और यह सचरित्र ही आत्मामें लगे कर्ममलको धो डालनेमें समर्थ होता है—कर्ममल इस चारित्रके प्रभावसे स्वतः बुल जाता है, उसको आत्मासे पृथक् होना ही पड़ता है। इससे सार यह निकला कि यदि अपने आत्माको निर्मल करना अथवा रखना है तो अपने ज्ञानको राग-द्वेषरूप कपायके अधीन नहीं होने देना चाहिए। मोह-जनित राग-द्वेषमें सभी कपायोंका समावेश है। रागमें माया, लोभ इन दो कपायों और हास्य, रति तथा काम ( वेद ) इन तीन नोकपायोंका समावेश है, और द्वेषमें क्रोध, मान इन दो कपायोंका तथा

१. जो हि सुदेष विज्ञाणदि अप्प्याणं जाणगं सहावेण । तं सुयकेवलिमिसिणो भण्ति लोयप्पदेवपरा ॥३३॥ —प्रबचनसार । २. सुतं जिणोवदिदु पोगलदब्लप्पयेहि व्यष्टे त्रिं । तं जाणणा हि याणं सुतस्य य जाणणा भणिया ॥३४॥

अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन सार लोकयात्रोंका अन्तर्भाव है। जो राग मिथ्यादर्जनसे युक्त होता है उसे 'मोह' कहते हैं।<sup>१</sup>

ज्ञानके कथायत्रा होनेपर अहिंसादि कोई वत नहीं छहरता

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्म सङ्गविवर्जनम् ।

कथाय-विकले ज्ञाने समस्तं नैव तिष्ठति ॥३६॥

'ज्ञानके कथायसे विकल—विद्वाल अथवा स्वभावच्युत—होनेपर अहिंसा, सत्य, अचीर्य, असुचर्य तथा अपरिग्रह पर सब ( ब्रत-समूह ) स्थिर नहीं रहता—इसमेंसे कोई भी ब्रत नहीं बनता।'

**व्याख्या**—इस पद्ममें चारित्रके प्रसिद्ध अंगभूत अहिंसा, सत्य, अस्तेय ( अचीर्य ), असुचर्य और अपरिग्रह-रूपसे जिन पाँच महाब्रतोंका उल्लेख है उनके विषयमें एक बड़ी ही महत्त्वकी बात सुझायी है और वह कि ज्ञानके कथायसे—राग-द्वेषसे—व्याकुल एवं दूषित होनेकी अवस्थामें एक भी महाब्रत स्थिर रहने नहीं पाता—सब आत्मासे कूँच कर जाते हैं। अतः जो महाब्रती है—जिन्होंने मुनिदीक्षा धारण करते समय पंच महाब्रतोंके पालनकी प्रतिज्ञा ली है तथा जो उनका पालन कर रहे हैं—उन्हें समझना चाहिए कि जिस किसी समय भी हम अपने ज्ञानके कथायसे आकुलित होने देंगे उसी समय हमारे पाँचों महाब्रत भंग हो जायेंगे और उस वक्त तक भंग रहेंगे जबतक ज्ञानमें कथायकी वह उद्दिष्टता अथवा राग-द्वेषकी वह परिणति स्थिर रहेगी। और इसलिए ब्रतभंगसे भयभीत मुनियों तथा योगीजनोंको बहुत ही सावधानीसे बर्तना चाहिए—यों ही अपनेको हर समय महाब्रती न समझ लेना चाहिए। जो ज्ञानी जिस समय भी कथायके ब्रह्म होता है वह उसी समय असंयत हो जाता है, जैसा कि रथणसार और परमात्मप्रकाशके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

गाणी कसायबस्तगो असंजबो होदि सो ताव ॥७१॥—रथणसार

जावहु याणिड उबसमह तामह संजबु होइ ।

होइ कसायहं बसि गयउ जोउ असंजबु सोइ ॥—परमात्मप्रकाश २-४१

ज्ञानके आत्मरूप-रत होनेपर हिंसादिक पापोंका पलायन

हिंसत्वं चित्तं स्तेयं मैथुनं सङ्गसंग्रहः ।

आत्मरूपगते ज्ञाने निःशेषं प्रपलायते ॥३७॥

'ज्ञानके आत्मरूपमें परिणत होनेपर हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह ( यह ) सब ( पाप-समूह ) भाग जाता है—इनमेंसे कोई भी पाप नहीं बनता।'

**व्याख्या**—इस पद्ममें भी पूर्वपश्च-जैसी ही महत्त्वकी बात सुझायी है। इसमें हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह नामके पाँचों पापोंका उल्लेख करके लिखा है कि 'जब ज्ञान आत्मरूपमें रत हुआ उसका चिन्तन करता है तब ये पाँचों पाप स्वतः भाग जाते हैं—कोई भी पाप पास फटकने नहीं पाता। इससे आत्माकी शुद्धि स्वतः थनी रहती है—उसको शुद्ध

१. रागः प्रेम रत्नमया लोमं हास्यं च पञ्चवा । शिष्यात्वभेदयुक्त सौर्गि मोहो डेषः कृषादिवद् ॥

—अध्यात्मरहस्य २७ । २. एव समस्ते नैव तिष्ठते ।

करने तथा शुद्ध रखनेका दूसरा कोई खास प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं रहती । यह सब आत्मध्यानकी महिमा है ।

आत्माके निर्मल शासादिरूप-ध्यानसे कर्मच्युति  
‘चारित्र’ दर्शनं ज्ञानमात्मरूपं निरञ्जनम् ।  
कर्मभिर्षुच्यते योगी ध्यायशानो न संशयः ॥३८॥

‘निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र ( यह ) आत्माका स्वरूप है । इस आत्मरूपको ध्याना हुआ योगी कर्मोंसे छूट जाता है, इसमें सन्वेदनकी कोई वात नहीं है ।’

**ध्यालय—**जिस आत्मरूपकी पिछले पद्ममें सूचना की गयी है उसे इस पद्ममें निर्मल दर्शन, ज्ञान तथा चारित्ररूप निर्दिष्ट किया है । साथ ही यह बतलाया है कि इस ( रजत्रय ) रूपका ध्यान करता हुआ योगी कर्मोंसे अवश्य ही छुटकारा पाता है—ध्यानमें जितनी-जितनी एकाग्रता होती है उतने-उतने ही कर्मोंके बन्धन छूटते जाते हैं । अतः इससे कर्मचन्दनोंसे छुटकारा ‘पाया’ अपने अपील है—‘पराधीन कुछ भी नहीं । आने आत्मध्यानकी शक्तिको बढ़ाना चाहिए ।

पर-द्रव्य-रत्न-योगीको स्थिति  
यः करोति पर-द्रव्ये रागमात्म-पराह्मुखः ।  
रत्नत्रय-मयो नासौ न चारित्र-वरो यतिः ॥३९॥

‘जो योगी आत्मासे पराह्मुख हुआ पर-द्रव्यमें राग करता है वह योगी न तो रत्नत्रयमय है और न ( शुद्ध ) चारित्रपर चलनेवाला है ।’

**ध्यालय—**पिछले पद्ममें यह बतलाया है कि आत्मस्वरूपका ध्यान करता हुआ योगी कर्मचन्दनसे छूटता है । इस पद्ममें उस योगीका उल्लेख है जो आत्मध्यानसे मुख मोड़े हुए परद्रव्यमें राग रखता है । उसके विषयमें लिखा है कि वह न तो सम्यन्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयका घारक है और न ( शुद्ध ) चारित्रपर ही चलनेवाला है । वस्तुतः परद्रव्यमें आसक्त वही होता है जो आत्मस्वरूपसे विमुक्त होता है और जो आत्मस्वरूपसे विमुक्त है उसके रत्नत्रयकी वात तो दूर, शुद्धचारित्रका आचरण भी नहीं बनता ।

निश्चय-चारित्रका स्वरूप  
अभिज्ञमात्मनः शुद्धं ज्ञानदृष्टिमर्य सुखम् ।  
चारित्रं ध्ययते शश्वच्चारु-चारित्रवेदिभिः ॥४०॥

‘ओ सम्यक् चारित्रके अनुभवी हैं वे आत्मासे अभिज्ञ स्पष्ट शुद्ध दर्शन-ज्ञान-मय चारित्रका सबा आचरण करते हैं ।’

**ध्यालय—**पिछले पद्ममें जिस चारित्रका उल्लेख है उसके दो भेद हैं : एक निश्चय और दूसरा व्यवहार । इस पद्ममें निश्चय चारित्रके स्वरूपका उल्लेख है और उसे आत्मासे अभिज्ञ शुद्ध स्पष्ट ज्ञानदर्शनमय बतलाया है—अर्थात् अपने आत्माके शुद्ध-स्पष्ट ज्ञान-दर्शनको लिये हुए जो आत्मचर्था है—आत्मामें रमण है—उसे निश्चयचारित्र निर्दिष्ट किया है । और साथ ही यह सूचित किया है कि जो सम्यक् चारित्रके मर्मज्ञ हैं वे सदा इस निश्चयचारित्रपर चलते हैं—अपनी परिणतिको सदा शुद्ध ज्ञान-दर्शन-रूप बनाये रखते हैं ।

व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका रूप

‘आचार-वेदनं ज्ञानं सम्यग्क्वयं तत्त्वनोशनम् ।  
चारित्रं च तपश्चर्या व्यवहारेण गच्छते ॥४१॥

‘व्यवहारसे—व्यवहारनयकी अपेक्षासे—तत्त्वरचिको सम्यग्दर्शन, आचारवेदनको—आचारार्णादि-श्रुतके ज्ञाननेको—अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्यके भेदभल्प पाँच प्रकारका जो आचार हैं उसके अधिगमको सम्यग्ज्ञान और तपश्चर्य प्रवृत्तिको सम्पदक्चारित्र कहा जाता है।’

**व्याख्या**—इस पद्यमें व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका निर्देश है, तत्त्वों-पदार्थोंकी लक्षि-प्रतीति अथवा अद्वाको सम्यग्दर्शन बतलाया है और उसके लिए कुन्दकुन्दाचार्यके पंचास्तिकाय (गा० १०७) तथा समयसार (गा० १५५) प्रन्थोंकी तरह ‘सम्यक्त्व’ शब्दका प्रयोग किया है, जो कि सम्यग्दर्शनका पर्याय-नाम है और जिसे समयसारकी २७६वीं गाथामें ‘दंसण’ शब्दसे भी उल्लिखित किया है। आचार-वेदन (ज्ञान)को सम्यग्ज्ञानके रूपमें निर्दिष्ट किया है। इस ‘आचार-वेदन’ पदमें ‘आचार’ शब्द दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ ज्ञान पढ़ता है—एक तो द्वादशार्ण-अन्तके श्रथम् श्वर्ग आचारार्णके अर्थमें। इस अर्थमें इसे ग्रहण करनेसे शेष अंगोंके ज्ञानको भी उपलक्षणसे साथमें ग्रहण करना होगा। इसीसे कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारकी २७६वीं गाथामें ‘आचारार्णीणाणं’ इस वाक्यमें आचार (आचार) के साथ ‘आदि’ शब्दको जोड़ा है और पंचास्तिकायकी १६०वीं गाथामें ‘णाणमंगपुष्पवर्गं’ वाक्यके द्वारा स्पष्ट ही अंगों तथा पूर्वोंके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान बतलाया है। दूसरा अर्थ मूलाचार-यग्नित दर्शनाचारादि रूप पाँच प्रकारके आचार-ज्ञानसे सम्बन्ध रखता है, जिसमें प्रकारान्तर-से सारे श्रुतज्ञानका समावेश हो जाता है। ‘तपश्चर्या’ का नाम यहाँ ‘सम्यक्चारित्र’ बतलाया है, जो कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यके ‘चेद्गु तवं मिह चरिता’ इस वाक्यके समकक्ष है और जिसका आशय समभाव (समता) अथवा रागादिके परित्यागसे है।

स्वभाव-परिणत आत्मा ही वस्तुतः मुक्तिमार्गं

सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र-स्वभावः परमार्थतः ।

आत्मा राग-विनिर्मुक्तो मुक्ति-मार्गो विनिर्मलः ॥४२॥

‘परमार्थसे—निश्चय नयकी अपेक्षासे—रामरहित विगतकर्मस्तल एवं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-स्वभावमें स्थित आत्मा भोक्त्रमार्ग है।’

**व्याख्या**—पारमार्थिक दृष्टिसे आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वभावको लिये हुए है। इस स्वभावको ही ‘वत्युतहायो धम्मो’ इस सूत्रके अनुसार ‘धर्म’ कहा जाता है; जैसा कि

१. धम्मादीसद्गुणं सम्मतं णाणमंगपुष्पवर्गं । चेद्गु तवं मिह चरिता व्यवहारो मोक्षमग्नो त्ति ॥१६०॥
- पञ्चास्तिं । २. सम्मतं सहर्णं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं । चारितं समभावो विसर्वेषु विरुद्धमग्नाणं ॥१०३॥ जीवादीसद्गुणं सम्मतं तेसिमधिगमो णाणं । रायादीपरिहरणं चरणं एतो हु मोक्षमग्नो ॥१५५॥ आचारादी णाणं जीवादी दंतर्णं च विष्णोर्य । छञ्जीवणिकं च तहा भण्ड चरितं तु व्यवहारो ॥२७६॥ ३. चारितं समभावो विसर्वेषु विरुद्धमग्नाणं —पञ्चास्तिं १०३ । रायादी परिहरणं चरणं —समयसार १५५ । चारितं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोति णिहितो । मोह-क्षोहविहीणो परिणामी अप्पणो हु समो ॥—प्रबचनसार ३

स्वतन्त्री द्वारा भवद्वेषे 'शाश्वत-ज्ञान-पूर्वानि यर्म घर्मेभ्वराः बिदुः' इस वाक्यसे जाना जाता है। यह स्वभाव जब विभाव-परिणमनमें कारणभूत कर्ममलके दूर होनेसे निर्मलताको प्राप्त होता है तब आत्मा स्वयं रागसे विमुक्त हुआ मुक्तिमार्गरूप परिणत होता है।

मुक्तिका मार्ग या कारण आत्मासे भिन्न कोई परन्परार्थ नहीं है। आत्माका स्वभाव यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र बतलाया है और इसीको 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादि आगम-वाक्योंके द्वारा भोक्षमार्ग निर्दिष्ट किया गया है। इससे दोनों अभिन्न हैं यह स्पष्ट हो जाता है। आत्मा अपनी मुक्ति स्वयं न करके कोई दूसरा उसे करने आयेगा, यह धारणा चिल्हुल गलत और भावन्त है। अतः मुमुक्षु आत्मा अपने बन्धनकी स्थितिको भली प्रकार जानकर उससे छूटनेका स्वयं उपाय करता है। यह छूटनेका उपाय जिसे 'मोक्षमार्ग' कहते हैं, अपने आत्मस्वरूपमें स्थितिके सिवाय और कुछ नहीं है। जिस समय यह स्वरूपस्थिति पूर्णताको प्राप्त होती है उसके उत्तराङ्कणमें ही मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

जिस कर्ममलके निमित्तसे आत्माका अपनी वैभाविकी शक्तिके कारण विभाव-परिणमन होता है वह मुख्यतः द्रव्य और भाव मलके भेदसे दो प्रकारका है। ज्ञानावरणादि-द्रव्य-कर्मरूप परिणत होकर आत्माके साथ सम्बन्धको प्राप्त हुए जो पुद्गलपरमाणु हैं उन्हें 'द्रव्य-कर्ममल' कहते हैं। और द्रव्यकर्ममलके उदयका निमित्त पाकर जो राग-द्वेष-मोहादिरूप विकारभाव उत्पन्न होते तथा नवीन कर्मबन्धका कारण बनते हैं उन्हें 'भावकर्ममल' समझना चाहिए।

निश्चयसे आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप

‘यश्चरत्यात्मनात्मानमात्मा जानति पश्यति ।

निश्चयेन स चारित्रं ज्ञानं दर्शनमुच्यते ॥४३॥

‘जो आत्माको निश्चयसे—निश्चय नयकी दृष्टिसे—देखता, जानता और आचरता (स्वरूपमें प्रवृत्त करता ) है वह आत्मा ही (स्वयं) दर्शनरूप (स्वयं) ज्ञानरूप और ( स्वयं ) चारित्ररूप कहा जाता है।’

ध्यात्वा—पिछले पदमें मुक्तिमार्गको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप त्रितयात्मक निर्दिष्ट किया है; इस पदमें बतलाया है कि ये तीन रूप तीन भिन्न वस्तुओंका कोई समुदाय नहीं है, निश्चयनयकी दृष्टिसे ये दर्शन-ज्ञान और चारित्र तीनों एक ही आत्माके रूप हैं; क्योंकि निश्चय नय अभिन्न-कर्तु-कर्मादि-विषयक होता है—जो आत्मा जिसको देखता, जानता अथवा जिस रूप आचरण करता है वह निश्चय नयकी अपेक्षा स्वसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं होती।

१. निश्चयतयेन भग्नितस्त्रभिरेविर्यः समाहितो भिदुः । नैवादत्ते किञ्चित्प्र मूळचति मोक्षहेतुरसौ ॥

—तत्त्वानु० ३१ ॥ सम्मद्वासणगार्ण चरणं भोक्तुस्त्वं कारणं जाण । वक्तारा णिच्छयदो तत्त्वयगद्यो णिक्तो अणा ॥—द्रव्यसं० ३९ । २. जो चरदि णावि पेच्छदि अप्याणं अपणा अणणामयं । सो चारितं णाणं दंसणभिदि णिच्छदो होदि ॥१६२॥—पञ्चास्ति० ।

३. अभिन्नकर्तु-कर्मादिविषयो नियवयो नयः । व्यवहारनयो भिन्नकर्तु-कर्मादिगोचरः ॥—तत्त्वानु० २९ ।

आत्मोपासनाते भिन्न विव-सुख-प्राप्तिका कोई उपाय नहीं  
 तस्मात्सेव्यः परिज्ञाय श्रद्धयात्मा शुश्रुतमिः ।  
 लब्ध्युपायः परो नास्ति यस्मान्निर्णयशर्मणः ॥४४॥

‘अतः सुमुक्षुओंको उक्त प्रकारसे आत्माको जानकर अद्वाके साथ उसका सेवन करना चाहिए, क्योंकि मोक्षसुखकी प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है।’

**व्याख्या**—जिस दर्शन-ज्ञान-चारित्रको मुक्तिमार्ग कहा गया है वह जब पूर्व-पदानुसार स्वात्मासे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है तब मुमुक्षुओंको—मुक्तिप्राप्तिके इच्छुकोंको—स्वात्मा-को उसके शुद्ध स्वरूपमें भले प्रकार जानकर अद्वाके साथ उसका सेवन करना चाहिए; क्योंकि शुद्धस्वात्माका सेवन छोड़कर मुक्तिसुखकी प्राप्तिका दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। मुक्तिकी प्राप्तिमुक्तिसुखके लिए ही चाही जाती है, जो सर्व प्रकारसे निराकुल, अधाधित एवं परतन्त्रता-से दृष्टि द्वारा है। यदि वह सुख लक्ष्यमें नहीं तो मुक्तिप्राप्तिकी इच्छाका कोई अर्थ ही नहीं।

आत्मस्वरूपकी अनुभूतिका उपाय

‘निविध्य॑ स्वार्थतोऽक्षाणि विकल्पातीत-चेतसः ।  
 तद्व॑रं स्पष्टमाभाति कुताभ्यासस्य तस्थितः ॥४५॥

‘इन्द्रियोंको अपने विषयोंसे रोककर आत्मव्याप्तिका अन्यास करनेवाले निर्विकल्प-चित्त व्याताको आत्माका वह रूप बस्तुतः स्पष्ट प्रतिभासित होता है—साक्षात् अनुभवमें आता है।’

**व्याख्या**—यहाँ आत्माके उस शुद्ध स्वरूपका अनुभव कैसे किया जाय इसके उपायकी वह सूचना और स्पष्ट रूपसे की गयी है जिसे आचार्य महोदय प्रनथके ३६वें पद्धमें बतला आये हैं और इसलिए उसे उक्त पद्धकी व्याख्यासे जानना चाहिए। इस पद्धमें ‘तद्व॑रं स्पष्टमाभाति’ इस चाक्यके द्वारा यह ज्ञास घोषणा की गयी है कि उक्त उपायसे अच्छे अन्यासीको आत्माका वह शुद्ध स्वरूप स्पष्ट-साक्षात् प्रतिभासित होता है—उसमें कुछ परोक्ष नहीं रहता, भले ही वह एक क्षणके लिए ही क्यों न हो।

आचार्य देवसेनने तो आराधनासारमें इस विषयको और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ‘मन मन्दिरके उजाड़ होनेपर—उसमें किसी भी संकल्प-विकल्पका चास न रहने-पर—और समस्त इन्द्रियोंका व्यापार नष्ट हो जानेपर आत्माका स्वभाव अवश्य आविर्भूत होता है और उस स्वभावके आविर्भूत होनेपर यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता है।—

उच्चसिए भणगेहे णहैं णिस्तेस-करण-बावारे ।  
 विस्फुरिए ससहवे बप्पा परमपंथो हृवदि ॥४५॥

विवित केवलज्ञामसे भिन्न आत्माका कोई परमरूप नहीं

‘स्वसंविदितमत्यक्षमव्यभिचारि केवलम् ।  
 न इस्ति ज्ञानं परित्यज्य रूपं चेतयितुः॑ परम् ॥४६॥

१. सर्वेन्द्रियाणि सर्वमन्य स्तिमितेनान्तरात्मनः । यत्काण पश्यतो भाति तत्स्वं परमात्मनः ॥३०॥  
 —समाधितन्त्र । २. आ निषिध्यः, न्या निषिध्यः । ३. आ स्वसंदेवतमत्यक्ष । ४. न्या नयतु ।

‘जो अतीन्द्रिय है—इन्द्रियोंकी सहायतासे रहित है—अव्यभिचारी है—जिसका कभी भी संशय-विषयेवादि-रूप अन्यथा परिणमन नहीं होता—और स्वतः संविदित है—स्वयं अपने द्वारा आपको जानता है—उस केवलज्ञानको छोड़कर आत्माका दूसरा कोई परम-रूप नहीं ।’

व्याख्या—यहाँ आत्माके उस परमरूपके विषयमें यह धोषणा की गयी है कि वह केवल-ज्ञानको छोड़कर दूसरा और कुछ नहीं है। साथ ही केवलज्ञानको स्पष्ट करनेके लिए उसके तीन विशेषण दिये गये हैं—१ अत्यक्ष, २ अव्यभिचारी, ३ स्वसंविदित। अत्यक्ष अतीन्द्रियको कहते हैं—जो ज्ञान स्पर्शनादि किसी भी इन्द्रियकी सहायताके बिना जानता है वह ‘अत्यक्ष’ (अतीन्द्रिय) ज्ञान कहलाता है। जिस ज्ञानमें कभी भी अन्यथा परिणामरूप व्यभिचारन्दोष नहीं आता उसे ‘अव्यभिचारी’ समझना चाहिए। और जो ज्ञान स्वयं अपने ही द्वारा सम्यक्ज्ञात होता है—भानु-मण्डलकी तरह परके द्वारा अप्रकाशित होता है—उसे ‘स्वसंविदित’ कहा जाता है।

परबस्तुमें अणुमात्र भी राग रखनेका परिणाम

यस्य रागोऽणुमात्रेण विद्यतेऽन्यत्र चस्तुनि ।  
आत्मसत्त्व-परिज्ञानीं चध्यते<sup>१</sup> कलिलैरपि ॥४७॥

‘जिसके पर-बस्तुमें अणुमात्र—सूक्ष्मसे सूक्ष्म—भी राग विद्यमान है वह आत्म-तत्त्वका जाता होनेपर भी पापोंसे—कहाँ प्रकृतियोंसे—बचता है।’

व्याख्या—यीठे ३६वें पदमें यह घटला आये हैं कि जो योगी आत्मज्ञानसे विमुख हुआ परद्रव्यमें राग करता है वह न तो रत्नत्रयरूप है और न चारित्रपर चलनेवाला ही है। इस पदमें यह घटलाया है कि जो योगी आत्मतत्त्वसे विमुख न होकर उसका परिज्ञाता तो है परन्तु परबस्तुमें बहुत धोड़ा-सा राग भी यदि रखता है तो वह कर्म-बन्धनसे अवश्य बन्धको प्राप्त होता है—मात्र सम्यग्ज्ञानका होना कर्मबन्धको रोकनेमें समर्थ नहीं है। उसके लिए राग-द्वेषके अभावरूप सम्यक् चारित्रका होना भी जरूरी है।

परमेष्ठिरूपकी उपासना परमपुण्य-बन्धका हेतु

‘यो विहायात्मनो रूपं सेवते परमेष्ठिनः ।  
स बन्नाति परं पुण्यं न कर्मचयमशुते ॥४८॥

‘जो आत्माके रूपको छोड़कर परमेष्ठीकी सेवा करता है—अरहन्तादि परमेष्ठियोंके रूप-को ध्याता है—वह उत्कृष्ट पुण्यको बोधता है, किन्तु कर्मक्षयको पूर्णतः प्राप्त नहीं होता—आत्मामें शुभकर्मोंका आगमन (आस्त्रबन्ध) बना रहता है।’

व्याख्या—४४वें पदमें मुमुक्षुके लिए मुक्तिप्राप्तिके अर्थ एकमात्र आत्म-सेवाकी वात कही गयी है और यहाँतक लिखा है कि दूसरा कोई भी उपाय मुक्तिकी प्राप्तिका नहीं है। इसपर यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या अरहन्तादि परमेष्ठियोंकी सेवाभक्तिसे मुक्तिकी प्राप्ति

१. सु परिज्ञानोऽव्या परिज्ञा नां । २. आ बध्यते । ३. अरहत-सिद्ध-बैदिय-पवयण-गण-शाण-भक्ति-संपर्णो । बंघदि पूर्णं बहुसो ऽ दु सो कर्मक्षयं कृणदि ॥१६६॥—पञ्चास्ति० ।

नहीं होती ? इसके उत्तरमें ही इस पद्धका अवतार हुआ जान पड़ता है। इसमें बतलाया है। कि जो आत्मरूपको छोड़कर परमेष्ठिरूपकी उपासना करता है वह उक्त पुण्यका बन्ध करता है और इसीलिए कर्मका सर्वथा श्रव्य नहीं कर पाता। कर्मोंका सर्वथा श्रव्य हुए विना मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती। मुक्तिकी प्राप्तिके लिए उसे अहंतादिके प्रति भक्ति-रागको भी छोड़ना पड़ेगा। यद्यपि यह राग शुभ होता है, इसमें अशुभ कर्मके बन्धको अवसर नहीं, प्रत्युत इसके पूर्व बँधा हुआ अशुभ कर्म लूट जाता है; फिर भी यह राग नये पुण्य बन्धका कारण तो है ही, जिसके फलस्वरूप भक्तको देवलोककी—स्वर्गादिकी—प्राप्ति होती है। ऐसा कि एंत्रामित्यायकी निम्न गाथासे प्रचल है :—

अराहं-सिंह-चेतिथ-पञ्चयण-भल्लो परेण षियमेण ।

जो कृष्णदि तत्वोक्तम् सो सुरलोगे समादियदि ॥१७१॥

इसमें बतलाया गया है कि जो अर्हन्त, सिद्ध, चैत्य तथा प्रबोधनका भक्त हुआ उक्त (भक्ति) रूपसे वपुश्चरण-कार्य करता है वह नियमसे देवलोकको प्राप्त करता है।

## कर्मसूल्यको रोकानेका अन्य उपाय

नागच्छच्छक्षयते कर्म रोद्धुं केनापि निश्चितम् ।  
निराकृत्यै दद्रव्याण्यात्मतश्वरति विना ॥४६॥

‘परद्रव्योंको छोड़कर आत्मतत्त्वमें रति-लीनता किये बिना असे हुए कर्मको—आत्मामें प्रचिष्ट पर्वं संश्लिष्ट (आत्मवृत्त्युको प्राप्त) होते हुए कर्म-समूहको—किसी भी उपायसे रोकना सम्भव नहीं: यह निश्चित है।’

**च्याल्या**—इस पद्यमें परद्रव्योंकी उपासना छोड़नेकी वातको और दृढ़ किया गया है। लिखा है कि परद्रव्योंको—परद्रव्योंमें रतिको—छोड़कर आत्म-तत्त्वमें रनि किये बिना दूसरे किसी भी उपायसे आत्मामें कर्मोंके आगमनको—आचरणको—रोका नहीं जा सकता, यह असन्दिग्ध है। अतः मोशप्राप्तिके अभिलाषियोंको कर्मोंके आचरण-बन्धसे छुटनेके लिए परद्रव्योंकी उपासनाको छोड़कर आत्मध्यानमें रतिको अपनाना चाहिए।

## पटदल्लोपासक-ममक्षअौकी स्थिति

ये मूढा लिप्सवो मोक्षं परद्रव्यमुपासते ।  
ते यान्ति सागरं पन्ते हिमवन्तं वियासवः ॥१०

‘जो मोक्षकी लालसा रखते हुए परद्रव्यकी उपासना करते हैं—पर-द्रव्योंके भक्त एवं सेवक यन्हे हुए उन्हींके पीछे ढोलते हैं—वे मूढ़जन हिमवान पर्वतपर चढ़नेके इच्छुक होते हुए समृद्धकी ओर चले जाते हैं, ऐसा भैं सानता है।’

**व्याख्या**—यहाँ उन लोगोंको मूढ़—महामूर्ख मिथ्यादृष्टि—बतलाया गया है जो लालसा तो रखते हैं मोक्षकी और उपासना करते हैं पर-पदार्थोंकी। पर-पदार्थोंके बन्धनसे सर्वथा शूटनेका नाम ही तो 'भोक्ता' है, जब पर-पदार्थोंमें अनुराग रखा जाता है तब उनके बन्धनसे छूटना कैसा ? ऐसे लोगोंकी स्थिति उन चात्रियों-जैसी है जो जाना तो चाहते हैं हिमालय पर्वतपर और चले जा रहे हैं समुद्रकी तरफ !

परद्रव्य-विचिन्तक और विविक्तात्म-विविन्दककी स्थिति

**परद्रव्यीभवत्यात्मा परद्रव्यविचिन्तकः ।  
किंप्रेमात्मत्वमायाति विविक्तात्मविविन्दकः ॥५१॥**

‘पर-द्रव्योंकी चिन्तामें मन रहनेवाला आत्मा परद्रव्य-जीव हो जाता है और शुद्ध आत्मा-के ध्यानमें मन आत्मा शीघ्र आत्मतत्त्वको—अपने शुद्धस्वरूपको—प्राप्त कर लेता है।’

व्याख्या—इस पदमें परपदार्थोंकी चिन्ताके दोषको और स्वात्मचिन्ताके गुणको दर्शाया है; लिखा है कि जो गिन्तर परद्रव्योंकी चिन्तामें उत्त रहता है वह परद्रव्य-जीव हो जाता है और जो शुद्ध आत्माके चिन्तामें लीन रहता है वह शीघ्र ही अपने आत्म-स्वरूपको प्राप्त होता है—परद्रव्यरूप अथवा बहुरात्मा नहीं रहता।

### विविक्तात्माका स्थरूप

**कर्म-नोकर्म-निषुक्तममूर्तमजरामरम ।  
निर्विशेषमसंबद्धमात्मानं योगिनो विदुः ॥५२॥**

‘योगी-जन आत्माको कर्म-नोकर्म-विमुक्त—ज्ञानाचरणादि द्रव्य कर्मों, रागहेपादिभाव-कर्मों और शरीरादि नोकर्मसे रहित—अमूर्तिक—स्पर्श, रस-गन्ध-वर्ण-विहीन—अजर-अमर—जन्म-जरा-मरणसे अतिक्रान्त—निर्विशेष—विशेष अथवा गुण-भेदसे इन्य सामान्य-वरूप—और असम्बद्ध—सब प्रकारके सम्बन्धों एवं बन्धनोंसे रहित स्वतन्त्र (स्वाधीन)—बतलाते हैं।’

व्याख्या—जिस शुद्धात्माके चिन्तनका पिछले पथमें उल्लेख है उसे यहाँ एक दूसरे ही ढंगसे स्पष्ट किया गया है—यह बतलाया गया है कि वह आत्मा (द्रव्य-भावरूप) कर्मोंसे, (शरीरादि रूप) नोकर्मोंसे विमुक्त है, (स्पर्श-रस, गन्ध-वर्णकी व्यवस्थारूप, मूर्तिसे रहित) अमूर्तिक है (कभी जरासे व्याप्त न होनेवाला) अजर है, (कभी मरणको प्राप्त न होनेवाला) अमर है, सब विशेषोंसे रहित अविशेष और सब प्रकारके बन्धनोंसे रहित असम्बद्ध है। योगिजनोंने इसी रूपमें शुद्धात्माका अनुभव करके उसका निर्देश किया है।

आत्माके स्वभावसे वर्ण-गन्धादिका अभाव  
**वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-देहेन्द्रियादयः ।  
चेतनस्य न विद्यन्ते निसर्गेण कदाचन ॥५३॥**

१. आ किंप्रमात्मत्व । २. जो पत्तदि अप्पार्णं अवद्युतुं अण्णयं णिथदं । अविसेसमसंजुलं तं सुदृणयं विधाणीहि ॥५४॥—समयसार । ३. जीवस्स णत्य वणो णवि गंधो णवि रसो णवि थ कासो । णवि रुवं च सरीरं णवि संठाणं च संहृणणं ॥५०॥ जीवस्स णत्य रागो णवि दोसो णवि विज्जवे भोहो । णो पञ्चया ण कर्मं णोकर्मं चात्रि से णरिय ॥५१॥ जीवस्स णत्य वग्गो ण दग्गणा णवि फड्डया केह । णो अज्ञाप्यट्टाणा णवि य अणुभाय ठाणा वा ॥५२॥ जीवस्स णत्य केह जीवट्टाणा ण दग्गणा वा । णवि य उदयट्टाणा ण मग्गणट्टाणया केह ॥५३॥ णो डिदिर्घट्टाणा जीवस्स ण संकिळेस-ठाणा वा । णवि य दिसोहिट्टाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५४॥ णवि य जीवट्टाणा ण गुणट्टाणा य णत्य जोषस्स । जेण बु एवे सब्बे पुगलद्रव्यस्स परिणामा ॥५५॥—समयसार ।

‘जेतन-आत्माके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, देह, इन्द्रियों आदिक स्वभावसे किसी समय भी विद्यमान नहीं होते।’

**व्याख्या**—पिछले पश्चमें शुद्धात्माके जो ‘कर्मनोकर्मनिर्मुक्त’ और ‘अमूर्त’ विशेषण दिये गये हैं उनके विषयको यहीं स्पष्ट किया गया है : लिखा है कि वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, देह और इन्द्रियादिके सब कभी भी स्वभावसे चेतनात्माके रूप नहीं होते, क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्यके परिणाम हैं। ‘आदि’ शब्दसे रूप, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, मार्गणा, तथा कर्मवर्गणादि गुणस्थान-पर्यन्त उन सब भावोंका प्रकार है जिनका समयसारमें (गाथा ५० से ५५ तक) उल्लेख है। यह सब कथन निश्चयनयकी हांडिसे है, जिसका सूचन ‘निसर्गण’ पदसे होता है, जो स्वभावका वाचक है—विभावका नहीं। पुद्गल द्रव्यके सम्बन्धसे जो कुछ परिणाम आत्मामें होता है वह सब विभाव-परिणाम है और इसलिए जीवके वर्णादिकका होना यह सब व्यवहार-नयकी हांडिसे है, निश्चय-नयकी हांडिसे नहीं; जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारकी निम्न गाथामें प्रकट किया है :—

ववहरेण तु एवे जीवस्तु हृवति वण्णमाईया ।  
गुणठाणंता भावा ण तु केऽपि णिरुद्ययणयस्त् ॥५६॥

शरीर-योगसे वर्णादिकी स्थितिका स्पष्टीकरण

शरीर-योगतः सन्ति वर्ण-गन्ध-रसादयः ।  
स्फटिकस्येव शुद्धस्य रक्त-पृष्णादिन्योगतः ॥५४॥

‘शुद्ध आत्माके वर्ण गन्ध रस आदिक शरीरके सम्बन्धसे होते हैं; जैसे शुद्ध-वेत स्फटिकके लाल-पीले-हरे आदि पुष्पोंके योगसे लाल-पीले-हरे आदि वर्ण (रंग) होते हैं।’

**व्याख्या**—इस पश्चमें आत्माका वर्णादिक विकाररूप विभाव-परिणामन निश्चयसे नहीं होता किन्तु व्यवहारसे कहा जाता है, इस बातको एक उदाहरण-द्वारा दर्शाया गया है। लिखा है कि जिस प्रकार लाल-पीले-हरे आदि पुष्पोंके योगसे शुद्ध स्फटिकको लाल-पीले-हरे आदि रंगका कहा जाता है उसी प्रकार जीवात्माको शरीरके योगसे वर्ण-गन्ध-रसादिन्योगतः कहा जाता है—वास्तवमें ये उसके रूप नहीं, रक्त-पृष्णादि-जैसी शरीरकी उपाधिसे सम्बन्ध रखते हैं।

रागादिक औदयिक भावोंकी आत्माके स्वभाव माननेपर आपत्ति

राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह-पुरस्सराः ।  
मवन्त्यौदयिका दोषाः सर्वे संसारिणः सतः ॥५५॥  
यदि चेतयितुः सन्ति स्वभावेन क्राधादयः ।  
भवन्तस्ते विमुक्तस्य निवार्यन्ते तदा कथम् ॥५६॥

‘संसारी जीवके जो राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह-आदि दोष होते हैं वे सब औदयिक हैं—कर्मोंके उदयवश होते (स्वभावसे नहीं होते)। यदि जेतन आत्माके क्रोधादिक दोषोंका होना स्वभावसे माना जाय तो उन दोषोंका मुक्त-आत्माके होनेका निषेध किसे किया जा सकता है ?—नहीं किया जा सकता; क्योंकि स्वभावका कभी अभाव नहीं होता।’

**व्याख्या**—कर्मोंके उदयके निमित्तसे सब संसारी आत्माओंमें जो दोष-विकार उत्पन्न होते हैं उन्हें औद्यिक भाव कहते हैं और वे मुख्यतः इककीस प्रकारके माने गये हैं।<sup>१</sup> उनमें से यहाँ प्रथम पद्ममें राग, द्वेष, मान (मान), क्रोध, लोभ, मोह (मिथ्यादर्शन) इन नामोंसे छहका तो उल्लेख किया है, दोष सबका आदि अर्थवाचक 'पुरस्तराः' पदके द्वारा संप्रह किया गया है, जिनमें नर-नारक-तिर्यक्-देव ऐसे चार गतियोंके भावका, भावा कषायका, पुरुष-स्त्री-नपुंसक-भावरूप तीन लिंगों (वेदों) का, कृष्ण-नील-काषोत्तीत-पद्म-शुक्ल-रूप छह भाव लेश्याओंका, एक अज्ञान, एक असंयम और एक असिद्ध-भावका समावेश है। इस तरह संख्या २१ के स्थानपर २३ हो जाती है, जिसका कारण राग और द्वेषको प्रसिद्धिके कारण अलगसे गिनतेका है, जबकि वे कषाय-नोकषायमें आ जाते हैं; क्योंकि राग लोभ, भावा, हास्य, राति, काम इन पांच रूप और द्वेष, क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छह रूप होता है।<sup>२</sup> दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि राग, द्वेष और मोहमें यद्यपि सारा भोह-नीय कर्म आ जाता है फिर भी क्रोध, मान और लोभादिकका जो यहाँ अलगसे प्रहण किया है उसे स्पष्टताकी दृष्टिसे समझना चाहिए। औद्योगिक भाव सब विभाव होते हैं—स्वभाव नहीं; इसीसे उन्हें 'दोष' पदके द्वारा उल्लिखित किया है, जो कि विकार-वाचक है।

दूसरे पदमें यह बतलाया है कि यदि चेतनात्माके इन कोधादिक औद्यिक भावोंका चेतनात्माके स्वभावसे होना माना जाय, तो मुक्तात्माके उनके होनेका निषेध कैसे किया जा सकता है?—नहीं किया जा सकता; क्योंकि स्वभावका तो कभी अभाव नहीं होता, अतः संसारावस्थासे मुक्ति अवस्थाके प्राप्त होनेपर भी उनका अस्तित्व बना रहना चाहिए; जबकि वैसा नहीं है। वैसा माननेपर संसारी और मुक्त जीवोंमें फिर कोई भेद नहीं रहता और 'संसारिणो मुक्ताश्च' (जीवाः) इस सूत्रका विरोध घटित होता है।

जीवके गुणस्थानात्मि २० प्रलयणाओंकी स्थिति

**'गुणजीवादयः सन्ति विशतिर्याः प्रहृष्णाः ।  
कर्मसंभन्धनिष्पश्चास्ता जीवस्य न लक्षणम् ॥५७॥'**

'गुणस्थान-जीवसमाप्त-भाग्यात्मात्मन आदि जो वीस प्रलयणाएँ हैं वे जीवके कर्म-सम्बन्ध-से निष्पत्त होती हैं; जीवके लक्षणरूप नहीं हैं।'

**व्याख्या**—यहाँ 'जीवस्य' पर उसी शुद्ध स्वभावस्थ जीवात्माका वाचक है जिसका कथन पहलेसे चला आ रहा है और जिसके लिए अगले पदमें 'विशुद्धस्य' इस विशेषण-पदका प्रयोग किया गया है और जो कर्मोंके सम्बन्धसे रहित विविक्त (विमुक्त) निष्कल परमात्मा होता है। उसीको यहाँ यह कहकर और स्पष्ट किया गया है कि गुणस्थान, जीवसमाप्त आदि जो वीस प्रलयणाएँ हैं वे भी उनका कोई लक्षण नहीं हैं। उन वीस प्रलयणाओंके नाम हैं:—१. गुणस्थान, २. जीवसमाप्त, ३. पर्याप्ति, ४. प्राण, ५. संक्षा, ६-१९ गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ह्वान, संयम, दर्शन, लेश्या भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्य, आहार नामकी २४ मार्गणाएँ, २० उपयोग; जैसा कि आगम-प्रसिद्ध इन दो गाथाओंसे जाना जाता है:—

१. गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शनाज्ञान। संपत्तासिद्ध-लेश्याद्वच्चतुश्चतुरुल्यमेकैकषड्मेदाः।—त० सूत्र २-६
२. रागः प्रेम रतिमया लोभं हास्यं च पञ्चवा। मिथ्यात्वंसेवयुक् सोऽपि मोहो द्वेषः क्रुधादिवद् ॥—अध्यात्म रहस्य २७। ३. योव य जीवद्वापराण गुणद्वाणा य अतिथ जीवस्य। जेण तु एव सम्बोगलद्वयस्स परिणामा ॥५७॥—समयसार।

गुण-जीवन-पञ्जती पाणा सणा य मगणाओ य ।  
उबकोणो विसभेदे बीस तु परुषणा भणिया ॥  
गइ इंद्रिये य काये जोए वेये कसायणाणे य ।  
संजाम-दंसण-लेस्ता भविया सम्पल सणिं आहारे ॥

इन सबके अवान्तर भर्दा और उनके स्वरूपको बटूखपडागम, गोम्मटसार, पंच-संभ्रहादि सिद्धान्त प्रन्थोंसे जाना जा सकता है। यहाँ संक्षेपमें इतना ही कह दिया है कि जो कोई भी जीव-विषयक प्ररूपणा किसी भी कर्मके अस्तित्वसे सम्बन्ध रखती है वह शुद्ध (मुक्त) जीवकी प्ररूपणा नहीं है और इसीलिए उसे संसारी जीवकी प्ररूपणा समझना चाहिए।

क्षायोपशमिकभाव भी शुद्धजीवके रूप नहीं

क्षायोपशमिकः सन्ति भावा ज्ञानादयोऽपि ये ।  
स्वरूपं तेऽपि जीवस्य विशुद्धस्य न तत्त्वतः ॥५८॥

'जो ज्ञान आदिके भी रूपमें क्षायोपशमिक भाव हैं वे भी तत्त्व-दृष्टिसे विशुद्ध-जीवका स्वरूप नहीं हैं।'

**व्याख्या**—शुद्ध-आत्माके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए जिस प्रकार पिछले पश्चोंमें यह बतला आये हैं कि गुणस्थानादिरूप बीस प्ररूपणाएँ और जितने भी औद्यिक भाव हैं वे सब कर्म-जन्य तथा कर्मोंके सम्बन्धसे निष्पन्न होनेके कारण आत्माके निजभाव अथवा स्वभाव न होकर विभाव-भाव हैं, उसी प्रकार इस पश्चमें क्षायोपशमिक भावोंके विषयमें भी लिखा है कि वे भी तात्त्वकदृष्टिसे विशुद्धात्माके भाव नहीं हैं; क्योंकि उनकी उत्पत्तिमें भी कर्मोंके क्षयोपशमिक सम्बन्ध है : देशधाति स्पर्द्धकों (कर्मवर्गण-समूहों) का उदय रहते सर्वधाति स्पर्द्धकोंका उदयभावी क्षय और उन्होंका (आगामी कालमें उदय आनेकी अपेक्षा) सदृशस्थारूप उपशम होनेसे क्षायोपशमिक भाव होता है।<sup>१</sup> क्षायोपशमिक भावके अठारह भेद हैं : मति-श्रुत-अवधिन-मनस्यर्थरूप चार ज्ञान; कुमति-कुश्रुत-कुअवधिन-रूप तीन ज्ञान; चक्षु-अचक्षु-अवधिरूप तीन दर्शन; दात-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यरूप पाँच लिंगदर्थाँ; एक सम्यक्त्व, जिसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं, एक चारित्र (संयम) और एक संयमासंयम। इन १८ भेदोंमें ज्ञान, अज्ञान, दर्शन और लिंगदर्थों रूप भाव अपने-अपने आवरण और वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमसे होते हैं ?<sup>२</sup>

यहाँ क्षायोपशमिक ज्ञानादिकको शुद्धात्माका स्वरूप न बतलानेसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि वे आत्माके स्वभाव न होकर विभाव हैं। ज्ञान-दर्शन दोनों उपयोग स्वभाव-विभावके भेदसे दो-दो भेद रूप हैं। स्वभाव ज्ञान-दर्शन केवलज्ञान और केवलदर्शन है, जो इन्द्रिय-रहित और परकी सहायतासे शून्य असहाय होते हैं। शेष सब ज्ञान-दर्शन विभावरूप है; जैसा कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी निम्न दो गाथाओंसे प्रकट है :—

केवलमिदिवरहियं असहायं तं सहायणं ति ।  
सण्णाणिवरवियन्ये विहायणं हृते दुष्प्रिहं ॥११॥

१. सर्वधातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयादेषामेव सदुपशमाददेशधातिस्पर्द्धकानामुदये क्षयोपशमिको भावो भवति ।—सर्वर्थसिद्धि । २. ज्ञानज्ञान-दर्शन-लिंगरूपतुहित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्व-चारित्रसंयमा-संयमाश्च ।—त० सूत्र २-५ । ३. उत्र ज्ञानादोनां वृत्तिः स्वावरणान्तराय-क्षयोपशमादृथाश्यात्म्या ।—सर्वर्थसिद्धि ।

तहं वैष्णवभोगो ससहायेवरविषयवो मुचिहो ।  
केवलमिति विद्यरहियं असहायं तं सहावनिदि भणिवं ॥१३॥—नियमसार  
कौन योगी कब किसका कैसे चिन्तन करता हुआ मुक्तिको प्राप्त होता है ?

गलित-निखिल-राग-द्वेष-मोहादि-दोषः  
सततमिति विभक्तं चिन्तयानात्मतत्त्वम् ।  
गतपलभिकारं ज्ञान-दृष्टि-स्वभावं  
जनन-मरण-मुक्तं मुक्तिमाप्नोति योगी ॥५९॥

श्रुति श्रीमद्भिक्तिगति-निःसंगयोगिराज-विरचिते योगसारप्रानृते जीवाधिकारः ॥१॥

‘जो गतपल है—ज्ञानात्मरणादि-कर्मपलसे रहित है—अधिकार है—रागादि-विकार-  
भावोंसे छुट्ट दै—इसस्तरापे भुल है और ज्ञान-दर्शन-स्वभाव-भाव है, ऐसे विभक्त—पर  
पदार्थोंसे भिन्न—आत्मतत्त्वको निरन्तर ध्याना हुआ जो योगी पूर्णतः राग-द्वेष-मोह-आदि दोषोंसे  
रहित हो जाता है वह मुक्तिको प्राप्त करता है।’

**व्याख्या**—यह प्रथम अधिकारका उपसंहारात्मक पथ है, जिसमें सारे अधिकारका  
सार सीचकर रखा गया है। इसमें बतलाया है—जिससे द्रव्यकर्म-वाचकर्म-नोकर्मरूप मल-  
विकार दूर हो गया है और इसलिए जो निर्धिकार-निर्दीप है, सन्यग-दर्शन-ज्ञान-स्वभावरूप है,  
जन्म-मरणसे रहित-मुक्त है उस शरीरादि परपदार्थोंसे द्विभिन्न हुए शुद्ध आत्म-तत्त्वका  
जो योगी निरन्तर ध्यान करता हुआ अपने सब राग-द्वेष-मोहादि-दोषोंको गला देता है—  
सुवर्णमें लगे किट्ठकालिमाकी तरह भस्म कर अपने आत्मासे अलग कर देता है—वह  
स्वात्मोपलब्धि-रूप मुक्तिको प्राप्त होता है।

इसमें मुक्ति-प्राप्तिका अति संक्षेपसे बड़ा ही सुन्दर कार्यक्रम सूचित किया गया है।

इस प्रकार भी अमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचित योगसारप्रानृतमें जीवाधिकार  
नामका प्रथम अधिकार समाप्त हुआ ॥१॥

## अजीवाधिकार

अजीव-द्रव्योंके नाम

'धर्मधर्म-नभः-काल-पुद्गलः परकारिताः ।  
अजीवा जीवतस्वद्वैर्जीवलक्षणविजिताः ॥१॥'

'जीव-तस्वके जाताओं (आत्मज्ञों) द्वारा धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल पे अजीव कहे गये हैं; व्याख्यांकि ये जीव-लक्षणसे रहित हैं।'

**व्याख्या**—अजीवाधिकारके इस प्रथम पद्यमें अजीव-तस्वके भेदरूप पाँच मूल नाम दिये हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। इन्हें 'अजीव' इसलिए कहा है कि ये जीवके उक्त लक्षणसे रहित हैं जो कि पिछले अधिकारमें 'उपयोगो विनिविष्टस्तत्र लक्षणमात्मनः' (६) इत्यादि व्याख्यांके द्वारा निर्दिष्ट हैं। यहाँ धर्म और अधर्म ये दो शब्द गुणवाचक अथवा पुण्य-न्यापके वाचक न होकर द्रव्य-वाचक हैं और उनकी जैनसिद्धान्त-मान्य छह द्रव्योंमें गणना है। इनका स्वरूपादि अन्यमें आगे दिया है।

पाँचों अजीव-द्रव्योंकी सादा स्वरूपभावमें स्थिति

'अथकाशं प्रयच्छन्तः प्रविशन्तः परस्परम् ।  
भिलन्तश्चै न मुञ्चन्ति स्व-स्वभावं कदाचन ॥२॥'

'( ये अजीव ) एक दूसरेको अवकाश—अवगाह प्रदान करते हुए, एक दूसरेमें प्रवेश करते हुए और एक दूसरेके साथ मिलते हुए भी अपने निजस्वभावको कभी नहीं छोड़ते हैं।'

**व्याख्या**—यहाँ उक्त पाँचों अजीवोंकी स्थितिका निर्देश किया है : लिखा है कि ये पाँचों परस्परमें मिलते-जुलते, एक दूसरेमें प्रवेश करते और एक दूसरेको अवकाश देते हुए भी अपने-अपने स्वभावको कभी भी नहीं छोड़ते। धर्म अधर्मका, अधर्म धर्मका, धर्म-अधर्म आकाशका और आकाश धर्म-अधर्मका, धर्मधर्म-आकाश कालका, काल धर्म-अधर्म आकाशका, धर्म-अधर्म-आकाश-काल पुद्गलका और पुद्गल धर्म-अधर्म-आकाश-कालका रूप कभी नहीं प्रहृण करता।

१. धर्मविभिन्नाकाव्यं तथा कालश्च पुद्गलः । अजीवा : खलु पञ्चते निर्दिष्टाः सर्वदशिभिः ॥२॥

—तस्वार्थसार । अजीवकामात्रमीर्माकाशपुद्गलः ॥१॥ अव्याप्ति ॥२॥ कालश्च । ३९ ।—तैः सूक्त । एदे कालगारा अभ्याधम्सा य पुगला जीवा । लक्ष्मीति दक्षस्त्रणं कालस्तु तु णत्य कायत्सु ॥१०२॥ आगासकालपुद्गलधर्माधम्सेषु णत्य जीवगुणा । तेसि अचेदणत्तं भणिदं जीवस्तु विदणवा ॥१२४॥ — पञ्चास्ति० । २. अण्णोप्तं पवित्रं ता दितर ओगासमण्णमण्णस्तु । भेलंता चिय णिर्ज्ञं सर्वं सभावं ण वि जहृति ॥७॥ —पञ्चास्ति० । ३. आ, र्षा भीलंतश्च ।

अजीवोंमें कौन अमूर्तिक, कौन मूर्तिक और मूर्तिलक्षण

**अमूर्ता निष्क्रियाः<sup>१</sup> सर्वे मूर्तिमन्तोऽत्र पुद्गलाः<sup>२</sup> ।  
रूप-गन्ध-रस-स्पर्श-व्यवस्था मूर्तिरूच्यते ॥३॥**

‘इन अजीवोंमें पुद्गल मूर्तिक है। शेष सब अमूर्तिक-मूर्तिरहित-और निष्क्रिय—क्रिया विहीन हैं। रूप ( वर्ण ) रस-गन्ध-स्पर्शकी व्यवस्था ( तरतीव Arrangement ) को ‘मूर्ति’ कहते हैं।’

**ध्याण्या**—इस पद्धति में उक्त पाँचों अजीवोंकी स्थितिको और स्पष्ट किया गया है—लिखा है कि पुद्गलको छोड़कर शेष धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चारों अजीव तत्त्व अमूर्तिक तथा निष्क्रिय हैं, केवल पुद्गलद्वय मूर्तिक है और वह सक्रिय भी है। साथ ही मूर्तिका लक्षण भी दिया है : जो अपने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शकी व्यवस्थाको लिये हुए उसे ‘मूर्ति’ बतलाया है। वर्णके पाँच—रक्त, पीत, कृष्ण, नील, शुद्ध; गन्धके दो—सुगन्ध, तुर्गन्ध; रसके पाँच—तिक्क ( चर्परा ), कटु, अम्ल, मधुर, कर्षेला; और स्पर्शके आठ—कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, रिक्तग्न, लभ ये आठ तूल गेव द्वारा होते हैं। पुद्गलके इन बीस मूल गुणोंमें से मूर्तिमें कोई एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और शीत-स्तिर्ग्न, शीत-रुक्ष, उष्ण-स्तिर्ग्न, उष्ण-रुक्ष इन चार युगलोंमें से कोई एक युगल रूप दो स्पर्श कमसे कम होने ही चाहिए। इसीसे पंचास्तिकायमें परनाशुका, जो सबसे सूक्ष्म पुद्गल है, रवरूप बतलाते हुए ‘एपरसवणगंधं दो फासं’ ( गाथा ८१ ) के द्वारा उसमें अनिवार्य-रूपसे पाँच गुणोंका होना बतलाया है। साथ ही पुद्गल द्वयको समझने, पहचाननेके लिए उसके कुछ भेदात्मक स्वरूपका भी निम्न गाथा-द्वारा संसूचन किया है :—

उद्भोज्जर्मिदिएहि य इदियं काया मणो य कम्माणि ।

जं हृष्वदि मुसम्भर्ण तं सर्वं पुगालं जाणे ॥८२॥ ( पञ्चांश )

इसमें बतलाया गया है कि जो स्पर्शनादि इन्द्रियोंमें-से किसीके भी द्वारा भोगा जाता है—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा शब्दरूप परिणत विषय—( स्पर्शन, रसन, ज्ञान, शोत्ररूप ) पाँचों द्रव्येन्द्रियों, ( औद्यारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस तथा कार्याणि रूप पाँच प्रकारके ) शरीर, द्रव्यमन, द्रव्यकर्म-नोकर्मरूप कर्म और अन्य जो कोई भी मूर्तिक पदार्थ है वह सब पुद्गल है। अन्यमूर्तिक पदार्थोंमें उन सब पदार्थोंका समावेश है जो अमूर्तिके लक्षणसे विपरीत हैं और नाना प्रकारको पर्यायोंकी उत्पत्तिमें कारणभूत जो असंख्यात संख्यात अणुओंके भेदसे अवन्नानन्त अणु-र्गणादै द्वयगुक स्कन्द्य पर्यन्त हैं और जो परमाणुरूप हैं वे सब पुद्गल हैं।

मूर्तिक-अमूर्तिकका एक लक्षण यह भी किया जाता है कि जो विद्य-पदार्थ जीवसे इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य हैं वे सब मूर्तिक और शेष सब अमूर्तिक हैं।<sup>३</sup> इसमें ‘ग्रहण किये जानेकी योग्यता’के स्पर्शमें जो बात कही गयी है वह स्वास तीरसे व्यानमें रखनेके योग्य है; क्योंकि संख्यात-असंख्यात अणुओंके सूक्ष्म परिणमनको लिये हुए कितनी ही बस्तुएँ तथा पुद्गल वर्गणादै ऐसी होती हैं जो वर्तमान कालमें इन्द्रियगोचर नहीं हो पाती;

१. आ निष्क्रियः । २. आगास-काल-जीवा यम्माधम्मा य मूर्तिपरिहाणा । गुरुं पुगालदन्तं जीवो ख-दु चेदगो तंतु ॥ — पञ्चास्ति ९७ । ३. जे खलु इदियमेज्ञाविज्ञया जीवांहैं हृष्विते मूला । सेसं हृददि अमूर्तं चित्तं उभयं समादियदि ॥ — पञ्चास्ति ९९ ।

परन्तु कालान्तरमें स्थूल-परिणमनके अवसरपर इन्द्रियगोचर होती हैं अतः इन्द्रियगोचर होनेकी चोक्यताके सद्भावके कारण उन्हें इन्द्रियगोचर न होनेके अवसरपर भी मूर्तिक ही समझना चाहिए। परमाणु भी अपने शुद्धरूपमें अतिसूक्ष्मताके कारण इन्द्रियगोचर नहीं होते; परन्तु स्फन्धरूपमें परिणत होकर जब स्थूलरूप धारण करते हैं तब इन्द्रियोंके प्रहणमें आते हैं, इसलिए वे भी मूर्तिक हैं। इसीसे 'मूर्तिमन्तोऽन् पुदगला:' इस सूत्रके द्वारा पुदगल-मात्रको 'मूर्तिक' कहा गया है। तत्त्वार्थसूत्रमें भी 'रूपिणः पुदगलः' इस सूत्रके द्वारा उन्हें रूपी-मूर्तिक निर्दिष्ट किया जाता है, चाहे वे शुद्ध-स्थूल इसी भी अवस्थामें वयों न हों।

यहाँ एक बात और भी जान लेनेकी है और वह यह कि मूर्तिकमें रूप, गन्ध, रस, स्पर्शकी व्यवस्थाका जो उल्लेख किया गया है, जो क्रमशः चक्षु-ग्राण-रसना-स्पर्शन इन चार इन्द्रियोंके विषय हैं; परन्तु पाँचवीं ओत्र इन्द्रियका विषय जो शब्द है उसका कोई उल्लेख नहीं किया गया, इसका कारण यह है कि शब्द पुदगलका कोई गुण-स्वभाव नहीं है, जो स्थायी रूपसे उसमें पाया जाय। चार इन्द्रियोंके विषय स्पर्श-रस-गन्ध-र्वर्णके रूपमें हैं वे ही शब्द-रूप परिणत होकर ओत्र-इन्द्रियके द्वारा प्रहण किये जाते हैं।<sup>१</sup> इसीसे शुद्ध पुदगल-रूपमें जो जो परमाणु है उसे 'अशब्द'-शब्दरहित-कहा गया है—एक प्रदेशी होनेके कारण उसमें शब्द-पर्याय रूप परिणतिवृत्तिका अभाव है; परन्तु शब्दमें स्फन्धरूप परिणति-शक्तिका सद्भाव होनेसे वह शब्दका कारण होता है।<sup>२</sup>

जीवसहित पाँचों अजीवोंकी द्रव्य-संज्ञा

**'जीवेन सह पञ्चापि द्रव्याण्येते निवेदिताः ।  
गुण-पर्ययवद्द्रव्यनिति लक्षण-योगतः ॥४॥'**

'ये पाँच अजीव जीवसहित 'द्रव्य' कहे गये हैं; क्योंकि वे 'गुणपर्ययवद्वयम्' इस द्रव्य-लक्षणको लिये हुए हैं।'

**व्याख्या—**पूर्वोक्त पाँचों अजीव जीव सहित 'द्रव्य' कहे जाते हैं; और इसलिए द्रव्यों-की मूलसंख्या छह है: छह प्रकारके द्रव्य हैं, जिनकी यह छहकी संख्या कभी घट-बढ़ नहीं होती। ये छहों गुण-पर्यायवान हैं, इसीसे 'गुण-पर्यय-वद्द द्रव्यम्' इस सूत्रके अनुसार इन्हें द्रव्य कहा जाता है।

श्री कृन्दकृन्दाचार्यने पंचास्तिकावमें द्रव्यका निरूपण तीन प्रकारसे किया है—एक सक्षाक्षणिक, दूसरा उत्पाद-व्यय-व्यौव्यसे युक्त और तीसरा गुण-पर्यायाश्रय (गुण-पर्यायोंका आधारभूत); जैसा कि उसकी निम्न गाथासे जाना जाता है:—

द्रव्यं सहलवस्त्रणिर्व उप्पादव्ययशुद्धतसंजूतं ।

गुणपञ्जासयं वा जं सं भण्णाति सञ्चयण् ॥१०॥

इनमें-से तीसरा लक्षण तत्त्वार्थसूत्रके 'गुण-पर्ययवद्द-द्रव्यम्' सूत्रके साथ तथा पहला लक्षण 'सदद्रव्यलक्षणं' सूत्रके साथ एकता रखता है और दूसरे लक्षणके लिए तत्त्वार्थसूत्रमें

१. ओत्रेन्द्रियेण तु त एव तद्विषयद्वैतुभूतशब्दाकारपरिणामा गृह्णन्ते।—पञ्चास्ति० दीका, अमृतचन्द्राचार्य। २. परमाणुः शब्दसक्ष्म-परिणति-शक्ति-स्वभावात् शब्दकारणं एकप्रदेशत्वेन शब्दपरिणति-वृत्त्यभावादशब्दः।—अमृतचन्द्राचार्य, पञ्चास्ति० ८१ दीका। ३. अजीवकाणा घर्मधिमस्तिषुदगलाः ५-१। द्रव्याणि ५-२, जीवाद्व ५-३, कालवच ५-३९।—त० सूत्र।

‘उत्पाद-व्यवहरेन्मनुकरं सत्’ इस सूत्रकी वृद्धिकी गति है, जो कि सत्त्वा लक्षण है। सत् द्रव्यका लक्षण होनेसे सत्त्वा जो लक्षण वह भी द्रव्यका लक्षण हो जाता है। इन तीनों लक्षणोंमें सामान्यतः भेदका कुछ दर्शन होते हुए भी निशेषतः कोई भेद नहीं है—तीनों एक ही आशयके द्वातक हैं, वह बात मन्त्रके अगले पद्मोंसे स्पष्ट हो जाती है।

द्रव्यका व्युत्पत्तिपरक लक्षण और सत्ता सत्तामय स्वरूप

द्रूयते गुणपर्यायैर्घद् द्रवति तानथ ।  
तद् द्रव्यं भूयते दोढा सत्तामयमनश्वरम् ॥५॥

‘जो गुण-पर्यायोंके द्वारा द्रवित होता है अथवा उन गुण-पर्यायोंको द्रवित करता है वह ‘द्रव्य’ कहा जाता है ( यह द्रव्यका निर्युक्ति-परक लक्षण है ) । वह द्रव्य ( उक्त जीवादि ) छह भेदरूप है, सत्तामय है—उत्पाद व्यवहौव्यसे युक्त है—और अद्विनश्वर है—कभी नष्ट न होनेवाला है ।’

**व्याख्या**—इस पद्ममें ‘द्रव्य’ शब्दकी व्याकरण-सम्मत निर्युक्ति-द्वारा द्रव्यके पूर्व पद्म अर्णित लक्षणका स्पष्टीकरण किया गया है : लिखा है कि जो गुण-पर्यायोंके द्वारा द्रवित होता है अथवा गुण-पर्यायोंको द्रवित करता है—प्राप्त होता है—उसे ‘द्रव्य’ कहा जाता है और वह छह भेदरूप है। वह छह भेद रूप द्रव्य सत्तामय है, इसीसे ‘सद् द्रव्यलक्षण’ इस सूत्रके अनुसार द्रव्यका लक्षण सत् भी है और इस सत् तथा सत् लक्षणके कारण द्रव्यको ‘अनश्वर’ कभी नाश न होनेवाला—कहा जाता है।

सर्वपदार्थगत-सत्ताका स्वरूप

‘धौव्योत्पत्तिव्यादलयालीढा सत्ता सर्वपदार्थगा ।  
एकशोऽनन्तपर्याया प्रतिपक्षसमन्विता ॥६॥

‘सत्ता धौव्योत्पत्ति-व्यवहात्मिका, एकसे लेकर सब पदार्थोंमें व्यापनेवाली, अनन्त-पर्यायोंकी धारिका और प्रतिपक्ष-समन्विता—असत्ता आविके साथ विरोध न रखनेवाली—होती है ।’

**व्याख्या**—पिछले पद्ममें जिस सत्ताका उल्लेख है उसका इस पद्ममें लक्षण दिया है और उसे धौव्योत्पत्ति-व्यवहात्मक वतलाया है तथा सर्वपदार्थोंमें व्याप्त लिखा है—कोई भी पदार्थ चाहे वह उत्पादरूप, व्यवरूप या धौव्यरूप हो सत्तासे शून्य नहीं है—और उस सत्ताकी एकसे लेकर अनन्त पर्यायें हैं। सत्तारूप द्रव्यकी पर्यायोंका कभी कही अन्त नहीं आता, यदि अन्त आ जाय तो द्रव्य ही समाप्त हो जाय और द्रव्य सत्तरूप होनेसे और सत् धौव्यरूप होनेसे उसका कभी नाश नहीं होता। उत्पाद-व्यवहौव्यकी पर्यायोंमें हुआ करता है, द्रव्यमें अथवा धौव्यरूप गुणोंमें नहीं। साथ ही सत्ताको ‘प्रतिपक्षसमन्विता’—प्रतिपक्षके साथ विरोध न रखनेवाली—लिखा है। सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता है। सत्ता उत्पाद-व्यवहौव्यकी हाथसे दोनों रूप हैं अतः असत्ताके साथ उसका विरोध नहीं जनता।

१. विविदि गच्छदि तादं तादे सर्वभावपञ्चायाह जं । विविदं हं भूयांते अग्रण्यमूर्दं तु सत्तादो ॥५॥  
—पञ्चास्ति० । २. सत्ता सर्वपदार्था सविस्तरवा अणेतपञ्जाया । भंगुप्यादधुतता सप्तिवक्ता  
हृष्टि एका ॥६॥ —पञ्चास्ति० ।

इस सर्वपदार्थस्थिता और सविश्वरूपा सत्ताको पंचास्तिकायमें एक यत्ताया है और इसलिए वह 'महासत्ता' है। पदार्थोंके भेदकी हाइसे महासत्ताकी अवान्तर-सत्ताएँ उसी प्रकार अनेकानेक तथा अनन्त होती हैं जिस प्रकार कि अखण्ड एक आत्मशब्द-ब्यासे अंशकरणाके द्वारा उसकी अनन्त अवान्तर-सत्ताएँ होती हैं। सत्ताका प्रतिपक्ष जिस प्रकार असत्ता है उसी प्रकार एकरूपताका प्रतिपक्ष नानास्वप्ना, एक-पदार्थ-त्वात्का प्रतिपक्ष नाना-पदार्थस्थिति, ध्रौद्योत्पत्ति विनाशरूप त्रिलक्षणा सत्ताका प्रतिपक्ष त्रिलक्षणामाद, उसका प्रतिपक्ष अनेक और अनन्तपर्यायका प्रतिपक्ष एकपर्याय है।'

द्रव्यका उत्पाद-व्यय पर्यायकी अपेक्षासे

नश्यत्युत्पद्यते भावः पर्यायापेक्षयाखिलः ।

नश्यत्युत्पद्यते फरिचम द्रव्यापेक्षया पुनः ॥७॥

'सम्पूर्ण पदार्थ-समूह पर्यायकी अपेक्षासे नष्ट होता है तथा उत्पन्न होता है किन्तु द्रव्यकी अपेक्षासे न कोई पदार्थ नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है।'

**व्याख्या**—पिछले पद्ममें जिस ध्रौद्योत्पत्तिव्ययरूप त्रिलक्षणा सत्ताका उल्लेख है उसको यहाँ उत्पाद और व्ययकी हाइसे स्पष्ट किया गया है—लिखा है कि यह उत्पाद और व्यय समस्त पदार्थोंमें पर्यायकी अपेक्षासे होता है, द्रव्यकी अपेक्षासे न कोई पदार्थ कभी उत्पन्न होता है और न कभी नाशको प्राप्त होता है। सब द्रव्य अनादि-निधन सहायत्यरूप हैं। पंचास्तिकायमें द्रव्यका व्यय, उत्पाद और ध्रुवपना पर्यायों करती हैं, ऐसा लिखा है यदौं पर्यायका आशय सहभावी और क्रमभावी दोनों प्रकारकी पर्यायोंसे है, सहभावी पर्यायोंको 'गुण' कहते हैं जिससे द्रव्यमें ध्रुवपना होता है और क्रमभावी पर्यायोंको 'पर्याय' कहते हैं, जिनसे द्रव्यमें उत्पाद-व्यय घटित होता है।

गुण-पर्यायके बिना द्रव्य और द्रव्यके बिना गुण-पर्याय नहीं

३किञ्चित् संभवति द्रव्यं न विना गुण-पर्यायैः ।

संभवन्ति विना द्रव्यं न गुणा न च पर्यायाः ॥८॥

'गुण-पर्यायोंके बिना कोई द्रव्य नहीं हो सकता और न द्रव्यके बिना कोई गुण या पर्याय हो सकते हैं।'

**उत्पाद**—जिस प्रकार दूध, दही, मक्खन और घृतादिसे रहित गोरस नक्षी होता उसी प्रकार पर्यायोंसे रहित कोई द्रव्य नहीं होता। जिस प्रकार गोरससे शून्य दूध-दही-घृतादि नहीं होते उसी प्रकार द्रव्यसे शून्य कोई पर्याय नहीं होती। और जिस प्रकार एक्षय-से रहित स्तर्वा-रस-नन्द-वर्ण नहीं होते उसी प्रकार द्रव्यसे रहित गुण नहीं होते और जिस

१. प्रतिपक्षमसत्ता स्पात्सत्तायास्तुत्या तथा चास्यत् । नानास्वप्नवे किल प्रतिपक्षं चेद्वप्नायास्तु इति ॥८०॥ एकपदार्थस्थितिरिह सर्वपदार्थस्थितिविपक्षत्वम् । ध्रौद्योत्पादविनाशस्त्रिलक्षणामात्रिप्रलक्षणाभावः ॥८१॥ एकस्यास्तु विपक्षः सत्तायाः स्पात्सदीहनेकत्वम् । स्यादप्यवन्तु-पर्यायप्रतिपक्षस्त्वेऽपर्यायत्वं स्यात् ॥८२॥ — पञ्चाध्यायी । २. उपर्त्ती व विणासो द्रव्यस्य य गतिः अतिक राम्भावो । विगमुप्यादवृत्तं कर्त्तव्य तस्सेव पञ्जाया ॥८३॥ — पञ्चास्ति० । ३. पञ्चवयदिजुदं दद्यं दद्यन्दिजुत्ता य पञ्जया गतिः । दोष्टं अणण्णभूदं भाष्टं समणा पर्णविति ॥८४॥ दद्येग विणा य गुणा गुणोहं कल्पं दिणा य संभवति । अव्यविरिसो भाषो द्रव्य-गुणाणं हृष्टि तम्हा ॥८५॥ — पञ्चास्ति० ।

अकार स्पर्श-रस-नन्ध-वर्णसे शून्य पुद्गल नहीं होता उसी प्रकार गुणोंसे शून्य द्रव्य नहीं होता। इस तरह पर्यायोंका द्रव्यके साथ और द्रव्यका पर्यायोंके साथ जिस प्रकार अनन्य-भूत (अभिन्न) भाव है उसी प्रकार द्रव्यका गुणोंके साथ और गुणोंका द्रव्यके साथ अव्यतिरिक्त (अभेद) भाव है। इसी बातको अमृतचन्द्राचार्यने तत्त्वार्थसारके निम्न पद्यमें व्यक्त किया है, जो श्री कुन्दकुन्दाचार्यके अनुकरणको लिये हुए हैं :—

गुणैविना न च द्रव्यं विना द्रव्याच्च नो गुणः ।  
द्रव्यस्य च गुणानां च तस्माद्व्यतिरिक्तता ॥११॥  
न पर्यायाद्विना द्रव्यं विना द्रव्याच्च न पर्यायः ।  
वदन्त्यतत्यभूतत्वं त्र्योरपि भूष्यंयः ॥१२॥

धर्माधिमादि-द्रव्योंको प्रदेश-स्थितिस्था

धर्माधिमैकजीवानां प्रदेशानामसंख्यया ।  
अवश्यब्धो न भोदेशः प्रदेशः परमाणुनां ॥१३॥

‘धर्म, अधर्म और एक जीव इन द्रव्योंके प्रदेशोंकी असंख्यतासे—प्रत्येकके असंख्यात प्रदेशोंसे—आकाशका देश—लोकाकाश—अवरुद्ध है और परमाणुसे—पुद्गलपरमाणु तथा कालाणुसे आकाशका—लोकाकाशका—प्रदेश अवरुद्ध है।’

व्याख्या—जिन धर्मादि छह द्रव्योंका ऊपर उल्लेख है उनके प्रदेशोंकी संख्या आदिका अर्थात् करते हुए उनमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवके प्रदेशोंकी संख्या यहाँ असंख्यत बतलायी है और यहाँ भी बतलाया है कि उनमेंसे प्रत्येकके असंख्यात असंख्यात प्रदेशोंसे आकाशका देश जो लोकाकाश है वह अवरुद्ध है—विरा हुआ है—और पुद्गलपरमाणु तथा कालाणुसे लोकाकाशका प्रदेश विरा हुआ है।

परमाणुका लक्षण

द्रव्यमात्मादिमध्यान्तमविभागमतीन्द्रियम् ।  
अविनाश्य निश्चस्त्राद्यैः एरमाणुरुदाहतम् ॥१०॥

‘जो (स्वयं) आदि मध्य और अन्तरूप है—जिसका आदि मध्य और अन्त एक दूसरे-से भिन्न नहीं है—अविभागी है—जिसका विभाजन-खण्ड अथवा अंशविकल्प नहीं हो सकता—अतीन्द्रिय है—इन्द्रियों-द्वारा आल नहीं—और अग्नि-शस्त्र-आदि-द्वारा विनाशको प्राप्त नहीं हो सकता, ऐसा द्रव्य ‘परमाणु’ कहा गया है।’

व्याख्या—जिस परमाणुका पिछले पद्यमें उल्लेख है उसका इस पद्यमें लक्षण दिया है। उस लक्षण-द्वारा उसे स्वयं आदि-मध्य-अन्तरूप अर्थात् आदि-मध्य-अन्तसे रहित, विभाग-विहीन, इन्द्रियोंके अगोचर और अग्नि-शस्त्रादि किसी भी पदार्थके द्वारा नाशको प्राप्त न होनेवाला अविनाशी बतलाया है। जिसमें ये सब लक्षण घटित न हों उसे परमाणु न समझना चाहिए।

१. आ प्रदेशपरमाणुना । २. अन्तादि अन्तमण्ड असंत नैव हंदिए गेजां । अविभागी जं द्रव्य परमाणु सं विमाणादि ॥२६॥ —नियमसार ।

परमाणुकी स्वरूप-विषयक अन्ती जानकारीके लिये कुछ दूसरी बातों अथवा परमाणुके अन्य विशेषणोंको भी जान लेना चाहिए जिन्हें श्री कृष्णकुन्दाचार्यने पंचास्तिकायमें व्यक्त किया है और वे हैं—सर्वस्तुत्यान्त्य, शाश्वत, अशब्द, अविभागी, एक, मूर्तिभव, आदेशमात्रमूर्त, धातुचतुष्क-कारण, परिणामगुण, एक-रस-बर्ण-नान्ध, द्विस्पर्श, शब्द-कारण, स्कन्धान्तरित। जैसा कि उसकी निम्न गाथाओंसे प्रकट है :—

सद्बैति स्वधारणं जो अंतों सं विग्राणं परमाणु ।  
सो सदसदो असदो एकको अविभागी मूर्तिमयो ॥७५॥  
आदेशमत्तमुत्तो धातुचतुष्कस्त्वं कारणं जो तु ।  
सो जोओ परमाणु परिणामगुणो सद्यमसदो ॥७६॥  
एवरसवणगर्थं वो फासं सद्वकारणमत्तहं ।  
संधंतरितं वल्वं परमाणु तं विवरणीहि ॥८१॥

पुद्गलकी किसी भी स्कन्धपर्यायका भेद ( खण्ड ) होते-होते जो अन्तिम भेद अवशिष्ट रहता है उसे 'स्कन्धान्त्य' कहते हैं। उसका फिर कोई भेद न हो सकनेसे उसे 'अविभागी' कहते हैं। जो निविभागी होता है वह एकप्रदेशी है और एकप्रदेशी होनेसे 'एक' कहा जाता है—इथणुकादि स्कन्धरूप एक नहीं। मूर्त-द्रव्यरूपसे उसका कभी नाश नहीं होता इसलिए उसको 'शाश्वत' ( नित्य ) कहते हैं। अनादि-निधन-रूपरसगन्धस्पर्शविनी जो मूर्ति है उसके परिणामसे उत्पन्न होनेके कारण वह 'मूर्तिमय' कहलाता है। रूपादि रूपमूर्तिके परिणामसे उत्पन्न होनेपर भी शब्दके परमाणुगुणपत्रोंका अभाव होने तथा पुद्गलकी स्कन्धपर्यायके रूपमें व्यपदिष्ट होनेके कारण परमाणु 'अशब्द' रूपको लिये हुए हैं। परमाणु मूर्तिरूप है ऐसा कहा जाता है, परन्तु हठिसे दिखलाई नहीं देवा इसलिए उसे 'आदेशमात्रमूर्त' कहते हैं अथवा परमाणुमें मूर्तित्वके कारणभूत जो स्पर्शादि चार गुण हैं वे आदेशमात्रसे—कथन-मात्रकी हठिसे—भेदको प्राप्त हैं—पृथक् रूपसे कथन किये जाते हैं—सत्तारूप प्रदेशभेदकी हठिसे नहीं; क्योंकि बास्तवमें परमाणुका जो आदि-मध्य और अन्तरूप एक प्रदेश है वही स्पर्शादि-गुणोंका भी प्रदेश है—द्रव्य और गुणोंमें प्रदेशभेद नहीं होता। पृथ्वी, जल, अनि, और वायुरूप जो चार धातु हैं—भूतचतुष्क वह है—उनके निर्माणका कारण होनेसे परमाणुकी और वायुरूप जो चार धातु हैं। गन्धारि गुणोंमें व्यक्ताव्यक्त रूप विचित्र परिणामनके कारण परमाणुको 'परिणामगुण' कहते हैं। एकप्रदेशी होनेसे परमाणु शब्दरूप परिणत नहीं होता; क्योंकि शब्द अनेकानेक परमाणुओंका खण्ड होता है और वह पुद्गलका कोई होता; क्योंकि शब्द अनेकानेक परमाणुओंका पिण्ड होता है और वह पुद्गलका कोई होता है, इसीसे परमाणु 'स्वयमशब्द' कहलाता है। इस तथा वर्णकी पाँच-माँच गुण भी नहीं हैं, इसीसे परमाणु 'स्वयमशब्द' कहलाता है। एक पर्यायोंमें-से किसी एक पर्यायको एक समयमें अवश्य लिये हुए होनेके कारण परमाणुकी 'एक-रस-बर्ण-नान्ध' संज्ञा है और दीत-स्निग्ध, शीतलक्ष, उष्णस्निग्ध, उष्णारुक्षरूप जो चार स्पर्शगुणके जोड़े हैं उनमें-से एक समर्पण किसी एक ही जोड़े रूप परिणत होनेके कारण परमाणुको 'द्विस्पर्श' भी कहते हैं। परमाणु स्वयं शब्दरूप न होनेपर भी स्कन्धरूप परिणत होनेकी शक्तिको लिये हुए होनेके कारण 'शब्द-कारण' कहा जाता है। और अनेक परमाणुओंकी एकत्व-परिणतिरूप जो स्कन्ध है उससे अन्तरित-स्वभावसे भेदरूप जुदा द्रव्य होनेके कारण परमाणुको 'स्कन्धान्तरित' भी कहते हैं। जो धातुचतुष्कका कारण होता है उसे 'कारणपरमाणु' और जो स्कन्धोंका अन्त्य होता है उसे 'कार्यपरमाणु' कहते हैं। एकरस-बर्ण-नान्ध-द्विस्पर्शगुणपरमाणु 'स्वभावगुण' कहलाता

है, शेष 'विभावगुण-परमाणु' 'द्वयणुकादि स्कन्धरूप होता है'। और उसके विभावगुण सर्वेन्द्रियत्राणा होते हैं।<sup>१</sup>

आकाश और पुद्गलोंकी प्रदेश-संख्या

**प्रदेशा नभसोऽनन्ता अनन्तानन्तमानकाः ।**

**पुद्गलानां जिनैरुक्ताः परमाणुरनशकः ॥११॥**

'जिनोंके हारा आकाशके अनन्त और पुद्गलोंके अनन्तानन्त प्रमाण प्रदेश कहे गये हैं। परमाणु अनंतका—अप्रदेशी ( प्रदेशमात्र )—कहा गया है।'

द्वाराख्या—यहाँ आकाश और पुद्गल-द्रव्योंके प्रदेशोंकी संख्याका निर्देश करते हुए उन्हें क्रमान्तः अनन्त तथा अनन्तानन्त बतलाया है, और पुद्गल-परमाणुको अंशरहित लिखा है, जिलका आशय है। अप्रदेशी अथवा प्रदेशमात्र—एक ही प्रदेशके रूपमें। परमाणुसे यहाँ कालाणुका भी प्रहृण है अतः कालाणुको भी अंशरहित अप्रदेशी अथवा प्रदेशमात्र समझना चाहिए।

कालाणुओंकी संख्या और अवस्थिति

**असंख्या भूतनाकाशे कालस्य परमाणवः ।**

**एकैका व्यतिरिक्तास्ते रत्नानामिव राशयः ॥१२॥**

'लोकाकाशमें कालके परमाणु असंख्यतः कहे गये हैं और वे रत्नोंकी राशियोंमें इनोंके रूपान् एक-एक और भिन्न-भिन्न हैं—आकाशके एक-एक प्रदेशमें एक-एक कालाणु स्थित है।'

द्वाराख्या—इस पद्यमें छठे काल द्रव्यकी संख्या और उसकी स्थितिका निर्देश है। लिखा है कि कालके परमाणु—कालाणुरूप कालद्रव्य—असंख्यतः हैं और वे लोकाकाशमें—लोकके असंख्यातप्रदेशोंमें—रत्नोंकी राशियोंमें रत्नोंकी तरह एक-एक करके एक दूसरे से भिन्न स्थित हैं। यहाँ आकाशका 'लोकाकाश' नाम इस बातको सूचित करता है कि अखण्ड एक आकाशके दो भेद हैं—एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। कालद्रव्य लोकाकाशमें ही स्थित है—अलोकाकाशमें नहीं।

षष्ठी-अष्टमी तथा पुद्गलोंकी अवस्थिति

**घर्मधियोः स्थितौ व्याप्त्य लोकाकाशमशेषकम् ।**

**व्योमैकांशादिषु ज्ञेया पुद्गलानामवस्थितिः ॥१३॥**

१. धातुचउक्तस्तु पुणो जं हेक कारणं ति तं शेयो । संधारणं अवसाणो णादबो कञ्जपरमाणु ॥२५॥

२. एव रसस्वर्गं दो कासं तं हवे सहावगुणं । विभावगुणमिदि भणिदे जिणसमये सञ्च यदवत्तं ॥२७॥

—ग्रियमसार । ३. लोकायासपदेसे एककेषके जेट्रिया हुएकेषका । रथणाणं रासोमिद ते कालाणु असंख-

द्रव्याणि ॥२२॥ — लकुड़व्यसंग्रह १२, बृहद्रव्यसं० २२; गो० जी० गा० ५८८ । ४. जा अवतिष्ठते ।

५. लोकाकाशेऽवनाहः घर्मधियोः हस्ते ॥१३॥ एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

—द० सूत्र अ० ५, सू० १२, १३, १४।

‘धर्म-अधर्म दोनों द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाशको व्याप कर तिष्ठते हैं। पुद्गलोंका अवस्थान आकाशके एक अंश अदिमें—एक प्रदेशसे लेकर एक-एक प्रदेश बढ़ाते हुए सम्पूर्ण लोकाकाश-में—जानना चाहिए।’

**व्याख्या**—इस पद्ममें धर्म-अधर्म और पुद्गल इन तीन द्रव्योंकी स्थितिका उल्लेख है। धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य तो सारे लोकाकाशको व्याप करके स्थित हैं—लोकाकाशका कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं जो इनसे व्याप न हो। इनमेंसे प्रत्येककी प्रदेशसंख्या, असंख्यात होनेसे लोकाकाश भी असंख्यातप्रदेशी है, यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है। पुद्गलोंकी अवस्थिति लोकके एक प्रदेशको आंदे लेकर असंख्यात प्रदेशों तकमें है।

संसारी जीवोंके लोकस्थिति और उनमें संकोच-विस्तार

‘लोकासंख्येयभागादाथवस्थानं शरीरिणाम् ।

अंशा विसंपं-संहारी दीपानामिव कुर्वते ॥१४॥

‘शरीरधारी जीवोंका अवस्थान (स्थिति) लोकके असंख्येय-भागादिकोमें है—लोकके असंख्यातयें भागसे लेकर एक-एक प्रवेश बढ़ाते हुए पूर्ण लोकाकाश तक है। संसारी जीवोंके अंश-प्रदेश दीपकोंके समान संकोच-विस्तार करते रहते हैं—शरीरके आकारानुसार संकोच तथा विस्तारको प्राप्त होते रहते हैं।’

**व्याख्या**—इस पद्ममें देहधारी संसारी जीवोंके लोकाकाशमें अवस्थानका निरूपण करते हुए बतलाया है कि असंख्यात-प्रदेशी लोकका असंख्यातवौं भाग जो एक प्रदेश है उससे लेकर असंख्यात-प्रदेश-रूप पूरे लोक-पर्यन्त जीवोंकी अवस्थिति सम्भव है। एक जीवकी पूरे लोकमें अवस्थिति लोकपूर्ण-समुद्रातके समय बनती है, उससे कम प्रदेशोंमें स्थिति दूसरे समुद्रघातोंके समय तथा मूल-शरीरके आकार-अमाग हुआ करती है। इसीसे संसारी जीवको स्वदेह-परिभाण बतलाया है और मुक्त-जीवको अन्तिम-देहाकारसे किञ्चित् ऊन (हीन) लिखा है। मूल-शरीर जो ओदारिक आदिके रूपमें होता है उसे न छोड़कर उत्तर-देह तैजसादिके प्रदेशों-संहित आत्म-प्रदेशोंका जो बाहर निकलना-फैलना है उसे ‘समुद्रातः कहते हैं।<sup>१</sup> उसके छह भेद हैं। उनकी स्थितिके अनुसार मूलशरीरसे आत्म-प्रदेश उत्तर-देहके साथ बाहर निकलते हैं, निकलकर जितने लोकाकाशके प्रदेशोंमें वे व्याप होते हैं उतने लोकाकाशमें उनकी स्थिति कही जाती है। जीवके प्रदेशोंमें यह संकोच और विस्तार हीपकके प्रदेशोंके समान होता है। और संसारी जीवोंमें ही होता है—मुक्त जीवोंमें नहीं; क्योंकि यह संकोच-विस्तार कर्मके निमित्तसे होता है, मुक्तात्माओंमें कर्मोंका अभाव हो जानेसे वह नहीं बनता; जैसा कि तत्पानुशासनके निम्न वाक्यसे प्रकट हैः—

पुंसः संहार-विस्तारी संसारे कर्म-निर्भितौ ।

मुक्ती तु तत्प्य तौ न स्तः क्षमात्मदेहु-कर्मणाम् ॥२३॥

१. असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥१५॥ प्रदेशसंहारविसर्पिभ्यां प्रदोपवत् ॥१६॥—२० सूत्र अ० ५। २. मूलसरीरमर्घंडिय उत्तरदेहसे जीवपिक्तस् । णिगमणं देहादी होदि समुद्रघात नामं त्रू ॥

जीव-पुद्गलोंका अन्यद्वयकृत उपकार

‘जीवान्तो पुद्गलानां च धर्माधर्मौ गतिस्थिती ।  
अवकाशं नभः कालो बतनां कुरुते सदा ॥१५॥

‘धर्मद्वय सदा जीवों और पुद्गलोंकी शक्तिमें—उपकारको—अधर्मद्वय स्थितिको—स्थितिमें उपकारको—करता है। आकाश सदा (सब द्रव्योंके) अवकाश—अवगाहन-कार्यको और काल सब द्रव्योंके सदा बतना—परिवर्तन-कार्यको करता है—उस कार्यके करनेमें सहायक होता है।’

**व्याख्या**—इस पद्ममें तथा आगेके तीन पद्ममें द्रव्योंके प्रति उपकारका वर्णन है, जिसे गुण, उपग्रह, सहाय तथा सहयोग भी कहते हैं। जीव तथा पुद्गल द्रव्योंके प्रति धर्म-उपकारकी गतियें, अपर्याप्तता, लिङ्गित्व, अवगाहनद्वय अवगाहनमें, कालद्वय बतना-परिवृत्तिमें उदासीनरूपसे सहायक होता है—किसी इच्छाकी पूर्ति अथवा प्रेरणाके रूपमें नहीं। क्योंकि ये चारी ही द्रव्य अचेतन तथा निष्क्रिय हैं, इनमें इच्छा तथा प्रेरणाद्वारा भाव नहीं बनता। वे तो उदासीन रहकर जीवों तथा पुद्गलोंके गति आदिरूप परिणाम-कार्यमें उसी प्रकार सहायक होते हैं जिस प्रकार कि मत्स्योंके गति-कार्यमें जल, पर्यावरणके स्थिति-कार्यमें मार्गस्थित वृक्ष आदि।

संसारी और मुक्त जीवका उपकार

‘संसारवतिनोऽन्योन्यमूपकारं वितन्वते ।  
मुक्तास्तद्वयतिरेकेण न कस्याप्युपद्गुवंते ॥१६॥

‘संसारवतीं जीव परस्पर एक दूसरेका उपकार करते हैं। मुक्तजीव उस संसारसे पृथक् हो जानेके कारण किसीका भी उपकार नहीं करते हैं।’

**व्याख्या**—इस पद्ममें संसारी तथा मुक्त दोनों प्रकारके जीवोंके उपकारका उल्लेख किया है। संसारी जीवोंके विषयमें लिखा है कि वे परस्परमें एक दूसरेका उपकार करते हैं। यद्यों उपकार शब्दमें उपलक्षणसे अपकारका भी ग्रहण है; संसारी जीव एक दूसरेका उपकार ही नहीं करते अपकार भी करते हैं, और इसलिए कहना चाहिए कि जीव एक-दूसरेके उपकार-अपकार या मुख-दुःखमें सहयोग करते अथवा निमित्तकारण बनते हैं। मुक्तजीव किसीका भी उपकार नहीं करते; क्योंकि जिसका उपकार किया जाता है या किया जा नकता है वे संसारी जीव होते हैं, मुक्तजीव संसारसे सदाके लिए अलग हो गये हैं, इसलिए संसारी जीवोंका वे कोई उपकार या अपकार नहीं करते।

१. (क) गमणिमित्तं धर्मधर्मम् ठिदि जीवपुमालाणं च । अवगाहणं आपासं जीवादी-पञ्चदवत्तणं ॥१७॥—नियमसार । (ख) जीवादीदव्याणं परिवद्वृणकारणं हृवे कालो ॥१८॥—नियनसार । (ग) आगासस्ववगाही धर्मद्वयस्त गमणहेदुत्तं । धर्मेदरदव्यस्त तु गुणो पुणो धरणकारणदा ॥१९॥—प्रबचन० । (घ) कालस्त वट्टणा से गुणोद्भोगो ति अप्यगो भविदो । ऐया संखेवादी गुणहि मुत्तिष्प्रहीणाणं ॥२०॥—प्रबचन० । गतिस्थित्युपग्रही धर्माधर्मशेषकारः ॥२१॥ आकाशस्याच्चाहः ॥२२॥—त० सूत्र अ० ५ । २. आ गतिस्थितिः । ३. परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२३॥—त० सूत्र अ० ५ ।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब मुक्तात्मा किसीका उपकार नहीं करते तो फिर उनकी उपासना-पूजा-बन्दना क्यों की जाती है? क्यों ग्रन्थकार सहोदयने ग्रन्थके आदिमें उनकी सुन्ति की है? इसका उत्तर इतना ही है कि एक तो मुक्तजीवोंके द्वारा उनकी पूर्वकी अहं-न्तादि अवस्थाओंमें हमारा उपकार हुआ है इसलिए हम उनके अष्टणी हैं, 'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरत्वं' जो साधुजन होते हैं वे किये हुए उपकारको कभी भूलते नहीं। दूसरे, जिस आत्म-विकासरूप सिद्धिको वे प्राप्त हुए हैं, उसे हमें भी प्राप्त करना इष्ट है और वह उनके आदर्शको सामने रखकर—उनके नकरो-कदम्पर चलकर—तथा उनके प्रति भक्तिभावका संचार करके प्राप्त की जा सकती है अतः उनकी उपासना हमारी सिद्धिमें सहायक होनेसे करणीय है और इसलिए की जाती है।

संसारी जीवोंका पुद्गलकृत उपकार

'जीवितं मरणं सौख्यं दुःखं कुर्वन्ति पुण्यलाः ।  
उपकारेण जीवानां भ्रमता भवकानने ॥१७॥'

'संसाररूपी बननेमें भ्रमण करते हुए जीवोंके पुद्गल अपने उपकार-सहकार-द्वारा जीना, मरना, सुख तथा दुःख करते हैं—जीवोंके इन कार्यरूप परिणमनमें सहायक होते हैं।'

**व्याख्या**—इस पद्यमें पुद्गलोंका संसारी जीवोंके प्रति उपकार-अपकारका संसूचन किया गया है, जिसे वे अपने सहकार-संहयोगके द्वारा सम्पन्न करते हैं अथवा यों कहिए कि उनके निमित्तसे देहधारियोंहो जीवन, मरण, सुख-दुःखादि प्राप्त होते हैं। मूलमें यद्यपि 'आदि' शब्द नहीं है, फिर भी जीवनादि के साथ शरीर-बचन-मन-श्वासोच्छ्वास तथा इन्द्रियादिका प्रहण उपलक्षणसे होता है, वे भी पुद्गलकृत उपकार हैं,<sup>१</sup> उनकी सूचनाके लिए यहाँ 'आदि' शब्द दिया गया है। और भी बहुत-से उपकार-अपकार शरीरके सम्बन्धको लेकर पुद्गलकृत होते हैं, उन सबका भी 'आदि' शब्द-द्वारा प्रहण हो जाता है, जिनके लिए भोक्षशास्त्रके 'सुख-दुःख-जीवित-मरणोपग्रहात्' इस सूत्रमें 'च' शब्द जोड़ा गया है।

परमार्थसे कोई पदार्थ किसीका कुछ भी नहीं करता  
पदार्थानां निमग्नानां स्वरूपं परमार्थतः ।  
करोति कोऽपि कस्यापि न किञ्चन कदाचन ॥१८॥

'वस्तुतः ( निश्चय-दृष्टिसे ) जो पदार्थ अपने स्वरूपमें निमग्न है—स्वभाव-परिणमनको लिये हुए हैं—उनमेंसे कोई भी किसीका कभी रंचमात्र उपकार-अपकार नहीं करता।'

**व्याख्या**—इस पद्यमें प्रयुक्त हुआ 'परमार्थतः' पद अपनी खास विशेषता रखता है और इस बातको सूचित करता है कि पिछले पद्यमें द्रव्योंका द्रव्योंके प्रति जिस उपकारका निर्देश है यह सब व्यवहार-नयकी अपेक्षासे है। निश्चय-नयकी दृष्टिसे तो अपने-अपने स्वरूपमें निमग्न होकर स्वभाव-परिणमन करते हुए द्रव्योंमेंसे कोई भी द्रव्य किसी भी परद्रव्यका

१. सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहात् ॥५-२०॥ —३० सूत्र । २. शरीरवाइमनःप्राणायानाः पुद्गल-नाम् ॥५-१३॥ —४० सूत्र । पुद्गलानां शरीरं द्राक् प्राणायानौ तथा भनः । उपकारं सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा ॥ —४४४-४४५ ।

कभी कुछ—उपकार या अपकार—नहीं करता है। धर्म-अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो सदा ही अपने स्वरूपमें स्थित हुए स्वभाव-परिणमन करते हैं और इसलिए निश्चयसे किसीका भी उपकारादि नहीं करते। जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य वैभाविकी शक्तिको लिये हुए हैं और इसलिए इनमें स्वभाव-वैभाव दोनों प्रकारका परिणमन होता है। जीवोंमें विभाव-परिणमन संसारावश्या तक कर्म तथा शर्तरादिके संबोगसे होता है—गुक्तावस्थामें विभाव-परिणमन न होकर केवल स्वभाव-परिणमन ही हुआ करता है। पुद्गलोंका स्वभाव-परिणमन परमाणुरूपमें और विभाव-परिणमन स्कन्धके रूपमें होता है। परमाणुरूपमें रहवा हुआ पुद्गल किसीका भी उपकार अथवा अपकार नहीं करता, यह समझ लेना चाहिए।

यदि कोई भोला ग्राणी यह कहे कि बमके रूपमें परमाणु तो वहा विध्वंस-कार्य करता है, ब्रह्मोंका अपकार करता है तो किसी-किसीका उपकार भी करता है, तब उसे उपकार-अपकारसे रहित कैसे कहा जावे? इसका उत्तर इतना ही है कि जिसे परमाणु-व्यम कहते हैं वह तो नामका परमाणु है—किसी अपेक्षासे उसे परमाणु नाम दिया जाता है, अन्यथा वह तो विस्फोटक-पदार्थके रूपमें अनेक द्वयाणुक आदि होते थड़े स्कन्धोंको लिये हुए एक वहा स्कन्ध होता है; उसे बस्तुतः परमाणु नहीं कह सकते। परमाणु तो यह होता है जिसका आदि-मध्य-अन्त नहीं होता, विभाग नहीं हो सकता और जो डन्डियगोचर नहीं होता। जैसा कि इससे पूर्वके एक पवर्यमें और नियमसारकी रूढ़ी गाथामें दिये हुए उसके लक्षणसे प्रकट है।

पुद्गलके चार भेद और उनकी स्वरूप-प्रयवस्था

‘स्कन्धो देशः प्रदेशोऽणुश्चतुर्धा पुद्गलो मतः ।  
समस्तमध्यमध्यर्धमध्यविभागमिमं विदुः ॥१६॥

‘पुद्गलद्रव्य स्कन्ध, देश, प्रदेश, और अणु इस तरह चार प्रकारका नाम गया है। इस ( चतुर्भिंश ) पुद्गलको ( क्रमशः ) सकल, अर्ध, अर्धार्ध और अविभागी कहते हैं।’

**व्याख्या**—संख्यात असंख्यात अनन्त अथवा अनन्तवानन्त परमाणुओंके पिण्डरूप जो कोई भी एक वस्तु है उसको ‘स्कन्ध’ कहते हैं। स्कन्धका एक-एक परमाणु करके खण्ड होते-होते जब वह आधा रह जाता है तब उस आधे स्कन्धको ‘देश-स्कन्ध’ कहते हैं। देश-स्कन्धका खण्ड होते-होते जब वह आधा रह जाता है तब उस आधेको अथवा मूल स्कन्धके चतुर्थ माणको ‘प्रदेश-स्कन्ध’ कहते हैं। प्रदेश-स्कन्धके खण्ड होते-होते जब फिर कोई खण्ड नहीं बन सकता अणुमात्र रह जाता है तब उसे ‘परमाणु’ कहते हैं। ऐसी स्थितिमें मूलस्कन्धके उत्तरवर्ती और देश-स्कन्धके पूर्ववर्ती जितने भी खण्ड होंगे उन सबकी भी ‘स्कन्ध’ संज्ञा, सद्य देश-स्कन्धके उत्तरवर्ती और प्रदेश-स्कन्धके पूर्ववर्ती सभी खण्डोंकी भी ‘देश-स्कन्ध’ मंज्ञा और प्रदेश-स्कन्धके उत्तरवर्ती एवं परमाणुके पूर्ववर्ती सभी खण्डोंकी भी ‘प्रदेश-संज्ञा’ होती है, ऐसा समाप्ति चाहिए।

१. खंडा य खंडदेशा खंडप्रदेशा य हींति परमाणु। इदि से चतुर्भिंश्या पुग्गलकाया मुण्डेष्वा ॥७४॥। खंडं सयलसमत्यं तस्य य अङ्गं भण्ति देसो ति। अङ्गं च पदेशो अविभागी चेदं परमाणु ॥७५॥—पञ्चास्ति०।

श्री अमृतचन्द्राचार्यने तत्त्वार्थसारमें तत्त्वार्थसूक्त-सम्मत पुद्गलोंके अणु और स्कन्ध ऐसे दो भेद करके फिर स्कन्धकि स्कन्ध, देश और प्रदेश ऐसे तीन भेद किये हैं और तदनन्तर उनका जो स्वरूप दिया है वह लक्षण एवं तथा पंचामितकायसे मिलता-जुलता है।

किस प्रकारके पुद्गलोंसे लोक हैंसे भरा हुआ है

सूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैर्लोकः स्थूलैः स्थूलतरैश्चितः ।

अनन्तैः पुद्गलैश्चित्रैः कुम्भो धूमैरिवाभितः ॥२०॥

‘लोक सर्व ओरसे सूक्ष्म-सूक्ष्मतर, स्थूल-स्थूलतर अनेक प्रकारके अनन्त पुद्गलोंसे धूमसे घटके समान (ठसाठस) भरा हुआ है।

**व्याख्या**—पिछले पदमें पुद्गलद्रव्यके स्कन्धादिके भेदसे चार भेदोंका उल्लेख किया गया है, इस पदमें दूसरी हाइसे चार भेदोंका निर्देश है, और वे हैं १ सूक्ष्म, २ सूक्ष्मतर, ३ स्थूल, ४ स्थूलतर। ये भेद कर्मरूप होने योग्य पुद्गलोंसे सम्बन्ध रखते हैं। इनके विषयमें लिखा है कि इन चारों प्रकारोंके पुद्गलोंसे लोकाकाश धूमसे घटके समान ठसाठस भरा हुआ है—जहाँ लोकमें सर्वत्र आत्म-द्रव्यका अवस्थान है वहाँ कर्मरूप होने योग्य इन चिकित्ष पुद्गलोंका भी अवस्थान है और इसलिए वन्धकी अवस्थामें इन्हें जीव कहीं बाहरसे लाता नहीं। काय, वचन तथा मनकी क्रियारूप योगका संचालन होते ही ये पुद्गल स्वयं कर्मरूप होकर आत्म-प्रवेश करते हैं। यहाँ सूक्ष्मतम् (अतीब सूक्ष्म) और स्थूलतम् (अतीब स्थूल) पुद्गलोंका उल्लेख नहीं है; क्योंकि ये दोनों प्रकारके पुद्गल कर्म-वर्गणाकी योग्यतासे रहित होते हैं। इसीसे प्रबचनसारमें ‘बापाओगोहि जोगोहि’ इन दो विशेषणोंका साथमें प्रयोग किया गया है।

द्रव्यके मूर्तमूर्त दो भेद और उनके लक्षण

‘मूर्तमूर्त द्विधा द्रव्यं मूर्तमूर्तेऽगुणैर्युतम् ।

अज्ञग्राहा गुणा मूर्ती अमूर्ती सन्त्यतीन्द्रियाः ॥२१॥

‘द्रव्य मूर्तिक और अमूर्तिक दो प्रकारका है। मूर्त-गुणोंसे जो युक्त वह मूर्तिक और जो अमूर्त-गुणोंसे युक्त वह अमूर्तिक है। जो गुण हृत्विद्यों-हारा प्राप्त हैं वे मूर्त और जो गुण हृत्विद्यों-हारा प्राप्त नहीं हैं वे अमूर्त कहलाते हैं।’

**व्याख्या**—इससे पहले (१-४) जीव-अजीवकी हाइसे द्रव्योंके छह भेद बतलाये गये हैं—एक जीव और पाँच धर्मादिक अजीव। यहाँ मूर्त-अमूर्त-गुणोंसे युक्त होनेकी अपेक्षा द्रव्यके दो भेद किये गये हैं—एक मूर्तिक, दूसरा अमूर्तिक, जिससे धर्म, अधर्म, आकाश,

१. अणु-स्कन्ध-विभेदेन द्विविधा: खलु पुद्गलाः । स्कन्धो देशः प्रदेशाश्च लक्ष्यस्तु विविदो मतः ॥३-५६॥ २. अनन्तपरमाणुर्ना संशातः स्कन्ध उच्यते । देशस्तस्यार्थमधीर्यं प्रदेशः परिकीर्तिः ॥३-५७॥ ३. ओगाढगाढणिचिदो पौगलकायेहि सबदो लोगो । सुहमेहि बादरेहि य अपाओगोहि जोगोहि ॥१६८॥ — प्रबचनसार । ओगाढगाढणिचिदो पौगलकायेहि सबदो लोगो । सुहमेहि बादरेहि य जंताणतेहि विविधेहि ॥१६४॥ — पञ्चास्ति० । ३. मुत्ता इंदियगोज्ज्ञा पौगलदब्धपणा अणेगविधा । दब्धाणममृताणं गुणा अमूला मृणेद्वा ॥१६१॥ — प्रबचनसार ।

काल और जीव ये पाँच तो अमूर्तिक द्रव्यको कोटिमें आते हैं और एक मात्र पुद्गल मूर्तिक द्रव्य ठहरता है। कहा भी है। मूर्तिमन्तोऽत्र पुद्गलाः<sup>१</sup> (३) —इन छह द्रव्योंमें केवल पुद्गल द्रव्य ही मूर्तिक है; व्याख्यांकि वह मूर्तिके लक्षण रूप (वर्ण), गन्ध, रस और स्पर्शको व्यवस्थाको अपनेमें लिये हुए होता है।<sup>२</sup> और ये चार मूल-गुण ही, जिनके उत्तर-गुण बीस होते हैं, इन्द्रिय-आद्य हैं—चक्षु, नासिका, रसना और त्वचा (स्पर्शन) इन्द्रियोंके विषय हैं। इन्द्रिय-आद्य-गुणोंको ही यहाँ 'मूर्त' और ज्ञान-दर्शनादि अतीन्द्रिय-गुणोंको 'अमूर्त' कहा गया है।

इस पदमें अतीन्द्रियको 'अमूर्त' बतलाया है और गत १०वें पदमें परमाणुको भी अतीन्द्रिय लिखा है; तब पुद्गल-परमाणु भी अमूर्त होता है। परन्तु पुद्गलद्रव्य मूर्तिक होता है<sup>३</sup> इससे परमाणु भी मूर्तिक होना चाहिए अतः परमाणुको अतीन्द्रिय और अमूर्त कहना विरोधको लिये हुए जान पड़ता है, यदि ऐसा कहा जाय तो वह एक प्रकारसे ठीक है, व्याख्यांक वस्तुतः पुद्गलद्रव्य मूर्तिक ही होता है—भले ही अपनी किसी सूक्ष्म या सूक्ष्मतर व्याख्यामें वह इन्द्रियमाद्य न हो। परन्तु इन्द्रियमाद्य न होनेसे ही यदि पुद्गल परमाणुको अतीन्द्रिय माना जाय तो हजारों परमाणुओंके स्वन्धरूप जो कार्मण-वर्णणार्थ हैं वे भी इन्द्रिय-आद्य न होनेसे अतीन्द्रिय तथा अमूर्तिक ठहरेंगी और इससे पुद्गलका एक अविभागी परमाणु ही नहीं बल्कि वर्णणार्थोंके रूपमें सूक्ष्म पुद्गल-स्वन्ध भी अमूर्तिक ठहरेंगे। अमूर्तिक ठहरनेपर उनमें स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णका अभाव मानना होगा और इन पुद्गल-गुणोंका अभाव होनेपर पुद्गल-द्रव्यके ही अभावका प्रसंग उपस्थित होगा। अतः परमाणुको अतीन्द्रिय और अतीन्द्रियको अमूर्तिक कहना व्यवहारन्तरकी दृष्टिसे कथन है, निश्चय-नियमी दृष्टिसे नहीं। किन्तु यही सूक्ष्म पदार्थ ऐसे हैं जो स्वभावतः तो इन्द्रिय-गोचर नहीं हैं परन्तु यन्त्रोंकी सहायतासे इन्द्रिय-गोचर हो जाते हैं, आजकल ऐसे शक्तिशाली यन्त्र तैयार हो गये हैं जो एक सूक्ष्म-वस्तुको हजारों गुणी बड़ी करके दिखला सकते हैं। ऐसी स्थितिमें परमाणु भी यन्त्रोंसी सहायतासे बड़ा दिखाई दे सकता है। परन्तु कैसी भी शक्तिशालिनी आँख हो उससे स्वतन्त्रतापूर्वक वह देखा नहीं जा सकता। इसीसे वह अतीन्द्रिय होते हुए भी पुद्गलद्रव्यकी दृष्टिसे मूर्तिक हैं।

कौन पुद्गल किसके साथ कर्म-भावको प्राप्त होते हैं

'कर्म वेदयमानस्य भावाः सन्ति शुभाशुभाः ।

कर्मभावं प्रपञ्चन्ते 'संसक्तास्तेषु पुद्गलाः ॥२२॥

'कर्म-फलको भोगते हुए जीवके शुभ या अशुभ भाव होते हैं। उन भावोंके होनेपर सम्बन्धित-आलिङ्गन हुए पुद्गल कर्म-भावको प्राप्त होते हैं—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परिणमते हैं।'

व्याख्या—गत २०वें पदके अनुसार जो पुद्गल द्रव्य लोकमें ठसाठस भरे हुए हैं वे किसी जीवके साथ कर्मभावको कष प्राप्त होते हैं इसी विषयके सिद्धान्तका इस पदमें निरूपण किया गया है—लिखा है कि जष कोई जीव उदयमें आये कर्मको भोगता है तब उसके भाव (मन-वचन-कायरूप योगोंके परिणमन) शुभ या अशुभ रूप होते हैं। और उन भावों

१. स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णकत्तः पुद्गलाः । — द० सूत्र अ० ५ । २. अता कुणदि सहावं तत्य गवा पोगला सभावेत्ति । गच्छति कर्मभावं अणोणागाहृमवगाढा ॥६५॥ — पञ्चास्ति ॥ ३. आ संदर्भास्तेषु ।

अथवा परिणामोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त हुए पुद्गल (स्वतः) कर्मभावको प्राप्त हो जाते हैं—उन्हें कर्मरूप परिणत करनेकी दूसरी कोई प्रक्रिया नहीं है, तत्कालीन योगोंके शुभ-अशुभ परिणाम ही उन संसक्त पुद्गलोंको शुभाशुभ कर्मके रूपमें परिणत कर देते हैं।

पौराणिक उपर्याप्ति पुद्गलोंके बारेहर किसानमें हेतु  
योगेन ये समायान्ति शस्ताशस्तेन पुद्गलाः ।  
तेऽष्टकर्मत्वमिच्छान्ति कपाय-परिणामतः ॥२३॥

'अशास्त्र-अप्रशास्त्र-योगसे—मन-बचन-कायकी शुभ या अशुभ प्रवृत्तिसे—जो पुद्गल आत्ममें प्रवेश पाते हैं वे कपायपरिणामके कारण अष्टकर्मरूप परिणत होते हैं—ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका रूप धारण करते हैं।'

**व्याख्या**—पिछले पदमें जिन पुद्गलोंका कर्मभावको प्राप्त होना लिखा है वे मन-बचन-कायरूप योगोंके शुभाशुभ परिणाम-द्वारसे आत्म-प्रविष्ट हुए पुद्गल कपाय-भावके धारण आठ कर्मोंके रूपमें परिणत होते हैं—कर्मसामान्यसे कर्मथिदेष उन जाते हैं। यहाँ 'कपाय-परिणामतः' यह पद हेतुरूपमें प्रयुक्त हुआ है, जिसका आशय है 'कपायरूप परिणामतः निमित्तको पाकर अष्टकर्मरूप होना'। जबतक कपाय-परिणाम नहीं होता तबतक सारे कर्म स्थिति और अनुभागसे रहित होते हैं और इसीलिए कुछ भी फल देनेमें समर्थ नहीं होते—जैसे जिस समय आये वैसे उसी समय निकल गये। अतः 'कपायपरिणामतः' यह पद यहाँ अपना खास महत्व रखता है।

आठ कर्मोंके नाम  
‘ज्ञानदृष्टयासृती वेद्यं मोहनीयायुषी विदुः ।  
नाम गोत्रान्तरायौ च कर्माण्यष्टति सूरयः ॥२४॥

'ज्ञानावरण, वर्णावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठको आचार्य (प्रध्य-) कर्म कहते हैं।'

**व्याख्या**—पूर्वपदमें आत्म-प्रविष्ट हुए पुद्गलोंके जिन आठ कर्मरूप परिणत होनेकी घात कही गयी है उनके इस पदमें नाम दिये गये हैं। पुद्गलात्मक होनेसे ये आठों द्रव्यकर्म हैं। इन कर्मोंमें अपने-अपने नामानुकूल कार्य करनेकी शक्ति होती है, जिसे 'प्रकृति' कहते हैं और इसलिए ये आठ मूलकर्म प्रकृतियाँ कहलाती हैं, जिनके उत्तरोत्तर ऐद १४८ हैं। इन कर्म-प्रकृतियोंका विशेष वर्णन घटखण्डागम, गोममटसार, कर्मपत्रिका, पंचसंग्रह आदि कर्म-साहित्य-विषयक मन्त्रोंसे जाना जाता है।

जीव कल्मषोदय-जनित भावका कर्ता न कि कर्मका  
‘कल्मषोदयतः भावो यो जीवस्य प्रजायते ।  
स कर्ता तस्य भावस्य कर्मणो न कदाचन ॥२५॥

१. आद्यो ज्ञानदृष्टनावरणवेदनीयमोहनीयायुषीमोत्रान्तरायाः ॥ — त० सूत्र ८-४ । २. एवं कारणेण दु कृता भावा सएष भावेण । पुगलकर्मकर्याणं ण दु कृता सन्तभावाणं ॥८८॥ — समयसार ।

‘कल्पयके उदयसे—मिथ्यात्वादि कर्मके उदय-वश—जीवका जो भाव उत्पन्न होता है उसी भावका वह जीव कर्ता होता है प्रब्लेम्सका कर्ता कभी नहीं होता है।’

**व्याख्या**—‘कल्पय’ शब्द कर्ममलका याचक है। यद्यपि उसमें सारा ही कर्ममल आ जाता है, फिर भी जिस कर्ममलके उदयसे जीवके औद्योगिक भाव उत्पन्न होते हैं वही कर्ममल यहाँपर विवक्षित जात पड़ता है। विवक्षित-कर्ममलके उदयका निमित्त पाकर जीवका जो भाव उत्पन्न होता है उस अपने भावका कर्ता वह जीव होता है, न कि उस पुद्गलद्रव्यके कर्मरूप परिणामका कर्ता, जो जीवके परिणामका निमित्त पाकर स्वतः कर्मरूप परिणत होता है। जैसा कि श्री असुतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है:—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।

स्वयमेव परिणामन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥ ( पुरुषार्थसिं )

इस वाक्यमें प्रयुक्त हुआ पुद्गलोंका ‘अन्ये’ ( दूसरे ) विशेषण-पद ऐसा ही महत्व-पूर्ण है और इस वाक्यको स्पष्ट सूचित करता है कि जिस जीवकृत-परिणामका इस पदमें चलेगा है वह संसारी जीवका विभाष्य-परिणाम है और विभाव-परिणाम जीवमें विना पुद्गलके सम्पर्कके नहीं हुआ करता। अतः जिन पुद्गलोंके सम्बन्धको पाकर जीवका विभाव-परिणाम बना उन पुद्गलोंसे भिन्न जो दूसरे पुद्गल हैं और वही—परिणामके पास ही—मौजूद हैं वे उस परिणामका निमित्त पाकर स्वयमेव कर्मभावको प्राप्त हो जाते हैं—द्रव्यकर्म बन जाते हैं। नतीजा यह निकला कि पहलेसे जीवके परिणाममें पुद्गलके सम्पर्क विना नवा कोई पुद्गल कर्मरूप नहीं परिणमता। और इस तरह पूर्यवद्ध कर्मके उदय-निमित्तको पाकर जीवका परिणाम और जीवके परिणाम-निमित्तको पाकर नवे पुद्गलोंका कर्मरूपसे बन्धनको प्राप्त होना, यह सिलसिला अनादिकालसे चला आता है। प्रत्येक द्रव्यका परिणाम अपनेमें ही होता है, और इसलिए वही अपने उस परिणामका कर्ता होता है, दूसरे द्रव्यके परिणामका दूसरा कोई द्रव्य कर्ता नहीं होता—निमित्तकारण होना दूसरी बात है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके कार्यका निमित्तकारण तो होता है पर उपादानकारण नहीं। उपादान-कारण उसे कहते हैं जो कारण ही कार्यरूप परिणत होवे। मिहीका घड़ा घन्जेमें मिही ही घटरूप परिणत होती है कुम्भकारादि नहीं, इसलिए मिही उपादानकारण और कुम्भकारादि उसके निमित्तकारण कहे जाते हैं।

कर्मोंकी विविधरूपसे उत्पत्ति कैसे होती है

‘विविधाः पुद्गलाः स्कन्धाः संपद्यन्ते यथा स्वयम् ।

कर्मणामपि निष्पत्तिरथरैरकृता तथा ॥२६॥

‘जिस प्रकार विविध पुद्गल स्वयं स्कन्ध बन जाते हैं उसी प्रकार ( पुद्गलात्मक ) कर्मोंकी निष्पत्ति ( निर्मिति ) भी दूसरोंके द्वारा नहीं होती—स्वतः होती है।’

**व्याख्या**—पिछले पदमें यह बतलाया गया है कि जीव अपने भावोंका कर्ता है, द्रव्य-कर्मका कर्ता कदाचित् नहीं है; तब द्रव्यकर्मोंका वर्गीकरण अथवा ज्ञानावरणादिके रूपमें

१. जह पुरुषलदव्याणं बहुप्यारेहि खंधिष्वस्ति । अकदा परेहि दिता यह कर्माणं वियाणाहि ॥१६॥ — पञ्चास्ति ।

विविध कर्मवर्गणाओंकी निष्पत्ति विना दूसरेके किये कैसे होती है ? यह एक प्रश्न पैदा होता है । इसका उत्तर यहाँ विविध-पुद्गल-स्कन्द्योंको स्वतः उत्तरतिके दृष्टान्त-द्वारा दिया गया है, जिसका यह आशय है कि जिस प्रकार आकाशमें अपने योग्य सूर्य-चन्द्रमाकी प्रभाको पाकर बादल, सन्ध्याराग, इन्द्रधनुष, परिमण्डलादि अनेक प्रकारके पुद्गल-स्कन्द विना दूसरेके किये स्वयं चेतनेविगड़ते देखे जाते हैं, उसी प्रकार अपने योग्य भिष्यात्म-रागादिरूप जीव-परिणामोंको पाकर झानावरण-दर्शनावरण आदि बहुत प्रकारके कर्म विना किसी दूसरे कर्ताकी अपेक्षाके स्वर्यं उत्पन्न होते हैं और समयादिको पाकर स्वर्यं ही विघटित हो जाते हैं ।

जीव कभी कर्मरूप और कर्म जीवरूप नहीं होते  
कर्मभावं प्रपञ्चन्ते न कदाचन चेतनाः ।  
कर्म चैतन्यभावं वा स्वस्वभावव्यवस्थितेः ॥२७॥

‘अपने-अपने स्वभावमें ( सदा ) व्यवस्थित रहनेके कारण चेतन ( जीव ) कभी कर्मरूप नहीं होते और न कर्म कभी चेतनरूप होते हैं ।’

ब्याख्या—जीव और पौद्गालक कर्मोंका एक ऐश्वावगाहरूप सम्बन्ध होनेपर भी जीव कभी कर्मरूप और कर्म कभी जीवरूप नहीं होते; क्योंकि दोनों सदा अपने-अपने स्वभावमें स्थित रहते हैं—स्वभावका त्याग कोई भी द्रव्य कभी नहीं कर सकता । इसीसे जैनागममें आत्माको स्वभावसे निजाभावका कर्ता कहा गया है—पुद्गलकर्मादिकका कर्ता नहीं बतलाया । इसी तरह कर्मको भी स्वभावसे अपने भावका कर्ता कहा गया है—जीवके स्वभावका कर्ता नहीं; जैसा कि पंचास्तिकायकी निम्न गाथाओंसे जाना जाता है:—

कुब्दं सर्गं सहावं अत्ता कस्ता सगस्स भावस्स ।  
ए हि पोगलकम्पाणं इवि जिणवदेणं मुणेयत्वं ॥६१॥  
कम्पं वि सर्गं कुब्दवि सेण सहावेण सम्मम्पाणं ।  
जीवो वि य तारित्सजो कम्पसहावेण भावेण ॥६२॥

जीवके उपादानभावसे कर्मोंके करनेपर वापत्ति  
जीवः करोति कर्माणि यद्युपादानभावतः ।  
चेतनत्वं तदा नूनं कर्मणो वार्यते कथम् ॥२८॥

‘इवि जीव निष्पत्ति ही उपादान-भावसे कर्मोंका कर्ता है तब कर्मके चेतनपनेका निषेध कैसे किया जा सकता है ? नहीं किया जा सकता; क्योंकि उपादान-कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है । जीवके चेतन होनेपर उसके उपादानसे निर्मित हुआ कर्म भी चेतन ठहरता है ।’

ब्याख्या—पिछले पद्ममें जीव तथा पुद्गल-कर्मकी जिस स्वभाव-व्यवस्थितिका उल्लेख किया गया है उसे न मानकर यदि यह कहा जाय कि जीव अपने उपादान-भावसे कर्मोंका कर्ता है—निर्मित रूपसे नहीं—तो फिर कर्मोंके चेतनत्वका निषेध नहीं किया जा सकता; क्योंकि उपादान-कारण जब चेतन होता होगा तो उसके कार्यको भी चेतन मानना पड़ेगा ।

कर्मके उपादानभावसे जीवके करनेपर आपसि

यद्यपादानभावेन विधते कर्म चेतनम् ।

अचेतनत्वमेतस्य तदा केव निषिद्धते ॥२६॥

‘वहि कर्म अपने उपादानभावसे चेतन ( जीव ) का निर्माण करता है तो इस-चेतनरूप जीवके अचेतनपरे ( जड़परे ) के प्रसंगका निषेध कैसे किया जा सकता है ? — नहीं किया जा सकता । कर्मका उपादान अचेतन होनेसे तज्जिमित जीवात्मा भी तब चेतनान्वित जड़ ठहरता है ।’

**व्याख्या**—यदि उस स्वभाव व्यवस्थितिको न मानकर यह कहा जाय कि कर्म अपने उपादानसे जीवके भावोंका कर्ता है—निमित्तरूपसे नहीं—तो फिर जीवके अचेतनत्वका निषेध नहीं किया जा सकता है ? क्योंकि उपादान जब अचेतन होगा तो उसके कार्यको भी अचेतन मानना पड़ेगा ।

उक्त दोनों भान्यताओंपर अनिवार्य धोषापत्ति

एवं संपद्यते दोषः सर्वथापि दुरुत्तरः ।

चेतनाचेतनद्रव्यविशेषाभावलक्षणः ॥३०॥

‘इस प्रकार ( चेतनको अचेतनका और अचेतनको चेतनका उपादानकारण माननेसे ) चेतन और अचेतन द्रव्यमें कोई भेद न रहनेरूप वह दोष भी उपस्थित होता है जो सर्वथा दुरुत्तर है—किसी तरह भी टाला नहीं जा सकता और उससे अनिष्टके घटिया होनेका प्रसंग आता है ।’

**व्याख्या**—चेतनात्मक जीवको अपने उपादानसे कर्मोंका और अचेतनात्मक कर्मको अपने उपादानसे जीवका कर्ता माननेपर जिन दोषोंकी आपत्ति पिछले दो पद्यमें दर्शायी गयी है उनसे फिर एक बड़ा दोष और उत्पन्न होता है जो किसी तरह भी टाला नहीं जा सकता और उसे इस पद्यमें बतलाया है । वह महान् दोष है चेतन-अचेतन-द्रव्य-विशेषका अभाव—अर्थात् कोई द्रव्य चेतन और कोई अचेतन, यह भेद तब किसी तरह भी नहीं बन सकेगा । सबको चेतन और सबको अचेतन भी नहीं कह सकते; क्योंकि कोई भी विधि या निषेध प्रतिपक्षीके बिना नहीं होता । विधिका निषेधके साथ निषेधका विधिके साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है । जैसा कि स्वामी समश्वभद्रके निन्न वाक्योंसे जाना जाता है :—

अस्तित्वं प्रतिषेधेनाविनाभाव्येकषमिणि ।

विषेषणस्वात्साधन्यं यथा भेदविवक्षया ॥१५॥

नास्तित्वं प्रतिषेधेनाविनाभाव्येकषमिणि ।

विषेषणस्वाहैक्षम्यं यथा भेदविवक्षया ॥१६॥

—आमरीमांसा

पुद्गलोंके कर्मरूप और जीवोंके सरागरूप परिणामके हेतु

'सरागं जीवभाश्रित्य कर्मत्वं यान्ति पुद्गलः ।  
कर्माण्याश्रित्य जीवोऽपि सरागत्वं प्रदद्यते ॥३३॥'

'सरागी जीवका आश्रय-निमित्त पाकर पुद्गल कर्मभावको प्राप्त होते हैं । और कर्मोंका आश्रय-निमित्त पाकर जीव भी सराग-भावको प्राप्त होता है ।'

**व्याख्या**—इस पद्ममें जीव और पुद्गलकी एक-दूसरेके निमित्तसे परिणमनकी स्थिति-को स्पष्ट किया गया है और वह यह है कि जीवके रागादि रूप परिणत होते हैं और अपने-अपने कर्मोंके उदयवश राग-द्वेषादिरूप परिणत होते हैं । परन्तु सभी जीवोंका कर्मोंके उदयवश राग-द्वेषादिरूप परिणत होना लाजमी ( अवश्यभावी ) नहीं है; कुछ जीव ऐसे भी होते हैं जो कर्मोंका उदय आनेपर समाप्तभाव धारण करते हैं—कर्मजनित पदार्थोंमें राग-द्वेषादिरूप परिणत नहीं होते अथवा मोहनीय-कर्मका अभाव हो जानेपर राग-द्वेषादिरूप परिणत होनेकी जिनमें योग्यता ही नहीं रहती—ऐसे जीवोंके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप परिणत नहीं होते अथवा यों कहिए कि उन जीवोंके कर्मोंका उदय आनेपर भी तथा कुछ औदयिक भावोंके होनेपर भी नये कर्मोंका बन्ध नहीं होता । यदि ऐसा नहीं माना जाय तो बन्धकी परम्परा कभी समाप्त नहीं हो सकती । और न कभी मुक्तिकी प्राप्ति ही सकती है; क्योंकि मोहनीय कर्मका अभाव हो जानेपर भी अर्हन्तों-भगवन्तोंके बिना किसी इच्छा तथा प्रयत्नके तथाधिक योग्यताके सद्भावसे यथासमय उठना-बैठना, विहार करना और धर्मोपदेश देना-जैसी क्रियाएँ तो नियमितरूप स्वभावसे उसी प्रकार होती हैं जिस प्रकार कि मेषाकार-परिणत पुद्गलोंका चलना, ठहरना, गर्जना और जल बरसाना आदि क्रियाएँ बिना किसी पुरुष-प्रयत्नके स्थित होती देखनेमें आती हैं । परन्तु उनसे मोहके उदय-पूर्वक न होनेके कारण क्रियाएँ-कर्मोंके रूपमें नये कर्मोंका कोई बन्धन नहीं होता । अरहन्तोंकी ये क्रियाएँ औदयिकी हैं; क्योंकि अर्हन्त-पद महापुण्यकल्पबृक्षसम 'तीर्थकर प्रकृति' नामक नामकर्मके उदयसे होता है । साथ ही मोहनीय कर्मका अभाव हो जानेसे ये क्रियाएँ आयिकी भी हैं और इसलिए शुद्धचेतनामें कोई विकार उत्पन्न नहीं करती; जैसा कि प्रबचनसारकी जिन्न गाथाओंसे प्रकट है :—

ठाण-णिसेन्ज-विहारा धन्तुवदेसो वि णियकयो तैसि ।

अरहंतार्ण कर्मे मायादारोऽव इत्यीर्ण ॥४३॥

पुण्यफला अरहंता तैसि किरिया पुणोऽवि ओशहजा ।

मोहादीर्हि दिरहिया तम्हा सा शाहगि सि मवा ॥४४॥

कर्मकृतभावका कर्तृत्व और जीवका अकर्तृत्व

'कर्म वेतकृते भावो जीदः कर्ता तदा कथम् ।

न किंचित् कुरुते जीयो हित्वा भावं निजं परम् ॥३२॥

१. जीवपरिणामहेतु कर्मत्वं पुण्यला परिणमति । पुण्यलकर्मणिमित्तं तहै जीवो वि परिणमह ॥८०॥ — समयवार । २. भावो जदि कर्मकदो अता कर्मस्त होदि किञ्च करता । ण कुणदि अता किञ्च दि मुसा अणे सर्व भावं ॥५९॥ — पञ्चास्ति० ।

‘(रागादि) भाव कर्मका कर्ता है—कर्मसमूहका निर्माता है—यदि ऐसा माना जाय तो फिर जीव कर्मोंका कर्ता कैसे हो सकता है?—नहीं हो सकता। जीव तो अपने ( ज्ञानादिरूप ) निज-भावको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता—रागादिक जीवके निज भाव न होकर परके निमित्तसे होनेवाले परमाव हैं, अतः जीव वस्तुतः उनका कर्ता नहीं।’

**ब्याख्या**—यही प्रयुक्त हुआ ‘भावः’ पद रागादिरूप विभाव-भावका बावक है—स्वभाव-का नहीं। पिछले पदमें जब यह कहा गया है कि रागादिरूप परिणत हुए जीवका आश्रय-निमित्त पाकर पुद्गल ज्ञानादिरूप कर्मरूप परिणत होते हैं तब उससे यह स्पष्ट फलित होता है कि जीवके रागादिरूप परिणत न होनेपर कर्म उत्पन्न नहीं होते। ऐसी स्थितिमें जीवका रागादिभाव, जो परके सम्पर्कसे उत्पन्न हुआ कर्मकृत विभाव-भाव है, द्रव्यकर्म-का कर्ता ठहरा; तब जीवको द्रव्यकर्मका कर्ता कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार जिस प्रकार अग्निसे सन्तान हुए घृतने जो जलानेका काम किया वह वस्तुतः घृतका काम नहीं कहा जा सकता, घृतमें प्रविष्ट हुई अग्निका काम है। और इसलिए यहाँ इस बातको स्पष्ट किया गया है कि वास्तवमें जीव अपने ज्ञान-दर्शनादि चेतन्यभावको छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं करता। एक कथिके शब्दोंमें ‘यह दिले बीमारकी सारी खता थी मैं न था’। संसारी जीवोंके साथ रागादिको जो बीमारी लगी हुई है वही उनसे सब कुछ कर्म कराती है।

कर्मसे भाव और भावसे कर्म इस प्रकार एक दूसरेका कर्तृत्व

‘कर्मतो जायते भावो भावतः कर्म सर्वदा।’

इत्थं कर्तृत्वमन्योन्यं द्रष्टव्यं भाव-कर्मणोः ॥३३॥

‘कर्मके निमित्तसे सबा रागादिभाव और रागादिभावके निमित्तसे सबा कर्मसमूह उत्पन्न होता है। इस प्रकार रागादिभावों और कर्मोंके परस्पर एक दूसरेका कर्तृपन्न जानना चाहिए।’

**ब्याख्या**—पिछले २८, २९, ३० नम्बरके पदोंमें यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जीव अपने उपादानसे कर्मका और कर्म अपने उपादानसे जीवका कर्ता नहीं, कर्ता माननेपर वहुत बड़ा दुस्तर दोष उत्पन्न होता है—तब निमित्त-नैमित्तिक रूपमें कर्ता कर्मकी व्यवस्था कैसे हो उसे इस पदमें स्पष्ट किया गया है और वह यह है कि द्रव्यकर्मसे—कर्मके उदय-निमित्तको पाकर—जीवके रागादिभाव उत्पन्न होता है—जीवत्व या चेतनभाव उत्पन्न नहीं होता—और जीवके रागादिभावसे कर्म उत्पन्न होता है—पुद्गल कर्मरूप परिणत होता है—न कि पुद्गल द्रव्य उत्पन्न होता है। इस तरह भाव और कर्मका सबा एक-दूसरेके प्रति नैमित्तिक रूपसे कर्तृपन्न है। जीव-पुद्गल-द्रव्योंमें परस्पर एक दूसरेका कोई कर्तृपन्न नहीं है—जीवसे पुद्गल या पुद्गलसे जीव कभी उत्पन्न नहीं होता।

कोषादिकृत कर्मको जीवकृत कैसे कहा जाता है

कोषादिभिः कुते कर्म जीवेन कुतमुच्यते।

पदातिभिर्जितं युद्धं जितं भूपतिना यथा ॥३४॥

१. भावो कर्मणिमितो कर्मं पुण्य भावकारणं हृवदि । ए दु तेर्ति खलू कर्ता ए विषाभूदा दु रक्तारं ॥ पञ्चास्ति ० ६० ॥

'जिस प्रकार योद्धाओंके द्वारा जीता गया युद्ध राजके द्वारा जीता गया कहा जाता है, उसी प्रकार कोधादि-कषायभावोंके द्वारा किया गया कर्म जीवके द्वारा किया गया कहा जाता है।'

**व्याख्या**—जब कर्ता रागादिभाव हैं तब जीवको कर्ता कर्यों कहा जाता है? इस प्रश्नका यहाँ एक दृष्टान्त-द्वारा समाधान किया गया है जो अपनेमें स्पष्ट है। निश्चयसे तो संग्राममें लड़नेवाले योद्धाओंके द्वारा ही युद्ध किया जाता तथा जीता जाता है; परन्तु व्यवहारमें राजके द्वारा, जिस प्रकार उसका केवा आज्ञा तथा अंतिम जाता बहा जाता है, उसी प्रकार निश्चयसे कोधादि-द्वारा सम्पन्न होनेवाला कर्य भी—ज्ञानात्मरणादि कर्मवन्ध भी—व्यवहारसे जीवके द्वारा किया गया कहा जाता है; जैसा कि समयसारकी निम्नगाथासे भी जाना जाता है :—

जोधेहि कवे जुद्दे राएण करं ति जंपदे लोगो ।  
तह ववहारेण करं जाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

कर्मजनित देहादिक सब विकार चैतन्य-रहित हैं  
'देह-संहति-संस्थान-गति-जाति-पुरोगमाः ।  
विकाराः कर्मजाः सर्वे चैतन्येन विवर्जिताः ॥३५॥

'जीवके शरीर, संहनन, संस्थान, गति, जाति आदि रूप जितने भी विकार हैं वे सब कर्म-के निमित्तसे उत्पन्न एवं चेतना-रहित होते हैं।'

**व्याख्या**—इस पदमें शरीर-संहनन संस्थान-गति-जातिके रूपमें जिन विकारोंका उल्लेख है और 'पुरोगमा:' पदके द्वारा, जो कि 'इत्यादि' का बाचक है, पौद्गलिके जिन स्पर्श रस-गन्ध-बर्ण आदि गुणों तथा अवस्था-विशेषरूप-वर्चोयोंका सूचन किया गया है वे सब ग्रायः नाम-कर्म-जनित हैं और पौद्गलिक होनेसे चेतना-गुणसे रहित हैं। नामकर्मकी मुख्य भूमि प्रकृतियाँ हैं, उत्तर-भेद-सहित २३; जैसा कि मोक्षशास्त्रनात आठवें अध्यायके 'गति-जाति-शरीराङ्को-पाङ्क-निर्माण-वन्धन-संघात-संस्थान-संहनन-स्पर्श-रस-गन्ध-बर्ण' इत्यादि सूत्र नं० १२ और उसकी टीकाओं आदिसे जाना जाता है।

त्रयोदश गुणस्थान और उनकी पौद्गलिकता  
मिथ्याद्वक् सासनो मिश्रोऽसंपतो देशसंयतः ।  
प्रमत्त इतरोऽपूर्वस्तच्चक्षेरनिष्ठतकः ॥३६॥  
सूक्ष्मः शान्तः परः चीजो योगी चेति त्रयोदश ।  
गुणाः पौद्गलिकाः प्रोक्ताः कर्मप्रकृतिनिर्मिताः ॥३७॥

'तस्वज्ञानियोंके द्वारा मिथ्याद्वृष्टि, सासाधन, सम्बन्धिनिष्ठाद्वृष्टि, असंपत्त सम्यग्दृष्टि, देश-संयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, 'सूक्ष्मसाम्प्रदाय, उपशान्तमोह, परमक्षीणमोह, सयोगकेशली, वे तेरह गुणस्थान कर्म प्रकृतियोंसे निमित्त पौद्गलिक कहे गये हैं।'

१. संठाणा संघाता वर्णरसप्रकासगीषसहा य । पोग्कषम्बपासवा हौंति गुणा पञ्चया य वह ॥  
पञ्चास्ति० १२६ ॥

**व्याख्या**—इन दोनों पदोंमें तेरह गुणस्थानोंकि नाम देकर यह सूचित किया है कि वे सब पौद्वगलिक हैं, क्योंकि कर्मप्रकृतियाँ जो कि पौद्वगलिक हैं उनके द्वारा निर्मित होते हैं। और इसलिए इन्हें जीव नहीं कहा जा सकता, जो कि नित्य अचेतन रूप हैं जैसा कि समय-सारकी निरूपणाथासे प्रकट है—

मोहनकम्मसुद्धया शु विणया जे इमे गुणटुणा ।  
ते कहु हृष्टि जीवा जे णिष्ठमवेदणा उत्ता ॥६८॥

उक्त गुणस्थानोंको कौन जीव कहते हैं और कौन नहीं  
दे हृष्टनयोरैक्यं मन्यमानैविमोहितैः ।  
एते जीवा विगद्यन्ते न विवेक-विशारदैः ॥३८॥

‘शरीर और आत्मा दोनोंको एक माननेवाले भोही जीवोंके द्वारा ये गुणस्थान जीव कहे जाते हैं किन्तु भेदविशानमें नियुण विवेकी जनोंके द्वारा नहीं—विवेकी जन उन्हें पुद्वगलरूप अजीव बनलाते हैं।’

**व्याख्या**—उक्त तेरह गुणस्थानोंको कौन जीव कहते हैं और कौन नहीं कहते, इसीका इस पदमें स्पष्टीकरण किया गया है। अचेतन देह तथा चेतन आत्माओं जो एक मानते हैं वे सोही—मिथ्यादृष्टि जीव उक्त गुणस्थानोंके जीवरूप मानते हैं, परन्तु जो विवेकी—भेदविशानी देहको जड़ पुद्वगल रूप और जीवात्माओं चेतनरूप अनुभव करते हैं वे इन गुणस्थानोंको जीवरूप नहीं मानते, जो कि पूर्व पद्मानुसार कर्म प्रकृतियोंके उद्यादिकसे निर्मित होते हैं—जीवमें स्वतः स्थानसे इनके कोई स्थान निर्दिष्ट नहीं हैं, ये सब पुद्वगल द्रव्यके परिणाम हैं। इसीसे निश्चय नयके द्वारा देह तथा जीवको एक नहीं कहा जाता, दोनोंको एक कहनेवाला व्यवहार नय है; जैसा कि समयसारकी निम्न गाथासे जाना जाता है—

व्यवहारणबोभासदि जीवो देहो य हृष्टि ल्लु द्वन्द्वो ।  
ण दु णिष्ठयस्स जीवो देहो य कवापि एकद्वो ॥२७॥

अतः जो केवल व्यवहारनयावलम्बी हैं वे ही देह तथा जीवको एक मानते हैं, उन्हींको यहीं विमोहित-मिथ्यादृष्टि कहा गया है और जिनके लिए ‘विवेकविशारद’ का प्रयोग किया गया है वे निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंके स्वरूपको ठीक जाननेवाले भेदविशानी हैं और इसलिए वे देह तथा जीवको सर्वथा एक नहीं कहते—नयदृष्टिको लेकर कथचित् एक और कथचित् अनेक ( भिन्न ) रूपसे दोनोंका प्रतिपादन करते हैं; सर्वथा भिन्न कहना भी उनके द्वारा नहीं बनता, उससे निश्चय नयके एकान्तका दोप घटित होता है।

प्रमत्तादिगुणस्थानोंको बननासे चेतन मुनि बन्दित नहीं

प्रमत्तादिगुणस्थानवन्दनाया विधीयते ।  
न तया वन्दिता सन्ति मुनयश्चेतनात्मकाः ॥३६॥

‘प्रमत्त आवि गुणस्थानोंको जो वन्दना की जाती है उस ( वन्दना )से चेतनात्मक मुनि बन्दित नहीं होते—केवल देहकी वन्दना बनती है।’

१. गेव य जीवटुणा ण गुणटुणा य अत्यवोधस । जेण दु एवे सब्बे पुग्लदव्यस्स परिणामः ॥५५॥

**व्याख्या**—पिछले तीन पद्योंमें तेरह गुणस्थानोंको पौद्वगलिक बतलाया है और यह निर्दिष्ट किया है कि वे निश्चय हृषिसे जीवरूप नहीं हैं; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि प्रश्नत नामक छठे गुणस्थानसे लेकर सयोग-केवली नामक १३वें गुणस्थानों तक, आठ गुणस्थानोंकी जो बन्दना देहकी स्तुति-रूपमें की जाती है उसके द्वारा वे गुणस्थानवर्ती मुनि बन्दित होते हैं या कि नहीं? यदि बन्दित होते हैं तो देह और जीव दोनों एक ठहरते हैं और यदि बन्दित नहीं होते तो बन्दना मिथ्या एवं व्यर्थ ठहरती है। प्रथम विकल्पका समाधान इस पथमें और दूसरे विकल्पका समाधान उत्तरवर्ती पद्यमें किया गया है। इस पद्यमें बतलाया है कि उस बन्दनासे वे गुणस्थानवर्ती चेतनात्मक मुनि बस्तुतः बन्दित नहीं होते हैं। ऐसी बन्दनाका एक रूप समयसारकलशमें श्रीअमृतचन्द्राचार्यने इस प्रकार दिया है—

कात्येव स्नपयन्ति ये दशविशो धान्ना निरुन्धन्ति ये  
धामोदाममहस्तिनां जन्मन्त्रे तुल्यन्ति लोगा ये :  
विवेन ष्वनिना सुखं श्वणयोः साक्षात्करन्तोऽमृतं  
बन्द्यास्तेऽष्टसहृद्यलक्षणधरास्तीर्थवराः सूरपः ॥२४॥

इसमें बतलाया है—‘जो अपनी कान्तिसे दशों दिशाओंको व्यापकर उन्हें कान्तिमती बनाते हैं, अपने तेजसे महातेजस्वी सर्गको भी प्रसास्त करते हैं, अपने रूपसे लोगोंके मनको हरते हैं, अपनी दिव्यध्वनिसे सुननेवालोंके कानोंमें साक्षात् सुखामृतकी धर्षा करते हैं, और एक हजार आठ (शरीर) लक्षणके धारक हैं, वे तीर्थेश्वर-आचार्य बन्दनीय हैं।

यहाँ बन्दना देहकी स्तुतिको लिये हुए है। ऐसी स्तुतिके सम्बन्धमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारमें लिखा है कि इस प्रकार जो वसे भिन्न पुद्वगलात्मक इतीरकी स्तुति करके मुनि यह मानता है कि मेरे द्वारा केवली भगवान् स्तुति बन्दना किये गये, जो कि व्यवहार नयकी हृषिसे है। निश्चय नयकी हृषिसे यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि शरीरके जो गुण हैं वे केवलीके गुण नहीं होते, जो केवलीके गुणोंकी स्तुति करता है वही बस्तुतः केवलीकी स्तुति करता है—

दृणमण्णं जीवादो देहं पुगालमयं धुणितु मुणी ।  
मणवि हु संधुदो वंविदो मए केवलीभयवं ॥२६॥  
तं णिच्छुये ण जुज्जवि ण सरीरगुणाहि होंति केवलिणो ।  
केवलिगुणे धुणवि जो सो तत्त्वं केवलि धुणवि ॥२७॥

### बन्दनाकी उपयोगिता

परं शुभोपयोगाय जायमाना शरीरिणाम् ।  
ददाति विविधं पुण्यं संसारसुखकारणम् ॥४०॥

‘किन्तु वह बन्दना उत्कृष्ट शुभोपयोगके लिए निमित्त-भूत हुई प्राणियोंको नाना प्रकारका परमपुण्य प्रदान करती है, जो ऊचे दर्जेके संसार-सुखोंका कारण होता है।’

**व्याख्या**—जिन गुणस्थानोंकी बन्दनाका पिछले पद्यमें उल्लेख है वे पद्य नं० ३६, ३७ के अनुसार पौद्वगलिक होते हुए भी और उनकी उस बन्दनासे हानात्मक मुनिवन्दित न होते

१. यदि जोओ ण शरीरं सित्वयरायरियं संधुदी चेव । सबा वि हृवदि मिच्छा तेण तु बादा हृवदि देहो ॥२६॥—समयपाठ ॥

हुए भी वह देहधारियोंके उस पुण्यके उपर्याजनमें एक बहुत बड़ी निमित्त कारण होती है जोकि संसारी जीवोंको ऊँचे दर्जोंका सुख प्राप्त कराता है, और इसीलिए निरर्थक नहीं कही जाती है। अतः इस विषयमें—बन्दनाकी उपयोगिताके सम्बन्धमें—शक्ति करनेकी जरूरत नहीं है। व्यवहारनयकी हस्तिसे, जो कि समयसारकी पूर्वोक्त गाथा २७ के असुसार देह और जीवको एक रूपमें प्रहण करता है, उक्त बन्दनासे चेतनात्मक मुनि बन्दित होते हैं और वह बन्दना बन्दनकर्ताके शुभोपयोगका निमित्तमूल होकर उसे नाना प्रकारके संसार-सुखोंका कारण पुण्य प्रदान करती है। ऐसी मिथ्यिमें वह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारनयांश्चित बन्दना सर्वथा मिथ्या तथा व्यर्थ नहीं होती।

अचेतनदेहके स्तुत होनेपर चेतनात्मा स्तुत नहीं होता

'नाखेतने स्तुते देहे स्तुतोऽस्ति ज्ञानलक्षणः ।  
न कोशे वर्णिते नूरं सायकस्यास्ति वर्णना ॥४१॥

'अचेतन-देहके स्तुत होनेपर ज्ञान-लक्षण आत्मा स्तुत नहीं होता। (ठीक है) म्यानका वर्णन होनेपर ( उस वर्णनसे ) म्यानके भीतर रहनेवाली तलवारका वर्णन नहीं बनता।'

स्यारुप्या—प्रमत्तादि गुणस्थान-वर्तियोंकी अचेतन देहके रूपमें जो बन्दना-स्तुति की जाती है उससे ज्ञानात्मक मुनि बन्दित-स्तुत नहीं होते, यह बात जो ३७वें पद्यमें कही गयी थी, उसीको यहाँ एक सुन्दर दृष्टान्तके द्वारा स्पष्ट किया गया है। वह है म्यान और तलवारका दृष्टान्त। म्यान लोहेका है या अन्य धातुका है उसपर सोने-चाँदीकी अमुक चिन्नकारी है अथवा मरुमल आदि चढ़ी है और उसपर सुन्दर सुनहरी-रूपहरी काम हो रहा और मूँठ अमुक आकारकी बड़ी ही चित्ताकर्षक है, यह सब म्यानका वर्णन है, इस वर्णनसे तलवारके वर्णनका जैसे कोई सम्बन्ध नहीं है—उसके गुण, स्वभाव आदिका कोई वर्णन नहीं हो जाता—उसी प्रकार अचेतन देहके रंग-विरंगादि विविध रूपसे वर्णित होनेपर भी उसके भीतर रहनेवाले आत्माका वर्णन नहीं होता। और इसलिए देहकी स्तुतिसे देहधारीकी स्तुति नहीं बनती। इसी बातको समयसारमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने नगर और राजाके दृष्टान्त-द्वारा व्यक्त किया है—लिखा है कि 'नगरका वर्णन होनेपर जिस प्रकार राजाका वर्णन नहीं हो जाता उसी प्रकार देह-गुणोंकी स्तुति होनेपर केवलीके गुणोंकी स्तुति नहीं हो जाती।'

विभिन्नताका एक सिद्धान्त और उससे चेतनकी देहसे भिन्नता

यत्र प्रतीयमानेऽपि न यो ज्ञातु प्रतीयते ।  
स ततः सर्वथा भिन्नो रसाद् रूपमिव स्फुटम् ॥४२॥  
काये प्रतीयमानेऽपि येतनो न प्रतीयते ।  
यतस्ततस्ततो मिन्नो न भिन्नो ज्ञानलक्षणात् ॥४३॥

'जो जिसमें प्रतीयमान होनेपर भी कभी स्पष्ट प्रतीय नहीं होता वह उससे जिसमें प्रतीयमान हो रहा है सर्वथा भिन्न होता है जैसे रससे रूप। अूँकि देहमें प्रतीयमान होनेपर भी चेत-

१. जश्वरमिव वर्णिते जह ए वि रणो वर्णणा कदा होदि। देहगुणे शुञ्जते ए वेवलिगुणा शुदा होति ॥३०॥—समयसार

आत्मा कभी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। इसलिए वह चेतनात्मा देहसे भिन्न है; किन्तु अपने ज्ञान-लक्षण-से भिन्न नहीं है।<sup>१</sup>

**व्याख्या**—इन दोनों पद्योंमें-से प्रथम पद्यमें विभिन्नताके एक सिद्धान्तका उदाहरण-सहित निर्देश किया गया है, और दूसरे पद्यमें उसे देह तथा आत्मापर घटित किया गया है। जिस प्रकार रसमें रूप प्रतीयमान (प्रतिभासमान) होते हुए भी वहाँ कभी स्पष्ट प्रतीत (प्रतिभासित) नहीं होता और इसलिए रससे रूप भिन्न है—रस रसना इन्द्रियका विषय है और रूप चालु इन्द्रियका विषय है। उसी प्रकार जीवित शरीरमें जीवात्माके प्रतीयमान होने-पर भी जीवात्मा वहाँ कभी स्पष्ट रूपसे प्रतीत नहीं होता और इसीलिए पौदूगलिक शरीरसे जीवात्मा सर्वथा भिन्न है—शरीर इन्द्रियज्ञान गोचर है जबकि जीवात्मा अपौदूगलिक तथा स्वंसदेश है—शरीरसे भिन्न होते हुए भी जीवात्मा अपने ज्ञानलक्षणसे, जो कि उसका स्वंसदेश है, कभी भिन्न नहीं होता। ४२वें पद्यमें प्रयुक्त हुआ स्पष्टार्थका बाचक आत्मभूत-लक्षण है, कभी भिन्न नहीं होता। ४२वें पद्यमें प्रयुक्त हुआ स्पष्टार्थका बाचक अपनी खास विशेषता रखता है, और इस बातको सूचित करता है कि जो 'स्कुट' विशेषणपद अपनी खास विशेषता रखता है, वह वहाँ अस्पष्ट हाँकोके रूपमें होता है, स्पष्ट प्रतीतिका विषय नहीं होता।

जो कुछ इन्द्रियगोचर वह सब आत्मबाह्य

**दृश्यते ज्ञायते किंचिद् यददैरनुभूयते ।  
तत्सर्वमात्मनो वार्ष विनश्वरमचेतनम् ॥४४॥**

'इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ भी देखा जाता, जाना जाता और अनुभव किया जाता है वह आत्मासे बाह्य, नाशवान् तथा चेतना-रहित है।'

**व्याख्या**—इस पद्यमें इन्द्रियों-द्वारा दृष्टि, ज्ञात तथा अनुभूत पदार्थोंके विषयमें एक अटल नियमका निर्देश किया गया है, और वह यह कि ऐसे सब पदार्थ एक तो आत्मबाह्य होते हैं—शुद्ध आत्माका कोई गुण या पर्यायरूप नहीं होते, दूसरे विनश्वर-सदा स्थिर न रहनेवाले—होते हैं, तीसरे अचेतन होते हैं। इन्द्रियोंका जो कुछ भी विषय है वह सब पौदूगलिक—पुदूगलनिष्ठा है और पुदूगल आत्मासे बाह्यकी वस्तु है, अचेतन है और पूरण-नगलन-स्वभावके कारण सदा एक अवस्थामें स्थिर रहनेवाला नहीं है। परमाणु-रूपमें पुदूगल अन्द्रियोंका विषय ही नहीं और स्कन्धरूपमें पुदूगल सदा बनते और विगड़ते रहते हैं। अतः इन्द्रियोंका विषय ही नहीं और स्कन्धरूपमें पुदूगल सदा बनते और विगड़ते रहते हैं। अतः उक्त नियम एक भाव पौदूगलिक-इन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखता है—दूसरे कोई भी द्रव्य इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं।

इन्द्रियगोचर रूपका स्फूर्ति

**न निर्वृतिं<sup>१</sup> गतस्यास्ति तद्रूपं<sup>२</sup> किंचिदात्मनः ।  
अचेतनमिदं प्रोक्तं सर्वं पौदूगलिकं जिनैः ॥४५॥**

१. आ निर्वृतिगतस्यास्ति । २. आ यद्रूपं ।

‘जो इन्द्रियोंके द्वारा देखा जाता तथा अनुभव किया जाता है वह कुछ भी रूप मुक्ति-प्राप्त आत्माका नहीं है। इसीसे जिनदेवोंके द्वारा यह सब इमिद्रिय-प्राहृ-रूप पुद्गलात्मक अचेतन कहा गया है।’

**व्याख्या**—पिछले पश्चमें जो बात कही गयी है उसीको इस पश्चमें और स्पष्ट किया गया है—लिखा है कि जो कुछ भी रूप इन्द्रियोंके द्वारा देखा जाता या अनुभव किया जाता है वह चैँकि मुक्तिप्राप्त आत्माका कुछ भी रूप नहीं है अतः उस सबको जिनदेवने अचेतन तथा पौद्गलिक कहा है।

राग-देवादि विकार सब कर्मजनित

**विकाराः सन्ति ये केचिद्राघ-द्वेष-मदादयः ।  
कर्मजास्तेऽखिला ज्ञेयाद्विग्माशोरिव मेधजाः ॥४६॥**

‘आत्माके राग, द्वेष और मद आदिक जो कुछ विकार हैं—विभावपरिणमन हैं—वे सब मेघ-जन्य सूर्यके विकारोंकी तरह कर्म-जनित हैं।’

**व्याख्या**—३५वें पश्चमें जिन विकारोंका उल्लेख तथा सूचन है वे प्रायः नामकर्म-जनित हैं और इस पश्चमें राग-द्वेष-मदके रूपमें जिन विकारोंका उल्लेख है और ‘आदयः’ पदके द्वारा जिन क्रोध-लोभ-मादा-भय-हास्य-रति-अरति-शोक-भय जुगुप्तसादि विकारोंका सूचन है वे सब प्रायः मोहनीयकर्म-जनित हैं—कर्मकि उद्यादि-निमित्तोंको पाकर उसी प्रकार आत्मामें उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार मेघोंके उद्यादि-निमित्तको पाकर सूर्यमें विकार उत्पन्न होते हैं। कर्म चैँकि पौद्गलिक तथा अचेतन हैं अतः ये विकार भी पौद्गलिक तथा अचेतन हैं, अचेतन पौद्गलिकसे अचेतन्य पौद्गलिककी ही उत्पत्ति हो सकती है, चेतन तथा अपौद्गलिक आत्म-द्रव्यकी नहीं।

जीव कभी कर्मरूप और कर्म कभी जीवरूप नहीं होता

**अनादायपि सम्बन्धे जीवस्य मुह कर्मणा ।  
न जीवो याति कर्मत्वं जीवत्वं कर्म वा स्फुटम् ॥४७॥**

‘जीवका कर्मके साथ अनाविकालीन सम्बन्ध होनेपर भी न तो कभी जीव कर्मपतेको प्राप्त होता है—कर्म बनता या कर्मरूप परिणत होता है—और न कर्म जीवपतेको प्राप्त होता है—जीव बनता या जीवरूप परिणत होता है, यह स्पष्ट है।’

**व्याख्या**—किनी ही वस्तुएँ संसारमें ऐसी हैं, जो सम्बन्धके कारण एक दूसरे रूप परिणत होती हुई देखनेमें आती हैं। मोशशास्त्रमें भी ‘बन्धेऽधिको पारिणामिकी च’ नामका एक सूत्र है, जिसका आशय है दो गुण अधिक वस्तु दो हीनगुण वस्तुको अपने रूप कर लेती हैं। परन्तु यह सब पुद्गलके सम्बन्धकी बात है—एक द्रव्यके दूसरे द्रव्यके साथ सम्बन्धकी नहीं। जीव और पुद्गल दोनों अलग-अलग द्रव्य हैं और ज्ञानाचरणादि द्रव्यकर्म पौद्गलिक होते हैं। इसीसे जीव तथा कर्मका अनादि सम्बन्ध होते हुए भी न तो जीव कभी कर्मरूप होता और न कर्म कभी जीवरूप हो परिणत होता है—द्रव्यहठिसे दोनोंकी सदा अपने-अपने स्वभावमें व्यवस्थिति रहती है।

आत्माको द्रव्यकर्मका कर्ता माननेपर दोषापत्ति

'आत्मना कुरुते कर्म यद्यात्मा निश्चितं तदा ।  
कर्थं तस्य फलं भूद्गते स दत्ते कर्म वा कथम् ॥४८॥'

'यदि यह निश्चितरूपसे माना जाय कि आत्मा आत्माके द्वारा—अपने ही उपादानसे—कर्मको करता है तो फिर वह उस कर्मके फलको कैसे भोगता है? और वह कर्म (आत्माको) फल कैसे देता है?' १

**आत्मा**—यदि पूर्व एव्य-इण्ठित सिद्धान्तके विरुद्ध निश्चितरूपसे यह माना जाय कि आत्मा अपने उपादानसे द्रव्यकर्मका कर्ता है—स्वर्य ही ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परिणत होता है—तो फिर यह प्रश्न पैदा होता है कि वह आत्मा उस कर्मफलको कैसे भोगता है और वह कर्म उस आत्माको फल कैसे देता है? दोनोंके एक ही होनेपर फलदान और फलभोगकी बात नहीं बन सकती।

कर्मोदिवादि—संभव गुण सब अचेतन

कर्मणामुदयसंभवा गुणः शास्त्रिकाः क्षयशमोद्भवाश्च ये ।  
चित्रशास्त्रनिवहेन वर्णितास्ते भवन्ति निखिला विचेतनाः ॥४९॥

'जो गुण कर्मोंके उत्पन्न हुए—ओदिविक हैं, कर्मोंके उपशमजन्य औपशमिक हैं तथा कर्मोंके क्षयोपशमसे प्रादुर्भूत हुए आयोपशमिक हैं और जो विविध-शास्त्र-समूहके द्वारा वर्णित हुए हैं—अनेक शास्त्रोंमें जिनका वर्णन है—वे सब चेतना-रहित अचेतन हैं।'

**आत्मा**—द्रव्यकर्मोंके उद्य-निमित्तको पाकर उत्पन्न होनेवाले गुण औदिविक भाव, कर्मके उपशम-निमित्तको पाकर उद्भूत होनेवाले गुण औपशमिक भाव और कर्मोंके क्षयोपशम-निमित्तको पाकर प्रादुर्भूत होनेवाले गुण आयोपशमिक भाव, ये सब द्रव्यकर्मोंके चेतनारहित होनेके कारण चेतना-विहीन होते हैं। द्रव्यकर्मके अस्तित्व बिना जीवके औदिविक, औपशमिक, आयोपशमिक और क्षयोपशमिक भाव नहीं बनते—द्रव्यकर्म ही नहीं तब उद्यादि किसका? इसीसे इन भावोंको कर्मकृत कहा गया है।<sup>२</sup> यह ज्यवहारत्वकी दृष्टिसे कथन है।

अन्यथा द्रव्यकर्मके उद्यादि-निमित्तको पाकर उत्पन्न होनेवाले ये आत्माके विभाव भाव हैं—स्वभाव-भाव तो एक मात्र परिणामिक भाव है, जो अनादि-निवन्त तथा निरुपाधि होता है। क्षयोपशमिक भाव उद्यादि-विहीन होते हुए भी सादि है; क्योंकि कर्मके क्षयसे उत्पन्न होता है और इसीसे कर्मकृत कहा जाता है।<sup>३</sup>

१. कर्मं कर्मं कुञ्चिति जदि सो अप्या करेदि अप्याण । किञ्च तस्य फलं भुञ्जिदि अप्या कर्मं च देदि फलं ॥ पञ्चास्ति० ६३॥ २. कर्मेण विषा उदयं जीवस्त न विजिते उपसर्व वा । यद्यप्य खओवस-मियं तम्हा भावं तु कर्मकर्त ॥५८॥—पञ्चास्ति० । ३. परिणामिकस्त्वनादिनिधनो निराचिः स्वाभाविक एव । क्षयिकस्तु स्वभाव-व्यक्तिरूपत्वादन्तोऽपि कर्मणः धयेनोत्पत्त्वानत्वात् सादिरिति कर्मकृत एवोक्तः ।—अमृतचन्द्राचार्यः ।

अजीवतत्त्वको यथार्थ जाने बिना स्वस्वभावोपलब्धि नहीं बनती

**अजीवतत्त्वं न विदन्ति सम्यग् वे<sup>१</sup> जीवतस्याद्विभिना विभक्तम् ।  
चारित्रवन्तोऽपि<sup>२</sup> न ते लमन्ते विविक्तमात्मानमपास्तदोषम् ॥५०॥**

त्रुति श्रावदमितगति-निःसंगचोगिराज-विरचिते योगसारप्राभृतेऽजीवाधिकारः ॥२५॥

‘जो लोग उस अजीवतत्त्वको, जो कि जीवतत्त्वसे विधि-द्वारा विभक्त है, यथार्थ रूपसे नहीं जानते हैं वे चारित्रवन्त होते हुए—सम्यक् चारित्रका अनुष्ठान करते हुए—भी उस विविक्त—शुद्ध एवं खालिस—आत्माको प्राप्त नहीं होते जो कि बोधीसे रहित है।’

व्याख्या—इस पदमें, अजीवाधिकारका उपसंहार करते हुए, अजीव-तत्त्वके यथार्थ परिज्ञानका महत्त्व स्थापित किया गया है और वह यह है कि जीवतक इस अजीवतत्त्वका यथार्थ परिज्ञान नहीं होता तबतक आत्माको अपने शुद्धरूपकी उपलब्धि नहीं होती, चाहे वह कितना भी तपश्चरण क्यों न करे। यहाँ अजीव-तत्त्वका ‘जीवतस्याद्विभिना विभक्तं’ यह विद्वेषण अपना खास महत्त्व रखता है और इस वातको सूचित करता है कि अजीव-तत्त्व जीव-तत्त्वके निषेधको लिये हुए कोई धर्म नहीं है किन्तु अपने अस्तित्वको लिये हुए एक पृथक् तत्त्व है, और वह मुख्यतः वह तत्त्व है जो जीवके साथ एक क्षेत्र-अवगाहरूप होते हुए भी उससे सवा पृथक् रहता है और जीवके जिभाव-परिणमनमें निमित्तकारण पड़ता है। वह पुद्युद्युरूप है जो धर्ममें उपर्युक्तियों साथ उपर्युक्ताविसम्बन्धको लिये हुए है और शरीरके रूपमें अनेक स्वजनादिके सम्बन्धको लिये हुए है। उसको डीक न समझने से ही आत्माके स्वरूपमें आनित बनी रहती है और इसीसे उसकी उपलब्धि नहीं हो पाती। विविक्तात्माके रूपमें स्वरूपकी उपलब्धि हो इस प्रन्थका मुख्य व्यवेय है, जिसे प्रन्थके भंगलाचरणमें ‘स्वस्वभावोपलब्धये’ पदके द्वारा व्यक्त किया गया है।

इस प्रकार श्री अमितगति-निःसंगचोगिराज-विरचित-योगसारप्राभृतमें अजीव अधिकार नामका दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥२॥

१. सु यो । २. सु चरित्रवन्तोऽपि ।

## आत्मवाधिकार

आत्मवके सामान्य हेतु

**शुभाशुभोपयोगेन वासिता योग-वृत्तयः ।  
सामान्येन प्रज्ञायन्ते दुरितात्मव-हेतवः ॥१॥**

‘शुभ तथा अशुभ उपयोगके द्वारा—ज्ञान-दर्शनके अन्ते-बुरे रूप परिणमनके निमित्तसे—वासनाको प्राप्त अथवा संस्कारित हुई जो योगोंकी—मन-वचन-कायकी कर्म-क्रियारूप प्रवृत्तियाँ हैं वे सामान्यसे दुरितोंके—शुभाशुभ-कर्मोंके—आत्मवकी—आत्मामें आगमन अथवा प्रवेश-की—हेतु होती हैं—कारण पढ़ती हैं।’

**व्याख्या**—यहाँ ‘योग’ शब्द मन-वचन-काय तीनोंके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। तीनों योगोंमें-से किसी भी योगकी क्रिया ‘योगवृत्ति’ कहलाती है। ये योगवृत्तियाँ जब शुभ या अशुभ किसी भी प्रकारके उपयोगसे—ज्ञान-दर्शनसे—वासित-संस्कारित होती हैं अथवा यों कहिए कि कोई भी प्रकारके ज्ञान-दर्शनकी पुटको साथमें लिये हुए होती हैं तो वे सामान्य-रूपसे दुरितात्मवकी हेतु होती हैं। योगवृत्तियोंके उक्त विशेषणसे यह फलित होता है कि यदि वे वृत्तियाँ शुभाशुभ उपयोगसे वासित नहीं तो दुरितात्मवकी हेतु भी नहीं होती।

‘दुरित’ शब्द आम तौरपर पाप या पापकर्मके अर्थमें प्रयुक्त होता है; परन्तु यहाँ वह कर्ममात्र अथवा आठों प्रकारकी कर्म प्रकृतियोंके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। प्रन्थ-भरमें यह शब्द कोई आठ स्थानोंपर पाया जाता है और सर्वत्र इसी आशयको लिये हुए है—कर्म-विशेष जो पाप उसके आशयको लिये हुए नहीं। इसके पर्याय नाम हैं अघ, कलिल, रजस्, प्लस्, आगम्, रेफस्, अंहस् और पातक, जिन सबका प्रयोग भी प्रन्थमें दुरितके उक्त आशयको लिये हुए हैं—केवल पापके आशयको लिये हुए नहीं; यद्यपि ये पापके अर्थमें भी प्रयुक्त होते हैं। ‘पाप’ शब्द ही प्रन्थ-भरमें प्रायः पापकर्मके लिये प्रयुक्त हुआ है। प्रन्थकारने स्वयं भी आगे चतुर्थ पश्चामें ‘दुरितात्मव’के स्थानपर ‘कर्मात्मव’ पदका प्रयोग किया है, जो दुरितके अभिप्रेत कर्म अर्थको स्पष्ट कर देता है। यहाँ में इतना और प्रकट कर देना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तमद्रने स्वयम्भूतोंमें—‘दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरूपम्-योगवलेन निर्वहन्’ इत्यादि वाक्यके द्वारा ‘कर्माष्टक’को ‘दुरित’ शब्दके द्वारा उल्लेखित किया है। अतः प्रन्थ-कारका आठों कर्मोंके अर्थमें—दुरित शब्दका उक्त प्रयोग बहुत प्राचीन और समीचीन है। वास्तवमें देखा जाय तो सारे ही कर्म पापरूप हैं जो आत्माको बन्धनमें धाँधकर—पराधीन बना कर—उसे संसार-अभ्यास कराते हैं। इसीसे श्रीकृष्णकुन्दाचार्यने समयसारमें पुण्यकर्मको भी सुशील नहीं माना है, जो कि आत्माका संसारमें ही प्रवेश (भव-प्रवृणके रूपमें भग्न) कराता रहता है।

१. आ दुरितात्मव (आगे भी सर्वत्र ‘आत्मव’) । २. कह तं होदि सुतीलं वं संवारे पवेदिः॥४५॥

आत्मवके विशेष हेतु

'मिथ्यादक्त्वमचारिन्नं कषायो योग इत्यभी ।  
चत्वारः प्रत्ययाः सन्ति विशेषेणावसंग्रहे ॥२॥

'मिथ्यादश्मन्, असंयम ( अब्रत ), कषाय और योग ये चार विशेषरूपसे अध-संग्रहमें—कर्मोंके आत्मप्रवेश तथा महण-रूप बन्धमें—कारण हैं ।'

**व्याख्या**—पिछले पश्चमें सामान्यरूपसे कर्मोंके आत्मव-हेतुओंका निर्वेश करके इस पश्चमें विशेषरूपसे कर्मोंके आत्मव-हेतुओंका निर्वेश किया गया है । विशेषके साथ सामान्य अब्रत रहा करता है अतः पूर्वोक्त सामान्य-हेतुओंके अनिरिक्त जिन विशेष-कारणोंका यहाँ उल्लेख किया गया है उनमें योग तो बही जान पड़ता है जो सामान्य-हेतुओंमें प्रयुक्त हुआ है, तभ उसका पुनर्ग्रहण क्या अर्थ रखता है ? इस प्रश्नका समाधान, जहाँतक मैं समझता हूँ, इतना ही है कि कर्मात्मके विशेष हेतुओंमें जिस योगका ग्रहण है वह कषायानुरचित योग है, जिस योगकी प्रवृत्ति लेखा<sup>१</sup> कहलाती है ।

यहाँ पिछले पश्चमें प्रयुक्त 'हेतुव' पश्चके स्थानपर 'प्रत्यया' पदका और 'बुरित'के स्थान-पर 'अथ' शब्दका जो प्रयोग किया गया है वह समानार्थक है । किन्तु 'आत्मव' शब्दके स्थान-पर जो 'संग्रह' शब्दका प्रयोग किया गया है वह अपनी विशेषता रखता है, उसमें आत्मव और बन्ध दोनोंका ग्रहण हो जाता है; कर्मोंके जिन चार प्रत्ययोंको विशेषस्त्रवका कारण बतलाया है वे ही बन्धके भी कारण हैं; जैसा कि समयसारकी पूर्वोद्दित गाथा १०९ से और भोक्तशास्त्रके निम्न सूत्रसे भी जाना जाता है :—

मिथ्यादश्मनविरहे-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतुवः ॥८-१॥

मोहको बद्नेवाली बुद्धि

सचित्ताचित्तयोर्यविद्वद्विद्ययोः परयोरयम् ।  
आत्मीयत्व-मतिं धर्ते तावन्मोहो विवर्धते ॥३॥

'यह जीव जबतक चेतन-अचेतनरूप पर-द्वार्थोंमें निजत्व-बुद्धि रखता है—परपदार्थोंको अपने समझता है, तबतक ( इसका ) भोह—मिथ्यात्म—बहुता रहता है ।'

**व्याख्या**—आत्मव-हेतुओंमें जिस मिथ्यादर्शनका ऊपर उल्लेख आया है और जिसका कितना ही बर्णन पिछले दो अधिकारोंमें आ चुका है उसीकी आत्मवसे सम्बन्ध रखनेवाली स्थितिको इस पश्चमें तथा अगले कुछ पश्चोंमें स्पष्ट किया गया है । इस पश्चमें मिथ्यादर्शनका 'मोह', नामसे उल्लेख करते हुए यह बतलाया है कि जबतक यह जीव पर-द्वार्थोंमें—चाहे वे चेतना-सहित हों या चेतना-रहित—अपनेपनकी बुद्धि रखता है—उन्हें आत्मीय मानता है—तबतक मोह बढ़ता रहता है ।

- १.(क) सामर्णपञ्चया ललु चउरो भण्णति बंधकत्तारो । मिच्छतं अविरमणं कसायजोगा य बौद्धवा ॥१०९॥—समयसार । (ख) मिच्छतं अविरमणं कसायजोगा य आत्मवा होति ।—गौ० क० ७८६ । २. कषायानुरचितयोगप्रवृत्तिलेश्या । कषायोदयरचितता योगप्रवृत्तिरिति भावलेश्या ।—सवर्धि-सिद्धि । ३. मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते ।—रामसेम, तत्त्वानुशासन ।

उक्त शुद्धिसे महाकर्मान्वय

तेषु प्रश्नंमानस्य कर्मणामान्वयः परः ।  
कर्मस्त्रिनिमग्नस्य नोत्तारो जायते ततः ॥४॥

‘उक्त चेतन-अचेतन रूप पर-पदार्थोंमें (आत्मीयत्व भवित्व) प्रवृत्तिको प्राप्त जीवके कर्मोंका महान् आलब होता रहता है और इसलिए जो कर्मालबमें हूँबा रहता है उसका उद्धार नहीं बनता।’

**व्याख्या**—जो जीव सचेतन तथा अचेतन पर-पदार्थोंमें उक्त आत्मीयत्व-भवित्वको लिये हुए प्रवृत्त होता है उसके कर्मोंका बहुत बड़ा आलब होता है और जिसे कर्मोंका बहुत बड़ा आलब निरन्तर होता रहता है, यहाँतक कि वह उसमें हूँबा रहता है, उसका संसारसे उद्धार नहीं होता। संसारसे उद्धारके लिए नये कर्मोंका आनन्दका चाहिए और वह तभी बन सकेगा जबकि इस जीवकी लैलके उदासदृष्टि पर-पदार्थोंमें जो अपनेआनंदकी शुद्धि हो रही है वह दूर होगी। मोहने जीवकी दृष्टिमें विकार उत्पन्न कर रखा है, इसीसे जो आत्मीय वह दूर होगी। मोहने यह अमर्म से आत्मीय समझ रहा है। इसीसे मोहरूप जो मिथ्यादर्शन है वह कर्मोंके आलबका प्रधान हेतु है।

एक दूसरी शुद्धि जिससे मिथ्यात्व नहीं छूट पाता  
मयोदं कार्मणे द्रव्यं कारणेऽत्र भवाद्यद्यै ।  
यावदेषा महिस्तावन्मिथ्यात्वं न निवर्तते ॥५॥

‘वह कर्मजनित पदार्थसमूह मुझमें है, इसका कारण मैं हूँ, यह शुद्धि जबतक बनी रहती है तबतक मिथ्यात्व—मोह अथवा मिथ्यादर्शन—नहीं छूटता।

**व्याख्या**—इस पद्ममें तीसरे पद्मसे भिन्न एक दूसरी मति-शुद्धिका उल्लेख है और मिथ्यादर्शनको ‘मिथ्यात्व’ नामसे उल्लेखित करते हुए लिखा है, कि ‘यह’ दृश्यमान कर्म-जनित पदार्थ शारीरात्मिक मुझमें हैं—मेरे साथ तादात्म्य-सम्बन्धको प्राप्त हैं—और इनका कारण (उपादान) मैं हूँ। ऐसी शुद्धि जबतक इस जीवकी बनी रहती है तबतक मिथ्यादर्शन दूर होनेमें नहीं आता। और इसलिए मिथ्यात्वके कारणसे होनेवाला कर्मालब बराबर होता रहता है।

कर्मालबको हेतुभूत एक तीसरी शुद्धि  
आसमस्मि भविष्यामि स्वामी देहादिवस्तुतः ।  
मिथ्या-दृष्टेरियं शुद्धिः कर्माणमनकारिणी ॥६॥

‘मिथ्यादृष्टिको यह शुद्धि कि मैं देहादि वस्तुका पहले स्वामी था, बर्तमानमें हूँ और आगे हूँगा, कर्मोंके आगमनको ‘कारणीभूत हूँ—आत्मामें कर्मोंका द्रव्य तथा भावरूप आलब कराने वाली हूँ।’

**व्याख्या**—इस पद्ममें मिथ्यात्व-जन्य अथवा मिथ्या दर्शनरूप एक तीसरी शुद्धिका उल्लेख है और यह यह कि मैं अमुक देहादि वस्तुका स्वामी था, स्वामी हूँ अथवा स्वामी

हैंगा' यह मिश्याहटि जीवकी जो बुद्धि है वह कर्मेंकि आगमनकी—आत्मप्रवेशकी—कारणी-भूत है—ऐसी बुद्धिके निमित्तसे भी कर्मोंका आभ्यन्तर होता है।

बीषो बुद्धि जिससे कर्मस्त्रव पर्याप्तता  
चेतनेऽचेतने द्रव्ये यावदन्यत्र वर्तते ।  
स्वकीयबुद्धितस्तावत्कर्मगच्छन् न वार्यते ॥३॥

'जबतक यह जोव चेतन या अचेतन किसी पर-पदार्थमें स्वकीय बुद्धिसे वर्तता है—पर-पदार्थको अपना मानता है—तबतक कर्मोंका आना ( आत्मप्रवेश ) रोका नहीं जाता ।'

**व्याख्या**—पिछले पर्यामें जिस देहादि वस्तुके स्वामित्वका उल्लेख है वह स्वदेहादिक है और इस पर्यामें जिस वस्तुके स्वामित्वका उल्लेख है वह परदेहादिक है जिसे 'अन्यत्र' शब्दके प्रयोग-द्वारा यहाँ व्यक्त किया गया है। और इसीलिए परके—जी-पुत्रादिके शरीरादिकमें जो अपने स्वामित्वकी बुद्धि है वह एक चौथे प्रकारकी बुद्धि है। इस बुद्धिसे जबतक जीव प्रवर्तता है तबतक कर्मके आगमनको नहीं रोका जा सकता।

निश्चय और व्यवहारसे आत्माना कर्तृत्व  
शुभाशुभस्य भावस्य कर्तात्मीयस्य वस्तुतः  
कर्तात्मा पुनरन्यस्य भावस्य व्यवहारतः ॥४॥

'आत्मा निश्चयसे अपने शुभ तथा अशुभ भावका—परिणामका—कर्ता है और व्यवहारसे परके—पुद्गालद्रव्यके—भावका—परिणामका—कर्ता है।'

**व्याख्या**—यहाँ निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंकी दृष्टिसे इस संसारी जीवके कर्तृत्वका निर्देश किया गया है और उसमें बतलाया है कि यह जीव निश्चयसे अपने शुभ-अशुभ भावोंका कर्ता है, जो कि कर्मेंकि उदय-निमित्तवश उसके विभाव-परिणाम होते हैं, और व्यवहारसे परद्रव्य-पुद्गालके शुभ-अशुभ परिणामका कर्ता है, जो कि आत्माके शुभ-अशुभ परिणामोंका निमित्त पाकर कर्मरूपमें परिणत होनेवाला उसका विभावपरिणाम है।

जीव-परिणामाश्रित कर्मस्त्रव, कर्मोदयाश्रित जीव-परिणाम

श्रित्वा जीव-परिणामं कर्मस्त्रवति दारुणम् ।  
श्रित्वोदेति परीणामो दारुणः कर्म दारुणम् ॥५॥

'जीवके परिणामको आश्रित करके—आत्माके शुभ-अशुभ भावका निमित्त पाकर—दारुणकर्म आत्मवको प्राप्त होता है—आत्मामें प्रवेश पाता है—(और) दारुणकर्मको आश्रित करके—दारुणकर्मके उदयका निमित्त पाकर—दारुणपरिणाम उदयको प्राप्त होता है—आत्मामें शुभ या अशुभरूप दारुणभावका उदय होता है।

१. मु कर्मोदयस्त्रवन् । २. यही 'वस्तुतः' की जगह 'वन्वतः' पाठ पाया जाता है, जो समुचित प्रतीत नहीं होता । वत्तराधिमें 'व्यवहारतः' पदका प्रयोग यही उसके प्रतिष्ठी 'वस्तुतः' पदके अस्तित्वको सूचित करता है, इसीसे उसको यही रखा गया है । ३. मु दारुण ।

**व्याख्या—**यहाँ जीवके जिस परिणामका उल्लेख है वह उसका स्वभाव-परिणाम न होकर विभाव-परिणाम है, जो एक तो कर्मके उद्य-निमित्तको पाकर उत्पन्न होता है और दूसरे नये कर्मके आसाधका निमित्तकारण बनता है। कर्म और कर्मजनित जीवपरिणाम दोनोंको यहाँ 'वाहण' विशेषणके साथ उल्लेखित किया है, जो दोनोंकी भविकरता-कठोरताका चौतक है।

किसका किसके साथ कार्य-कारण-भाव

**कार्य-कारण-भावोऽर्थं परिणामस्य कर्मणा ।  
कर्म-चेतनयोरेष विद्यते न कदाचन ॥१०॥**

'जीवके परिणामका कर्मके साथ उक्त कार्य-कारण-भाव है, कर्म और चेतन ( जीवात्मा ) में यह कार्य-कारणभाव कदाचित् विद्यमान नहीं है ।'

**व्याख्या—**पिछले पदमें जिस कार्य-कारण-भावका उल्लेख है उसको स्पष्ट करते हुए यहाँ यह बतलाया गया है कि यह कार्य-कारण-भाव जीवके विभावपरिणामका कर्मके साथ है, अचेतन कर्म और चेतन जीवमें यह कार्य-कारण-भाव कदाचित् भी नहीं है—अचेतन कर्मसे सचेतन जीवकी और सचेतन-जीवसे अचेतन-कर्मकी उत्पत्ति कभी नहीं होती ।

कर्मको जीवका कर्ता माननेपर आपत्ति  
**आत्मानं कुरुते कर्म यदि, कर्म तदा कथम् ।  
चेतनाय फलं दसे ? शुद्धके वा षेतनः कथम् ॥११॥**

'यदि कर्म (अपने उपादानसे) आत्माको करता है तो फिर कर्म चेतन-आत्माको फल कैसे देता है ? और चेतनात्मा उस फलको कैसे भोगता है ?—ये दोनों बातें तब बनती नहीं ।'

**व्याख्या—**पिछले पदमें यह बतलाया गया है कि सचेतन जीव और अचेतन द्रव्य कर्ममें परस्पर कार्य-कारण भाव नहीं है। यदि दोनोंमें कार्य-कारण भाव माना जाय—जीवको अपने उपादानसे कर्मको और कर्मको अपने उपादानसे जीवका कर्ता माना जाय तो इन दोनों ही विकल्पोंमें यह प्रश्न पैदा होता है कि कर्म जीवको फल कैसे देता है और जीव उसके फलको कैसे भोगता है ? उपादानकी दृष्टिसे दोनोंके एक होनेपर फलदाता और फलभोक्ताकी बात नहीं बनती । इनमें-से एक विकल्पका उल्लेख करके यहाँ जो आपत्ति की गयी है वही दूसरे विकल्पका उल्लेख करके प्रन्थके द्वितीय अधिकारमें पद्म नं० ४८ के द्वारा की गयी है ।

एकके किये हुए कर्मके फलको दूसरेके भोगनेपर आपत्ति  
**परेण विहितं कर्म परेण यदि शुद्ध्यते ।  
न कोऽपि सुख-दुःखेभ्यस्तदानीं मुच्यते कथम् ॥१२॥**

'एकके किये हुए कर्मको—कर्मके फलको—यदि दूसरा भोगता है तो फिर कोई भी सुख-दुःखसे कैसे मुक्त हो सकता है ?—नहीं हो सकता ।'

**व्याख्या—**यहाँ 'करे कोई और भरे कोई'के सिद्धान्तका उल्लेख करके उसे दूषित ठहराया गया है—लिखा है कि यदि एकके किये हुए कर्मका फल दूसरा भोगता है तो कोई भी

सांसारिक सुख-दुःखसे कभी मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि हम अपने सुख-दुःख-दाता कर्मका निरोध तो कर सकते हैं—न करें वैसा कोई कर्म; परन्तु दूसरे करें उन्हें हम कैसे दोक सकते हैं? जब उन दूसरोंके किये कर्मका फल भी हमें भोगना पड़े तो हमारा सांसारिक सुख-दुःखसे कभी भी छुटकारा नहीं हो सकता, और इसलिए कभी भी मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। कर्म-फलका यह सिद्धान्त अज्ञान-मूलक और वस्तुतत्त्वके विवर है।

कर्म कैसे जीवका आच्छादक होता है

जीवस्याच्छादकं कर्म निर्मलस्य भलीमसम् ।  
जायते भास्करस्येव शुद्धस्य घन-मण्डलप् ॥१३॥

‘कर्म जो मल रूप है वह तिमंल जीवात्माका उसी प्रकारसे आच्छादक होता है जिस प्रकार कि घनमण्डल—आदलोंका घटाटोप—निर्मलसूर्यका आच्छादक होता है।’

**व्याख्या**—जीव स्वभावसे निर्मल है—बस्तुतः सब प्रकारके मलसे रहित है—उसको मलिन करनेवाला एक मात्र कर्ममल है और वह द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म (शरीरादि) के भेदसे तीन प्रकारका है, जो उसे सब ओरसे उसी प्रकार आच्छादित किये हुए हैं जिस प्रकार कि घनघोर-घटा निर्मलसूर्यको आच्छादित करती है।

कषाय-स्रोतसे आया हुआ कर्म जीवमें ठहरता है  
कषायस्रोतसा॑ गत्य जीवे कर्माद्विष्टुते ।  
आग्नेनेव पानीयं जाग्य-कारं॒ सरोवरे ॥१४॥

‘जीवमें कषाय-स्रोतसे आकर जड़ताकारक कर्म उसी प्रकार ठहरता है जिस प्रकार कि सरोवरमें लोतलूप नालीके द्वारा आकर शीतकारक जल ठहरता है।’

**व्याख्या**—यहाँ ‘अवलिष्टुते’ पदके द्वारा जीवमें कर्मस्रोतके साथमें उसके उत्तरवती परिणामका उल्लेख है, जिसे ‘बन्ध’ कहते हैं और वह प्रायः तभी होता है जब कर्म कषायके स्रोतसे आता है और इसलिए इस पदमें साम्परायिक आस्तवका उल्लेख है। जो कर्म कषाय-के स्रोतसे—साम्परायिक आस्तवके द्वारा—नहीं आता वह बन्धको प्राप्त नहीं होता। और साम्परायिक आस्तव उसी जीवके बनता है जो कपाय-सहित होता है—कषाय-रहितके नहीं। कपाय-रहितके योगद्वारसे जो स्थिति-अनुभाग-विहीन सामान्य आस्तव होता है, उसकी ईर्यापथ आस्तव कहते हैं<sup>१</sup>। बन्धका कारण कषाय है, उसीसे ‘ठिकि अनुभगा कसाय-बो होति’ इस सिद्धान्तके अनुसार स्थिति तथा अनुभागका बन्ध होता है।

निष्क्राय-जीवके कर्मस्रोत माननेपर दोषापत्ति

जीवस्य निष्क्रायस्य यद्यागच्छति करमपम् ।  
तदा संपद्यते मुक्तिनं कस्यापि कदाचन ॥१५॥

‘यदि कषाय-रहित जीवके भी कल्पवका आगमन होता है—कर्मोंका साम्परायिक आस्तव बनता है—तो फिर किसी भी जीवकी कभी मुक्ति नहीं हो सकती।’

१. सु श्रोतसा । २. व्या जाग्यकारे । ३. सक्षायाक्षाययोः साम्परायिकेऽपिषद्योः ।—त० सूत्र ६-४

**व्याख्या**—पिछले पश्चमे कषाय-सहित जीवके साम्परायिक आन्नथकी बात कही गयी है—कषाय-रहितकी नहीं। इस पश्चमे कषाय-रहित जीवके भी यदि बन्धकारक साम्परायिक-आन्नव माना जाय तो उसमें जो दोषापत्ति होती है उसे बतलाया है और वह यह है कि तब किसी भी जीवको कभी भी मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती—कषायसे भी बन्ध और यिन्हा कषायके भी बन्ध, तो फिर छुटकारा कैसे मिल सकता है? नहीं मिल सकता। और यह बात वास्तविकताके भी बिरुद्ध है; क्योंकि जो कारण बन्धके कहे गये हैं उनके दूर होनेपर मुक्ति होती ही है। बन्धका प्रधान कारण कषाय है; जैसा कि इसी प्रन्थके बन्धाधिकारमें दिये हुए बन्धके लक्षणसे प्रकट हैं।<sup>1</sup>

एक द्रव्यका परिणाम दूसरेको प्राप्त होनेपर दोषापत्ति

**नान्यद्रव्य-परीणाममन्य-द्रव्यं प्रपद्यते ।  
स्वान्य-द्रव्य-अयस्येष्यं परस्य(था) घटते कथम् ॥१६॥**

‘भिन्न द्रव्यका परिणाम भिन्न द्रव्यको प्राप्त नहीं होता—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कभी परिणमन नहीं करता—यदि ऐसा त माना जाय तो यह स्वद्रव्य-परद्रव्यकी व्यवस्था कैसे बन सकती है? नहीं बन सकती।’

**व्याख्या**—प्रत्येक परिणमन अपने-अपने उपादानके अनुरूप होता है, दूसरे द्रव्यके उपादानके अनुरूप नहीं। यदि एक द्रव्यका परिणमन दूसरे द्रव्यके उपादानरूप होने लगे तो दोनों द्रव्योंमें कोई भेद नहीं रहता। उदाहरणके तौरपर सन्तरेके बीजसे अमरुद और अमरुदके बीजसे सन्तरा भी उत्पन्न होने लगे तो यह सन्तरेका बीज और यह अमरुदका बीज है ऐसा भेद नहीं किया जा सकता और न यह आशा ही की जा सकती है कि सन्तरेका बीज दोनोंसे सन्तरेका शुक्ल उगेगा और उसपर सन्तरे लगेंगे। अन्यथा परिणमन होनेकी हालतमें उस सन्तरेके बीजसे कोई दूसरा शुक्ल भी उग सकता है और दूसरे प्रकारके फल भी उग सकते हैं, परन्तु, ऐसा नहीं होता, इसीसे एक द्रव्यमें दूसरे सब द्रव्योंका अभाव माना गया है, तभी वस्तुकी व्यवस्था ठीक बैठती है, अन्यथा कोई भी वस्तु अपने स्वरूपको प्रतिष्ठित नहीं कर सकती, तब हम सन्तरेको सन्तरा और अमरुदको अमरुद भी नहीं कह सकते।

पाँचवीं बुद्धि जिससे कर्मस्त्रव नहीं रक्षता

**परेभ्यः सुखदुःखानि द्रव्येभ्यो यावदिच्छति ।  
तावदास्त्रव-विच्छेदो न मनाग्यपि जायते ॥१७॥**

‘जबतक ( यह जीव ) पर द्रव्योंसे सुख-दुःखादिकी इच्छा-अपेक्षा रखता है तबतक आन्नवका विच्छेद—आत्मामें कर्मोंके आगमनका निषेध—तनिक-सा भी नहीं बनता।’

**व्याख्या**—पर-द्रव्योंसे मुझे सुख-दुःख मिलता है, ऐसी समझ जबतक अनी रहती है तबतक आन्नवका विच्छेद भी निरोध नहीं हो सकता। यह एक पाँचवें प्रकारकीबुद्धि है जो कर्मस्त्रवकी हेतुभूत है।

1. पुद्गलानो यदादार्तं योग्यानां सक्षयतः । योगतः स प्रतो बन्धो जीवास्वातन्त्र्यकारणम् ॥१॥

स्वदेह-परदेहके अचेतनभवको न जाननेका फल

अचेतनत्वमज्ञात्वा॑ स्वदेह-परदेहयोः ।  
स्वकीय-परकीयात्मबुद्धितस्तश्च वर्तते ॥१८॥

‘(यह जीव) स्वदेह और परदेहके अचेतनपनेको न जानकर स्वदेहमें आत्मबुद्धिसे और परदेहमें परकीय आत्मबुद्धिसे प्रबृत्त होता है—अपने शरीरको अपना आत्मा और परके शरीरको परका आत्मा समझकर व्यवहार करता है।’

**व्याख्या**—अपने देहको अपना आत्मा और स्त्री-पुत्रादि परके देहको परका आत्मा समझकर यह जीव जो प्रबृत्त होता है और उससे अपनेको सुख-दुःख होना मानता है उसका क्या कारण है? इस प्रश्नके समाधानार्थ ही यह पश्च निर्मित हुआ जान पढ़ता है। और यह समाधान है ‘अपने देह तथा परदेहके अचेतनत्वको न जानना’। यदि निषिद्धत-रूपसे यह जाना हो कि मेरा या दूसरे किसी भी जीवका शरीर चेतन नहीं है—जह है—तो उसमें स्वात्मीय तथा परात्मीय बुद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि आत्मा सबका वस्तुतः चेतनरूप अमूर्तीक है, अचेतन मूर्तीक पदार्थ स्वभावसे उसका अपना नहीं हो सकता—अपना मानना स्वरूप-पररूपकी अनभिज्ञताके कारण भूल है—भ्रान्ति है। इसके मिटनेसे बुद्धिका सुधार होता है और तब कर्मोंका आत्मव सहज ही रुक जाता है।

परमे आत्मीयत्व-बुद्धिका कारण

यदात्मीयपनात्मीर्थं विनश्वरमनश्वरम् ।  
सुखदं दुःखदं वेत्ति न चेतनमचेतनम् ॥१९॥  
पुत्र-दारादिके द्रव्ये तदात्मीयत्व-शेषुषीम् ।  
कर्माक्षयमज्ञानानो विद्धिं भूद्वानसः ॥२०॥

‘जबतक जीव आत्मीय-अनात्मीयको, विनाशीक-अविनाशीकको, सुखदायी-दुःखदायीको और चेतन-अचेतनको नहीं जानता है तबतक कर्मके आलेहको न जानता हुआ यह मूढ़ प्राणों पुत्र-स्त्री आदि पदार्थोंमें आत्मीयत्वकी बुद्धि रखता है—उन्हें अपने समझता है।

**व्याख्या**—पूर्वपश्च-विपश्चक अज्ञानको इन दोनों पद्योंमें और स्पष्ट करते हुए उसे स्त्री-पुत्रादिमें आत्मीयपनेकी बुद्धिका कारण चतुराया है—लिखा है कि जब यह मोहित चित्त मूढ़प्राणी आत्मीय-अनात्मीयको, विनश्वर-अविनश्वरको, सुखदायी-दुःखदायीको, चेतन-अचेतनको नहीं जानता—इनके स्वरूप-भेदको नहीं पहचानता—तब कर्मोंका आत्मव कैसे होता है इसको भी न जानता हुआ स्त्री-पुत्रादिकमें आत्मीयपनेकी बुद्धिको धारण करता है—उन्हें अपने आत्म-द्रव्यके साथ सम्बद्ध मानता है।

कौन किससे उत्पन्न नहीं होता

कषाया नोपयोगेभ्यो नोपयोगः कषायतः ।  
न मूर्त्यमूर्त्योरस्ति संभवो हि परस्परम् ॥२१॥

१. मु अचेतनत्वमज्ञत्वात् । २. आ तदात्मीयसेमुखी ।

‘उपयोगोंसे कषाय और कषायसे उपयोग (उत्पन्न) नहीं होते और न मूलिक-अमूलिक का परस्पर एक-दूसरेसे उत्पाद-संभव है।’

ध्यालया—क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें हैं और ज्ञान तथा दर्शन ये दो मूल उपयोग हैं। इन दोनोंमें से किसी भी उपयोगसे कषायोंकी उत्पत्ति संभव नहीं और न मूलिकसे अमूलिक तथा अमूलिकसे मूलिक पदार्थकी उत्पत्ति बन सकती है, ये पदार्थोंका उत्पत्ति-विषयक वस्तुतत्त्वके निदर्शक सिद्धान्त हैं। अमूलिक आत्माका उपयोग लक्षण है, लक्षण होनेसे ज्ञान-दर्शन अमूलिक हैं और कषाये मूल-पौद्गलिक-कर्म-जनितहोनेसे, मूलिक हैं। ऐसी स्थितिमें गुदोपयोगरूप आत्माका कषायरूप परिणमन नहीं होता।

कषाय-परिणामोऽस्ति जीवस्य परिणामिनः ।

कषायिणोऽकषायस्य सिद्धस्वेव न सदेशा ॥२२॥  
न संसारो न मोक्षोऽस्ति यतोऽस्यापरिणामिनः ।

निरस्त-कर्म-मङ्गश्चापरिणामी ततो मतः ॥२३॥

‘कषाय-सहित परिणामी जीवके कषाय-परिणाम होता है, जो कषाय-रहित हो गया है उसके कषाय-परिणाम नहीं होता, जैसे कि सिद्धात्माके। चूंकि इस कषाय-रहित अपरिणामी जीवके न तो संसार है और न मोक्ष, अतः जिसके कर्मका अभाव ही गया है वह अपरिणामी माना गया है।’

ध्यालया—पिछले पश्चके कथनसे यह प्रट्ठन पैदा होता है कि तब कषायरूप परिणमन किस जीवका होता है? उत्तरमें बतलाया है कि जो कषाय-सहित परिणामी जीव है—कषायकर्मके उदयको अपनेमें लिये हुए हैं—उसीका कषायरूप परिणाम होता है। जो कषायरहित है—कषायकर्मके उदयको अपनेमें लिये हुए नहीं है—उसका कषायरूप परिणमन नहीं होता; जैसे कि मिद्दोंका नहीं होता, जिनके कषायका कभी उदय ही नहीं किन्तु अस्तित्व भी नहीं। चूंकि इस कषायरूप-परिणाम न होनेवाले जीवके न तो संसार है ( कषायरूप परिणमन ही नहीं तो फिर संसार क्या ? ) और न मोक्ष है ( कर्म सञ्चारमें मौजूद हों तो मोक्ष कैसा ? ) इसीसे जो कर्मके सम्पर्कसे विलकुल अलग हो गया है वह वस्तुतः अपरिणामी माना गया है।

परिणामको ओङ्कर जीव-कर्मके एक-दूसरेके गुणोंका वर्णन नहीं

नान्योन्य-गुण-कर्तृत्वं विद्यते जीव-कर्मणोः ।  
अन्योन्यपेत्त्वयोत्पत्तिः परिणामस्य केवलम् ॥२४॥  
स्वकीय-गुण-कर्तृत्वं तत्त्वतो जीव-कर्मणोः ।  
क्रियते हि गुणस्ताभ्यो व्यवहारेण गच्छते ॥२५॥

‘जीव और (पुद्गल) कर्मके एक-दूसरेका गुणकर्तृत्व विद्यमान नहीं है—त जीवमें कर्मके गुणोंको करनेकी सामर्थ्य है, और न कर्ममें जीवके गुणोंको उत्पन्न करनेकी शक्ति। एक-दूसरेकी अपेक्षासे—निमित्तसे—केवल परिणामकी उत्पत्ति होती है—जो जिसमें उत्पन्न होता है उसीमें

रहता है। वास्तवमें जीव और कर्मके अपने-अपने गुणोंका कर्तृत्व विद्यमान है—जीव अपने ह्यानादि गुणोंका और पुद्गलकर्म अपने ह्यानावरणादि गुणोंका कर्ता है। एकके हारा दूसरेके गुणोंका किया आना जो कहा जाता है वह व्यवहारनयकी दृष्टिसे कहा जाता है।'

**व्याख्या**—ह्यान-दर्शन-लक्षण जीव पौद्गलिक कर्मके गुण-स्वभावका कर्ता नहीं, और न ( कशाय तथा ह्यानावरणादिरूप ) पौद्गलिक कर्म जीवके गुण-स्वभावका कर्ता है। केवल एक-दूसरेके परिणामकी उत्पत्ति एक-दूसरेके निमित्तसे होती है—न कि गुणकी। जीव और कर्म दोनों बस्तुतः अपने-अपने गुण-स्वभावके कर्ता हैं। एकको दूसरेके गुण-स्वभावका कर्ता कहना यह व्यवहार-नयकी दृष्टिसे कथन है—व्यवहारनयकी अपेक्षा ऐसा ही कहनेमें आता है।

पुद्गलारेतिक जीवभावोंको उत्पत्ति और औदयिकभावोंकी स्थिति

उत्पद्यन्ते यथा भावाः पुद्गलापेद्यात्मनः ।  
तथैवौदयिका भावा विद्यन्ते तदपेक्ष्या ॥२६॥

'जिस प्रकार पुद्गलकी अपेक्षासे—पुद्गलका निमित्त पाकर—जीवके भाव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार पुद्गलकी अपेक्षासे—पौद्गलिक कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर—उत्पन्न हुए औदयिक भाव विद्यमान रहते हैं।'

**व्याख्या**—इस पदमें जीवके गति-कशायादिरूप औदयिक भावोंकी स्थितिका निर्देश है—यह बतलाया है कि जिस प्रकार पुद्गलोंका निमित्त पाकर संसारी जीवके भाव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार पुद्गलकर्मोंके उदयका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए जो जीवके औदयिक भाव हैं वे स्थितिको प्राप्त होते हैं—उत्पन्न होते ही नाशको प्राप्त नहीं होते किन्तु उदयकी स्थितिके अनुसार बने रहते हैं।

निरन्तर रजोग्रही कौन ?

कुर्वाणः परमात्मानं सदात्मानं पुनः परम् ।  
मिथ्यात्म-मोहित-स्वान्तो रजोग्रही निरन्तरम् ॥२७॥

'जो मिथ्यात्वसे मोहितचित्त हुआ सबा परको आत्मा और आत्माको पर बनाता है वह निरन्तर कर्मरज्ञको संचय करता रहता है।'

**व्याख्या**—आस्त्रके चार कारणोंमें-से मिथ्यादर्शनके कथनका उपसंहार करते हुए इस पदमें उक्त मिथ्यादृष्टिको जो मोहके उदयसे मोहित-चित्त हुआ दृष्टिविकारके कारण परको-आत्मा—शरीरादि पर-पदार्थोंको आत्मीय ( अपने )—और आत्माको पर-शरीर तथा कायादि रूप—समझता है, निरन्तर कर्मोंका साम्पराणिक आस्त्रकर्ता बतलाया है।

कौन स्वपर-विवेकको प्राप्त नहीं होता

राग-मत्सर-विद्वेष-लोम-मोह-मदादिषु ।  
हृषीक-कर्म-मोकर्म-रूप-स्पर्श-रसादिषु ॥२८॥

एतेऽहमहमेतेषामिति तादात्म्यमात्मनः ।  
विष्णुः कल्पयन्नात्मा स्व-परत्वं न बुद्ध्यते ॥२६॥

‘भूषु आत्मा—मिथ्यात्वसहित चित्त—राग-द्वेष-ईश्वरीलोभ-मोह-मदाविकमे तथा इन्द्रिय-कर्म-नोकर्म-रूप-रस-स्पर्शादिक-विषयोंमें ‘ये मैं हूँ, मैं इनका हूँ’ इस प्रकार आत्माके तात्त्वात्म्यको—एकत्वकी—कल्पना करता हुआ स्व-पर-विवेकको—अपने और परके यथार्थ बोधको—प्राप्त नहीं होता।’

**व्याख्या**—पिछले पदमें स्व-परकी नासमझका जो उल्लेख है उसे इस पदमें और स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि 'राग-द्वेष-मोह-क्रोध-लोभ-मद-मत्सर आदि'के रूपमें जो भी विभाव हैं, इन्द्रियोंके कर्म हैं, शरीरकी चेष्टाएँ हैं और रूप-रस-स्पर्शादिरूप पुद्गलके गुण हैं उन हैं, तादात्म्य-सम्बन्धकी कल्पना करता हुआ यह मूढ़-सबमें 'थे मेरे, मैं इनका' इत्यादि रूपसे तादात्म्य-सम्बन्धकी कल्पना करता हुआ यह आत्मा न तो अपनेको ही समझ पाता है और न परको। यह तादात्म्य-भावकी कल्पना ही इस जीवके स्व-पर-व्यवेकमें बाधक है। इसाले अनात्मीय-भावोंसे भस्कार और कर्मजनित-भावोंमें अहंकार उत्पन्न होता है।

## कर्म-सत्तति-भेद अवारिका स्वरूप

हिंसने वित्तये स्तेये मैथुने च परिग्रहे ।  
मनोवृत्तिरजारिं कारणं कर्मसंततेः ॥३०॥

‘हिसामें, छूठमें, धोरीमें, मैथुनमें और परिश्राहमें जो मनको प्रवृत्ति है वह अचारित्र है—कुस्तिसब आचरण है—जोकि कमसल्लतिका—कमोंकी उत्पत्ति, स्थिति तथा परिपादीका—कारण है।’

**ध्यास्था**—इस पक्षमें आस्त्रवके दूसरे विशेष कारण अच्चारित्रको लिया गया है और यह बतलाया है कि दिसा, सूठ, चोरी, मैथुन और परिमह इन (पंच पापों) में जो भाव मनकी प्रवृत्ति है उसे 'अच्चारित्र' कहते हैं—जिसके दूसरे नाम 'अन्नत' और 'असंयम' भी हैं। यह प्रवृत्ति आस्त्रादिरूपसे कर्म-सन्तानिको चलानेमें कारणीभूत है।

राग-द्वेषसे शुभाशुभ-भाषका कर्ता अचारित्री  
 रागतो द्वेषतो भावं परद्रव्ये शुभाशुभम् ।  
 आत्मा कुर्वन्नचारित्रं स्व-चारित्र-पराढ्युषः ॥३१॥

‘परद्रव्यमें रागसे अथवा हृष्णसे शुभ-अशुभ भाव (परिणाम) को करता हुआ आत्मा अचात्मी—कुसिताचारी—होता है; यद्योऽकि वह उस समय अपने चारित्रसे—स्वरूपाचरणसे—विमुख होता है।’

**अथात्या**—जब यह जीव परद्रव्यमें रागसे शुभभावको और द्वेषक कारण अशुभभाव-को करता है—परद्रव्यको गुभ या अशुभरूप मान लेता है—तो यह अपने समताभावरूप स्वचारित्रसे विमुख—अष्ट हुआ अचारित्री अथवा असंयमी होता है। और ऐसा होता हुआ कर्मालिका कारण बनता है।

स्वचारित्रसे भ्रष्ट कौन ?

यतः संपद्यते पुण्यं पापं वा परिणामतः ।  
वर्तमानो यत् (तत्) स्तत्र अष्टोऽस्ति स्वचारित्रतः ॥३२॥

‘चूंकि शुभ-अशुभ परिणाम (भाव) से दुष्य-पापको उत्पत्ति होती है अतः उस परिणाममें प्रवर्तमान आत्मा अपने चारित्रसे भ्रष्ट होता है।’

**व्याख्या**—पिछले पश्चमें जीवके जिन दो भावों-परिणामोंका उल्लेख है वे क्रमशः राग-द्रेपसे उत्पन्न होनेवाले शुभ-अशुभ भाव हैं। इनमें-से शुभभावोंसे पुण्यकर्मका और अशुभ भावोंसे पापकर्मका आवृत्त होता है; जैसा कि मोक्षज्ञास्त्रके ‘शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य’ इस सूत्रसे भी प्रकट है। इस पुण्य-पापमें जो सदा प्रवृत्तिमान रहता है उसे यहाँ स्वचारित्रसे भ्रष्ट बतलाया है—यह इन दोनोंके चक्करमें फँसा अपने स्वरूपसे विमुख हुआ उसे भुलाये रहता है।

स्वचारित्रसे भ्रष्ट-बनुयतिके दुःख सहते हैं  
स्वाभ-निर्यङ्ग-नर-स्वग्नि-गति<sup>१</sup> जाताः शारीरिणः ।  
शारीरं मानसं दुःखं सहन्ते कर्म-संभवम् ॥३३॥

‘(अपने चारित्रसे भ्रष्ट होकर शुभ-अशुभ परिणामोंके द्वारा पुण्य-पापका संचय करने-वाले ) नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगतिको प्राप्त हुए जोव कर्मजन्य शारीरिक तथा मानसिक दुःखको सहन करते हैं।’

**व्याख्या**—यहाँ स्वचारित्रसे भ्रष्ट होनेके फलका निर्देश किया है—लिखा है कि ऐसे स्वचारित्रभ्रष्ट प्राणों नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगतिको प्राप्त हुए कर्मजनित शारीरिक तथा मानसिक दुःखको सहते हैं।

देवेन्द्रोंका विषय-सुख भी दुःख है  
यत्सुखं सुरराजानां जायते विषयोऽन्धवम् ।  
ददानं दाहिकां तुष्णां दुःखं तदवृत्थताम् ॥३४॥

‘यदि यह पूछा जाय कि देवगतिको प्राप्त देवेन्द्रोंको तो बहुत सुख होता है फिर देवगतिके सभी जीवोंको दुःख सहनेवाला क्यों लिखा है ? तो इसका समाधान यह है कि) देवेन्द्रोंको इन्द्रिय-विषयोंसे उत्पन्न जो सुख होता है वह वाह उत्पन्न करनेवाली तृष्णाको बेनेवाला है इसलिए उसे (वस्तुतः) दुःख समाना चाहिए।’

**व्याख्या**—पिछले पश्चमें जिन चतुर्गति-सम्बन्धी शारीरिक तथा मानसिक दुःखोंके सहनेका उल्लेख है उसपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पुण्यकर्मसे जो देवगतिकी प्राप्ति होती है उसमें देवेन्द्रका सुख तो बहुत बढ़ा-चढ़ा होता है; तब अन्य स्वर्गगति प्राप्त सभी जीवोंको भी दुःखोंके सहनेकी बात कैसे कहते हैं ? इसीका उत्तर इस पद्यमें देते हुए लिखा है कि—‘देवराजको स्थगितमें जो सुख इन्द्रिय-विषयोंसे उत्पन्न हुआ प्राप्त होता है वह दाह

१. सु वव्वतिर्यङ्ग-नरस्वर्गगति ।

उत्पन्न करनेवाली भारी तृष्णाको देनेवाला होता है और इसीलिए उसे भी दुःख समझना चाहिए। हजारों-करोड़ों वर्षों सक जिस सुखको स्वर्गमें भोगते हुए सूप्रियकी प्राप्ति ही न हो—प्यासके द्वे नदिये असान जलपात्रमें डलती तृष्णा थड़े—उसे सुख कैसे कह सकते हैं? सुख तो तृष्णा के आभावमें है।

हनिद्वयजन्म सुख-दुःख क्यों हैं ?

अनित्यं पीडकं तृष्णा-वधकं कर्मकारणम्  
शापोऽजं पराधीनमशर्मेव विदुर्जिनाः ॥३५॥

‘जो अस्थिर है, पीड़ाकारी है, सूलगावधीक है, कर्मबन्धका कारण है, पराधीन है उस हुनिष्ट-अल्प सूखको जिनराजोंने असुख ( दुःख ) ही कहा है।’

**इन्द्रिय-अन्य सुखका जिनराजान वसुख ( तुःख ) हैं ।**

आस्था—पिछले पश्चमें जिस इन्द्रियसुखका उल्लेख है उसके कुछ विशेषणोंको इस पश्चमें और स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि 'वह एक तो क्षणभंगुर है—उगातार स्थिर रहने-बाला नहीं—पीड़ाकारक है—दुःखको साधमें लिये हुए है, तुष्णाको उत्पन्न ही नहीं करता बाला नहीं—पीड़ाकारक है—किन्तु उसे बढ़ानेवाला है, कर्मकि आत्मक-अन्यका कारण है और साथ ही स्वाधीन न होकर पराधीन है, इसीसे जिनेन्द्र भगवान् उसे वसुतः दुःख ही कहते हैं ।

सांसारिक सुखको दृख न माननेवाला अचारित्री

सांसारिकं सुखं सर्वं दुःखतो न विशिष्यते ।  
यो नैव बुद्धते मूढः स च रित्री न भव्यते ॥३५॥

‘संसारका सारा सुख दुःखसे कोई बिवेषता नहीं रखता, जो इस तत्वको नहीं समझता वह मृग चारित्री नहीं कहा जाता—उसे धारित्रवान् न समझना चाहिए।’

वह मूळ चारित्रों नहीं कहा जाता—उस चारित्रपरम् राम समझता है।

**व्याख्या**—इस पद्धति में पूर्वपद्धति की वातको पुष्ट करते हुए सारे ही सांसारिक सुखको वस्तुतः दुःख बतलाया है; उसे दुःखसे अविशिष्ट घोषित किया है और यहाँतक लिखा है कि जो मूळ मिथ्यादृष्टि इस तथ्यको नहीं समझता वह चारित्री-ब्रती अथवा संयमी नहीं कहा जाता।

पुण्य-पापका भेद नहीं जाननेवाला चारित्रभृष्ट

यः प्रथमाप्योमूढो विशेषं नाबुद्ध्यते ।

स चारिपरिभ्रष्टः संसार-परिवर्धकः ॥३७॥

( इसी तरह ) जो सूक्ष्म पुण्य-पाप दोनोंके विशेष—भेदको अथवा दोनोंमें अविशेष—  
अभेदको नहीं समझता वह चारित्रसे परिच्छिष्ट है और संसारका परिवर्धक है—भवधमण करने-  
वाला दीर्घ-संसारी है ।

**व्याख्या—**यहाँ सांसारिक सुखके कारण पुण्यको ही नहीं किन्तु दुःखके कारण पापको भी साथमें लेकर कहा गया है कि जो इन पुण्य-पाप दोनोंके बास्तविक भैद्रको नहीं समझता वह अपने चारित्रसे भट्ट और संमार-परिभ्रमणको बढ़ानेवाला है। पुण्यके प्रतापसे स्वर्ग-में जाकर सागरों-पर्यन्त वह इन्द्रिय-सुख भोगते भी रहा, जिसे पिछले पश्चमें अस्थिर, पीड़क, शृण्यावर्धक और पराधीन आदि कहा गया है, तो उससे क्या होगा ? संसार सो बढ़ेगा ही, बन्धनसे कहीं मुक्ति तो नहीं हो सकेगी। यदि वह भी बन्धन ही रहा तो लोहे-सोनेकी बेहोंकी तरह बन्धनमें विशेषता क्या रही ? दोनों ही प्रकारके बन्धन संसारमें बाँधे रखनेके लिए समर्थ हैं। इसीसे जो शुद्धबुद्धि-सम्बन्धिति हैं वे इन दोनोंमें कोई भैद्र नहीं समझते ।

कौन सच्चारित्रका पालनकर्ता हुआ भी कर्मेषि नहीं छूटता

पापारम्भं परित्यज्य शास्तं इत्तु चरन्नपि ।

वर्तमानः कषायेन कल्पमेष्यो न मुच्यते ॥३८॥

'पापारम्भको छोड़कर सच्चारित्ररूप आचरण करता हुआ भी आत्मा यदि कषायके साथ वर्त रहा है—क्रोध-मान-माया-लोभादिके वशवर्ती होकर वह आचरण कर रहा है—तो वह कर्मोंसे नहीं छूटता—कषायके कारण, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, उसके बराबर कर्मोंका आस्तबन्ध होता रहता है।'

**व्याख्या—**हिंसा, शूठ, चोरी आदिकी जिस मनोवृत्तिको ३०वें पद्ममें अवृत, अचारित्र कहा है वह सब पापरूप हैं; क्योंकि पापोंसे चिरस्तिका नाम 'इत्तु' है; जैसा कि मोक्षशास्त्रके 'हिसानुत-स्तोयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिकृतम्' इस सूत्र ( ७-१ ) से जाना जाता है। इस पद्ममें, कषाय-जनित कर्मास्त्रका उल्लेख करते हुए, यह बतलाया है कि पापोंके आरम्भको छोड़कर सच्चारित्रका अनुष्ठान करता हुआ जीव किसी कषायके साथ—चाहे वह शुभ हो या अशुभ—यदि वर्त रहा है तो उसका कर्मोंके आस्तबन्धसे छुटकारा नहीं होता—वह अपने कषाय-भावके अनुसार बराबर साम्परायिक आस्तबका अर्जन करता रहता है।

बन्धका कारण बस्तु या वस्तुसे उत्पन्न दोष ?

जायन्ते मोह-लोभाद्या दोषा यद्यपि वस्तुतः ।

तथापि दोषतो बन्धो दुरितस्य न वस्तुतः ॥ ३९॥

'यद्यपि वस्तुके—परपदार्थके—निमित्तसे मोह तथा लोभादिक दोष उत्पन्न होते हैं तथापि कर्मका बन्ध उत्पन्न हुए दोषके कारण होता है न कि वस्तुके कारण—पर-पदार्थ बन्धका कारण नहीं ।'

**व्याख्या—**यहाँ जिस वस्तुके निमित्तसे आत्मामें काम-क्रोध-लोभादिक दोषोंकी उत्पत्ति होती है उसे आस्तबन्धका कारण न बतलाकर उन दोषोंको ही कर्मोंके आस्तबन्धका कारण बतलाया है। यदि जीवके कषायादि परिणामोंको छोड़कर वस्तुके निमित्तसे ही आस्तबन्धका होना माना जाय तो फिर किसीका भी बन्धसे छूटना नहीं उन सकता ।

१. परयन्तो जग्मकान्तारे प्रवेशं पुण्य-पापतः । विशेषं प्रतिपद्मन्ते न तयोः शुद्धबुद्धयः ॥—योग ०

प्रा० ४-४० । २. वल्युं पङ्कव जं पुण अज्ञवसाणं तु होइ जीवाणं । य य वल्युदो तु वंशी अज्ञवसाणं वंशी त्वि । —समवशार २६५ । ३.,४. आ वस्तुतः ।

शुद्ध-स्वात्मा की उपलब्धि किसे होती है

मिथ्याज्ञान-निविष्ट-योग-जनिताः<sup>१</sup> संकल्पना भूरिशः  
संसार-अमकारिकम्-समितेरावज्ञे या ज्ञमाः<sup>२</sup> ।  
त्यज्यन्ते<sup>३</sup> स्व-परान्तरं गतवता निःशेषतो येन ता-  
स्तेनात्मा विगता-एकम्-विकृतिः संप्राप्यते तस्त्रतः ॥४०॥

इति श्रीष्ठदभितगति-निःसंगचोगिराज-विरचिते योगसारप्राप्तुते  
आसूवाधिकारः ॥ ५ ॥

'मिथ्याज्ञानपर आधारित-योगोंसे उत्पन्न हुई जो बहुत-सी कल्पनाएँ-वृत्तियाँ संसार-अमण करनेवाले कर्मसमूहके आमवर्षमें समर्थ हैं वे स्व-परके भेदको पूर्णतः जाननेवाले जिस ( योगी ) के हारा पूरी तरह त्यागी जाती हैं उसके हारा वस्तुतः आठों कर्मोंकी विकृतिसे रहित ( शुद्ध ) आत्मा प्राप्त किया जाता है—कर्मोंके सारे विकारसे रहित विषिक्त आत्माकी उपलब्धिः उसी योगीको होती है जो उक्त योगजनित कल्पनाओं एवं कर्मात्मव्यूहक वृत्तियोंका पूर्णतः त्याग करता है ।'

**व्याख्या**—यह इस आसूवाधिकारका उपसंहार-पथ है, जिसमें चौथे योग जनित आमव-हेतुओंका दिग्दर्शन कराते हुए यह सूचन किया है कि मिथ्याज्ञानपर अपना आधार रखनेवाली मन-व्यवहन-कायरूप त्रियोगोंकी कल्पनाएँ-प्रवृत्तियाँ बहुत अधिक हैं और वे सभी संसारमें इस जीवको अमण करनेवाले कर्म-समूहके आमवर्षमें समर्थ हैं। जिस स्व-पर-भेद विज्ञानी योगीके हारा वे सब मन-व्यवहन-कायकी प्रवृत्तियाँ त्यागी जाती हैं वह वास्तवमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र और आयु इन आठों कर्मोंके विकारोंसे रहित अपने शुद्धात्माको प्राप्त होता है, जिसे 'विविक्तात्मा'के रूपमें अन्थके शुरुसे ही उल्लेखित करते आये हैं और जिसका परिज्ञान तथा प्राप्ति करना ही इस अन्थका एक मात्र लक्ष्य है ।

जिस मिथ्याज्ञानका यहीं उल्लेख है वह अन्थमें वर्णित 'मिथ्याज्ञानं मर्तं तत्र मिथ्यात्म-समकायतः' इस वाक्यके अनुसार वह दूषित ज्ञान है जो मिथ्यात्मके सम्बन्धको साथमें लिये हुए होता है। और मिथ्यात्म उसे कहते हैं जिसके कारण ज्ञानमें वस्तुका अन्यथा बोध हो—वस्तु जिस रूपमें स्थित है उस रूपमें उसका ज्ञान न होकर विपरीतादिके रूपमें ज्ञानना चाने—और जो सारे कर्मरूपी वर्गीयेको उगानेके लिए जलदानका काम करता है ।'

इस अधिकार श्री अभितगति निःसंगचोगिराज-विरचित योगसार-प्राप्तुतमें आसूवाधिकार  
नामका तीसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥५॥

१. अ योगयनिता २. आ यत्कामां ३. सु जायन्ते ४. वस्त्रवन्ध्या परिच्छेदी जाने संपदते यतः ।

तमिथ्यात्मं मर्तं सद्गुणः कर्मरामोद्योदकम् ॥—यो० प्रा० १३ ।

## बन्धाधिकार

बन्धका लक्षण

**पुद्गलानां यदादानं योग्यनां सक्षायतः ।  
योगतः स मतो बन्धो जीवस्वातन्त्र्य-कारणम् ॥१॥**

‘योग्य पुद्गलोंका कषाययोगसे—कषायसहित मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिसे—जो ग्रहण है उसको ‘बन्ध’ माना गया है, जो कि जीवकी अस्वतत्त्वता-पराधीनताका कारण है।’

**व्याख्या**—बन्धके इस लक्षणमें मन-वचन-कायकी कषायरूप-प्रवृत्तिसे जिन पुद्गलोंके ग्रहणका विधान है, उनके लिए ‘योग्य’ विशेषणका प्रयोग किया गया है, जिसका यह आशय है कि बन्धके लिए सभी प्रकारके पुद्गल बन्धके योग्य नहीं होते, जो कार्मण-वर्गणाके रूपमें परिणत होकर जीवके साथ जुड़ते हों तो वे दो पुद्गल ग्रहण-योग्य कहलाते हैं। यहाँ ‘ग्रहण’ अर्थमें प्रयुक्त हुआ ‘आदान’ शब्द आसायके आगमनार्थसे भिन्न आकर उहरने-रूप अर्थका बाचक है। यह उहरना कषायके योगसे होता है, जोकि कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका कारण है। जीव-प्रदेशोंमें पुद्गलकर्मके प्रदेशोंका आकर जो यह एक क्षेत्रावगाह-रूप अवस्थान है—संश्लेष है—उसको ‘बन्ध’ कहते हैं। यह बन्ध, चाहे शुभ हो या अशुभ, जीवकी स्वतन्त्रताका हरण कर उसे पराधीन बनाता है।

प्रकृति-सिद्धियादिके भेदसे कर्मबन्धके चार भेद

**प्रकृतिश्च स्थितिज्ञेयः प्रदेशोऽनुभवः परः ।  
चतुर्धीं कर्मणो बन्धो दुःखोदय-निष्वन्धनम् ॥२॥**

‘कर्मकर बन्ध प्रकृति, स्थिति, प्रवेश और अनुभागके भेदसे चार प्रकारका जानना चाहिए, जो कि ( आत्मामें ) दुःखके उदयका कारण है।’

**व्याख्या**—बन्धके चार मूलभेदोंका नामोल्लेख करके समूचे बन्धको यहाँ दुःखोदयत्ति-का कारण बतलाया है।—सांसारिक सुख भी उस दुःखमें शामिल है; जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। बन्ध जीवकी स्वतन्त्रताका हरण कर उसे पराधीनता प्रदान करनेवाला है और ‘पराधीन सपनेहु सुख नाहीं’ यह लोकोक्ति बन्धको दुःखकारक बतलानेके लिए सुप्रसिद्ध है।

चारों बन्धोंका समान्य रूप

**निसर्गः प्रकृतिस्तत्र स्थितिः कालावधारणम् ।  
सुर्संक्लिप्तिः (क्लृप्तिः) प्रदेशोऽस्ति विपाकोऽनुभवः पुनः ॥३॥**

१. सु जीवस्वातन्त्र्यकारण ।

‘उस प्रकार कर्मोंमें स्वभावका नाम ‘प्रकृति’, कालको अवधिका नाम ‘स्थिति’, सुसंकल्पिका नाम ‘प्रदेश’ और विषयका नाम अनुभव (बन्ध) है।’

**व्याख्या**—यहाँ चारों प्रकारके बन्धोंका सामान्यतः स्थरूप दिया है और वह यह कि जो पुद्गाल कर्मरूप होकर जीवके साथ बन्धको प्राप्त होते हैं उनमें गुण-स्वभावके पड़नेको ‘प्रकृतिबन्ध’, कथतक सम्बन्धित रहेंगे इस कालकी अवधिको ‘स्थितिबन्ध’, जीवके प्रदेशोंमें संइक्षेपको ‘प्रदेशबन्ध’ और फलदानकी शक्तिको ‘अनुभागबन्ध’ कहते हैं।

कोन जीव कर्म बाधिता है और कोन नहीं बाधिता  
रागद्वेषद्वयालीढ़ः कर्म वज्ञाति चेतनः ।  
कथापारं विदधानोऽपि तदपोद्धो न सर्वथा ॥४॥

‘राग और द्वेष दोनोंसे थुक हुआ चेतन आत्मा कर्मको बाधिता है। जो राग-द्वेषसे रहित है वह बृत्यारको-मन-बचन-कायकी कियाको-करता हुआ भी सर्वथा कर्मका बन्ध नहीं करता।’

**व्याख्या**—यहाँ बन्धके कारणका निर्देश करते हुए उस जीवात्माको बन्धका कर्ता लिखा है जो राग और द्वेष इन दोसे युक्त हैं, जो जीवात्मा इन दोसे रहित है वह मन-बचन-कायकी कोई किया करता हुआ भी कर्मी बन्धको प्राप्त नहीं होता। राग और द्वेष इन दोमें सारा कथाय-नोकथाय चक्र गम्भीर है—छोट, माया, हास्य, रति और श्रिधा काम ये राग रूप हैं और क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुस्सा (रुलानि) ये छह द्वेषरूप हैं। मिथ्या-दर्शनसे युक्त हुआ राग ही ‘मोह’ कहलाता है।

पूर्वकथनका उदाहरणों-द्वारा स्पष्टीकरण  
सचित्ताचित्त-मिथ्याणां कुर्वाणोऽपि निषुदनम् ।  
रजोभिलिप्यते रूपो न तन्मध्ये चरन् यथा ॥५॥  
विदधानो विचित्राणां द्रव्याणां विनिपातनम् ।  
रागद्वेषद्वयापेतो नैनोभिर्घ्यते तथां ॥६॥

‘जिस प्रकार चिकनाईसे रहित रुक्ष शरीरका भारक प्राणी धूलिके मध्यमें विचरता और सचित्त अचित्त तथा सचित्ताचित्त पदार्थोंका छेदन-भेदनादि करता हुआ भी रजसे लिम-धूलसे धूमस्तित-नहीं होता है, उसी प्रकार राग-द्वेष दोनोंसे रहित हुआ जीव नाना प्रकारके चेतन-अचेतन तथा मिथ्य पदार्थोंके मध्यमें विचरता और उनका विनिपातन—छेदन-भेदनादि-रूप वात—करता हुआ भी कर्मोंसे बन्धको प्राप्त नहीं होता।’

**व्याख्या**—पिछले पक्षके अन्तमें यह बतलाया है कि राग-द्वेषसे रहित हुआ जीव शरीरादिकी अनेक चेष्टाएँ करता हुआ भी कर्मका बन्ध नहीं करता, उसको यहाँ सचिक्षनता-रहित चिलकुल रुक्ष शरीरधारी मानवके हृष्टान्तसे स्पष्ट किया गया है—जिस प्रकार वह मानव धूलिवहुल स्थानके मध्यमें विचरता हुआ और अनेक प्रकारके वात-प्रवातके कार्यों-

१. रागः प्रेम रसिमाया लोभं हास्यं च पञ्चथा । मिथ्यात्वभेदयुक्त सोऽपि मोहो द्वेषः कृधादिष्ट ॥२३॥

को करता हुआ भी धूलिसे धूसरित नहीं होता उसी प्रकार राग-द्वेषसे रहित हुआ जीव कर्मक्षेत्रमें उपस्थित हुआ अनेक प्रकारकी कायचेष्टादि करता हुआ भी कर्मसे लिप्त नहीं होता। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारके बन्धाधिकारमें इस विषयका जो कथन पाँच गाथाओंमें स्पष्ट किया है उस सबका सार यहाँ इन दो पद्धोंमें खीचकर रखा गया है।<sup>१</sup>

सर्वव्यापारहीनोऽपि कर्ममध्ये व्यवस्थितः ।  
रेणुमिव्याप्यते चित्रैः स्नेहाभ्यक्ततनुष्ठान् ॥७॥

समस्तारम्भ-हीनोऽपि कर्ममध्ये व्यवस्थितः ।  
कषायाकुलितस्थान्तो व्याप्यते दुरितैस्तथा ॥८॥

‘जिस प्रकार शरीरमें तेलादिकी मालिश किये हुए पुरुष धूलिसे व्याप्त कर्मक्षेत्रमें बैठा हुआ समस्त व्यापारसे हीन होते हुए भी कर्मक्षेत्रमें स्थिरं कुछ काम न करते हुए भी नाना प्रकारको धूलिसे व्याप्त होता है, उसी प्रकार जिसका चित्र क्रोधादि कषायोंसे आकृतित है वह कर्मके मध्यमें स्थित हुआ समस्त आरम्भोंसे रहित होनेपर भी कर्मोंसे व्याप्त होता है।’

**व्याख्या**—यहाँ उसी पिछले पद (नं० ४) के आदिमें जो यह बतलाया है कि राग और द्वेषसे युक्त हुआ जीव कर्मका बन्ध करता है उसे यहाँ खूब तेलकी मालिश किये हुए सचिक्त देहधारी मनुष्यके हृष्टान्तसे स्पष्ट किया गया है—जिस प्रकार तेलसे लिप्त गात्रका धारक मनुष्य धूलिवहूल कर्मक्षेत्रमें बैठा हुआ स्थिरं सब प्रकारकी कायादि चेष्टाओंसे रहित होता हुआ भी धूलिसे धूसरित होता है उसी प्रकार कर्मक्षेत्रमें उपस्थित हुए जिस जीवका चित्र कषायसे अभिभूत है—रागादिरूप परिणत है—वह सब प्रकारके आरम्भोंसे रहित होनेपर भी कर्मोंसे बन्धको प्राप्त होता है। इस रागादिरूप कषाय भावमें ही वह चेप है जो कुछ न करते हुए भी कर्मको अपनेसे चिपकाता है। इसीसे बन्धका स्वरूप बतलाते हुए अधिकारके प्रारम्भमें ही उसका प्रधान कारण कषाययोग बतलाया है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारके बन्धाधिकारके प्रारम्भमें इस विषयका जो कथन गाथा २३७ से २४१ में किया है उसीका यहाँ उक्त दो पद्धोंमें सार खीचा गया है।

अमूर्तं आत्माका मरणादि करनेमें कोई समर्थ नहीं  
फिर भी मारणादिके विषयमें बन्ध

मरणं जीवनं दुःखं सौख्यं रक्षा निपीडनम् ।  
जातु कर्तुं ममूर्तस्य<sup>२</sup> चेतनस्य न शक्यते ॥९॥

विद्धानः परीणामं मारणादिगतं परम् ।  
बह्नाति विविधं कर्म मिथ्यादृष्टिनिरन्तरम् ॥१०॥

‘अमूर्तिक-चेतनात्माका मरण, जीवन, सुख, दुःख, रक्षण और पीड़न करनेके लिए (कोई भी) कभी समर्थ नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव परके मारणादिविषयक परिणाम करता हुआ निरन्तर नाना प्रकारके कर्मोंको वौधता है।’

१. देखो, समयसार गाथा, नं० २४३ से २४६। २. या कर्ममूर्तस्य।

**व्याख्या—** अस्त्रधारिकारमें आस्त्रवके मिथ्यादर्शनादि चार कारणोंका उल्लेख करते हुए यह सूचित किया जा चुका है कि बन्धके भी वे ही चार कारण हैं, इसीसे इस बन्धाधिकारमें बन्धके कारणोंका अलगासे कोई नामोल्लेख न करके मिथ्यादर्शनादि जन्य बन्धके कार्योंका सकारण निर्देश किया गया है। यहाँ यह बतलाया गया है कि जीव अमूर्तिक है उसके मरने, जीने, सुख-दुःख भोगने, रक्षित-पीड़ित किये जाने-जैसे कार्योंको कोई भी वस्तुतः कभी करनेमें समर्थ नहीं है, यह एक सिद्धान्तकी बात है।

इसके विपरीत जिसका श्रद्धान है वह मिथ्याहृष्टि जीव वसुतत्त्व-को न समझनेपर दूसरे जीवको मारने-जिलाने आदिका जो परिणाम (भाव) करता रहता है उससे वह निरन्तर नाना प्रकारके कर्म-बन्धनोंसे अपनेको बाँधता रहता है। उन बन्धनोंमें शुभ भावोंसे बैठे बन्धन शुभ और अशुभ भावोंसे बैठे बन्धन अशुभ होते हैं।

यहाँ मरण, जीवन, दुःख, सौख्य, रक्षा और निर्णायक इन छह कार्योंका संश्लेषणसे उल्लेख है, इनके साधनों, प्रकारों और इनसे मिलते-जुलते दूसरे कार्योंको भी उपलब्धणसे इनमें शामिल समझना चाहिए।

मरणादिक सब कर्म-निर्मित; अत्य कोई करने-दूरनेमें समर्थ नहीं।

**कर्मणा निर्मितं सर्वं मरणादिकमात्मनः ।  
कर्मावितरतान्येन कर्तुं हतुं न शक्यते ॥११॥**

‘अत्माका मरणादिक सब कार्यं कर्म-द्वारा निर्मित है, कर्मको न देनेवाले दूसरेके हारा उसका करना-हरना नहीं बन सकता।’

**व्याख्या—** पिछले पद्म ९ में जीवके जिन मरणादिक कार्योंका उल्लेख है उन सबको इस पश्चमें कर्मनिर्मित बतलाया है; जैसे मरण आयुकर्मके शायसे होता है—‘आयुकर्मके उदयसे जीवन-बनता है’, साता वेदनीय कर्मका उदय सुखका और असाता वेदनीय कर्मका उदय दुःखका कारण होता है। जब एक जीव दूसरे जीवको कर्म नहीं देता और न उसका कर्म लेता है तो फिर वह उस जीवके कर्म-निर्मित कार्यका कर्ता-हृता कैसे ही सकता है? नहीं हो सकता। और इसलिए अपनेको कर्ता-हृता मानना मिथ्याबुद्धि है, जो बन्धका कारण है।

जिलाने-मारने आदिकी सब बुद्धि भोह-कल्पित

**या ‘जीवयामि जीव्येऽहं मायेऽहं पारयाम्यहम् ।  
भनिपीढये निपीढ्येऽहं सा बुद्धिमेहकल्पिता ॥१२॥**

‘मे जिलाता हूँ-जिलाया जाता हूँ, मारता हूँ-मारा जाता हूँ, बोड़ित करता हूँ-पीड़ित किया जाता हूँ, यह जो बुद्धि है वह भोह-निर्मित है।’

**व्याख्या—** पिछले पद्ममें मिथ्याहृष्टिकी जिस बुद्धिका सूचन है, उसीका इस पद्ममें स्पष्टीकरण है और उसे ‘भोहकल्पिता’-दर्शन मोहनीय (मिथ्यात्म) कर्मके उदय-द्वारा

१. मु व्या मारणादिकमात्मनः । आ मारणादिगतमात्मनः । २. आउक्तरैण मरणं जीवाणं जिणवरेहि पृणते । ३४८-४९ समयसार । ३. आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भण्ठति सम्बन्ध । ४५१-५२ समयसार । ४. मु निषीद्येऽहं निपीढये ।

निर्मित बतलाया है। अतः मैं दूसरेको जिलाता या मारता हूँ, दूसरा मुझे जिलाता या मारता है, इस प्रकारकी बुद्धिसे जो शुभ या अशुभ कर्म उन्ध होता है, उसे मिथ्यात्वजन्य समझना चाहिए। ऐसी बुद्धिवाले जीवको श्रीकृष्णकुन्दाचार्यने समयसारमें 'सो महो अण्णाणी' इस वाक्यके द्वारा मूढ़ (मिथ्याहृषि) और अज्ञानी (अचिवेकी) बतलाया है। और उसके परके मारने-जिलाने, दुःखो-मुखी करने, परके द्वारा मारे जाने-जिलायेजाने, मुखी-दुःखी किये जानेकी बुद्धिको आयुक्तमादिके न देने न हरने आदिके कारण निरर्थक, मिथ्या तथा भूदमति बतलाया है और पुण्य-पापके बन्धकी करनेवाली लिखा है। साथ ही जीवन-मरण, सुख-दुःखादिका होना कर्मके उदयवश बतलाया है। इस विषयकी १४ गाथाएँ २४८ से २६२ तक विस्तार हृतिवालोंको समयसारमें देखने योग्य हैं, जिनका सारा विषय संक्षेपतः यहाँ पद्य ९ से १२ तक आ गया है। यह सब कथन निश्चय नयकी हृषिसे है।<sup>१</sup> व्यवहार नयकी हृषिसे जिलाना, मारना, मुखी, दुःखी करना आदि कहनेमें आता है।

यहाँ वथा अन्यत्र जिसे 'बुद्धि' शब्दसे, १०वें आदि पद्योंमें 'परिणाम' शब्दसे और कहीं 'भाव' तथा 'मति' शब्दोंसे उल्लेखित किया है उसीके लिए समयसारमें अव्यवसान, विज्ञान, व्यवसाय और चिन्ता शब्दोंका भी प्रयोग किया गया है। और सबको एक ही अर्थके वाचक बतलाया है; जैसा कि उसकी निम्नगायासे प्रकट है:—

बुद्धी व्यवसाओ वि य अज्ञवसाणं मई य विष्णाणं ।

एकटुमेव सद्बुद्धिं चित्तं भवतो य परिणामो ॥ २७२ ॥

कोई किसीके उपकार-अपकारका कर्ता नहीं, कर्तृत्व बुद्धि मिथ्या

कोऽपि कस्यापि कर्तास्ति नोपकारापकारयोः ।

उपकुर्वेऽपकुर्वेऽहं मिथ्येति कियते मतिः ॥ १३ ॥

सहकारितया द्रव्यमन्ये नान्यद् विधीयते

क्रियमाणोऽन्यथा सर्वः संकल्पः कर्म-बन्धजः ॥ १४ ॥

'कोई भी किसीके उपकार-अपकारका कर्ता नहीं है। मैं दूसरेका उपकार करता हूँ, अपकार करता हूँ, यह जो बुद्धि को जाती है वह मिथ्या है। सहकारिताकी बुद्धिसे एक पदार्थ दूसरेके द्वारा अन्य रूपमें किया जाता है। अन्यथा क्रियमाण-करने कराने रूप-जो संकल्प है वह सब कर्मबन्धसे उत्पन्न होता है—कर्मके उदय जन्य है।'

**व्याख्या**—यहाँ पूर्वोल्लेखित बुद्धियोंसे भिन्न एक दूसरे प्रकारकी बुद्धिका उल्लेख है और वह है दूसरेका उपकार या अपकार करनेकी बुद्धि, इस बुद्धिको भी यहाँ मिथ्या बतलाया है और साथ ही यह निर्देश किया है कि वस्तुतः कोई भी जीव किसीका उपकार या अपकार नहीं करता है। तब यह उपकार-अपकारकी जो मान्यता है वह भी व्यवहारनयके आन्तरिक है। वास्तवमें एक पदार्थ दूसरे पदार्थके निमित्तसे अन्यथा रूप हो जाता है—पर्यायसे पर्यायान्तरको धारण करता है—अन्यथा रूप करने-करानेका जो संकल्प जीवमें उत्पन्न होता है वह सब कर्मबन्धके कारण-तद्रूप चंचे हुए कर्मके उदयमें आनेके निमित्तसे होता है।

१. ऐसी वंशसमारी जीवाणं विच्छयणयस्त्व ॥ २६२ ॥—समयसार । २. य कोवि देवि लक्ष्मी ण को वि जोवस्त्व कुण्डि उव्यारं उव्यारं व्रव्यारं कर्म पि सुहासुहं कुण्डि ॥ ३१९ ॥ कातिकेयानुप्रेक्षा ।

३. व्या उव्यमनेत ।

प्रत्येक जीविका उपकार या अपकार उसके अपने शांघे शुभ या अशुभ कर्मके उदयाश्रित हैं; जैसा कि कार्तिकेयानुग्रहेश्वार्क 'उदयारं अवयारं कर्मं च सुहासुहं कुण्डि' इस वाक्यसे भी जाना जाता है।

चारित्रादिकी मलिनताका हेतु मिथ्यात्व

**चारित्रं दर्शनं ज्ञानं मिथ्यात्वेन मलीमसम् ।  
कर्पटं कर्दमेनेवं क्रियते निज-संघतः ॥१५॥**

'जिस प्रकार कपड़ा कीचड़के द्वारा अपने संगमे मैला किया जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्वके द्वारा अपने संगमे चारित्र, दर्शन तथा ज्ञान मलिन किया जाता है।'

**व्याख्या—**पिछले पर्यामें तथा इससे पूर्वके आन्नवाधिकारमें भी बुद्धि आदिके रूपमें जिस ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रको सदोष बतलाया है उसकी सदोपतारके कारणको इस पद्धतें स्पष्ट किया गया है और वह है मिथ्यात्वका सम्बन्ध, जिसे यहाँ कर्दम-कीचड़की उपमा दी गयी है। कीचड़के सम्बन्धसे जिस प्रकार बस्त्र मैला हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व कर्मके उदयका निमित्त पाकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र सदोष हो जाते हैं।

मलिन चारित्रादि दोषके ग्राहक हैं

**चारित्रादि दर्शनं दूषं स्वीकृतेऽहि मलीमसम् ।  
न पुननिमंलीभूतं सुवर्णमिष्ठ तत्त्वतः ॥१६॥**

'बस्तुतः मलिन चारित्र, मलिन दर्शन तथा मलिन ज्ञान दोषको स्वीकार करता है परन्तु जो चारित्र दर्शन तथा ज्ञान निमंलीभूत हो गया है—पूर्णतः निर्मल हो गया है—वह दोषको उसी प्रकार प्रहण नहीं करता जिस प्रकार कि किट्टकालिमासे रहित हुआ सुवर्ण किरसे उस किट्टकालिमाको ग्रहण नहीं करता।'

**व्याख्या—**पिछले पद्धतें मिथ्यात्वके योगसे ज्ञान-दर्शन-चारित्रका सदोष होना बतलाया है तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र मलका संग त्याग कर पूर्णतः निर्मल हो गया है वह भी क्या पुनः मिथ्यात्वके योगसे मलिन हो जाता है? इसीके समाधानार्थ इस पद्धतका अवतार हुआ ज्ञान पढ़ता है। इसमें बतलाया है कि जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र मलिन है—कुछ भी मलसे बुक्त है अथवा सत्तामें मलको लिये हुए हैं—वही बस्तुतः दोषको स्वीकार करता है—दूसरे मलको प्रहण करता अथवा मलरूप परिणत होता है—मलसे ही मलकी परिपादी चलती है—जो पूर्णतः निर्मल हो गया है वह फिर मिथ्यात्वके संगसे—चारों ओर मिथ्यात्वका वातावरण होते हुए भी—मलिन नहीं होता उसी प्रकार जिस प्रकार कि पूर्णतः निर्मल हुआ स्वर्ण दिन-रात कीचड़में पढ़ा रहनेपर भी फिरसे उस किट्टकालिमाको प्रहण नहीं करता। इसीमें मुक्तिका तत्त्व छिपा हुआ है—जिन जीवोंका दर्शन-ज्ञान-चारित्र पूर्णतः निर्मल हो जाता है वे फिरसे भव धारण कर अथवा अवतार लेकर संसार-धरण नहीं करते—सदाके लिए भव-बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं।

अप्रासुक द्रव्यको भोगता हुआ भी वीतरागी अबन्धक  
नीरागोऽप्रासुकं द्रव्यं शुद्धानोऽपि न बद्ध्यते ।  
शुद्धः किं जायते कृष्णः कर्दमादौ चरन्नपि ॥१७॥

'जो वीतराग है वह अप्रासुक द्रव्यको भोगता-सेवन करता हुआ भी बन्धको प्राप्त नहीं होता । ( ठीक है ) कर्दमादिकमें विचरता हुआ भी शांख व्या काला हो जाता है ? - नहीं होता, शुक्ल ही बना रहता है ।'

**व्याख्या**—इस अधिकारके प्रारम्भमें ही कथाय तथा राग-द्वेषको बन्धका प्रमुख कारण बतला आये हैं, यहाँ उसी विषयको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो योगी वीतराग है—अनासन्त है—वह अप्रासुक-सचित्त पदार्थका भोजन करते हुए भी कर्म बन्धको प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि धबल शंख कर्दमादिकमें विचरता हुआ भी कृष्ण काला नहीं हो जाता ।

न भोगता हुआ भी सरागी पापबन्धक  
सरागो बद्ध्यते पापैरशुद्धानोऽपि निश्चितप् ।  
अशुद्धाना न किं मत्स्थाः श्वर्गं यान्ति कथायतः ॥१८॥

'न भोगता हुआ भी सरागी जोष पापोंसे—कर्मोंसे—बन्धको प्राप्त होता है यह निश्चित है । ( ठीक है ) न भोगनेवाले ( तन्दुलादिक ) मत्स्थ एवं कथाय परिणामसे—भोगनेका लालसा-से नरकको प्राप्त नहीं होते ?—होते ही हैं ।

**व्याख्या**—पिछले पदमें नीरागीको सचित्त भोजन करते हुए भी अबन्ध्य बतलाया है और इस पदमें सरागीके सचित्त भोजन न करते हुए भी सुनिश्चित रूपसे पापोंके बन्धका पात्र ठहराया है, उसी प्रकार जिस प्रकार राघव नामके बहुत बड़े मच्छकी आँखोंपर बैठे हुए छोटेछोटे तन्दुलमच्छ राघव मच्छके मुँहमें साँसके साथ प्रवेश करने और निःश्वासके साथ बाहर निकलती हुई अनेक छोटी-बड़ी मछलियोंको देखकर वह कथाय-भाष्ट करते हैं कि यह मूर्ख मच्छर अपना मुँह बन्द करके मुखमें प्रविष्ट हुई मछलियोंको चबा कर्यो नहीं जाता—बाहर कर्यो निकलने देता है । इतने कथायभावसे ही, यिना उन मछलियोंका भोजन किये, वे तन्दुलमच्छ नरकमें जाते हैं, ऐसा आगममें उल्लंख है ।

विषयोंका संग होनेपर भी ज्ञानो उनसे लिप्त नहीं होता  
ज्ञानी विषयसंगेऽपि विषयेनेव लिप्यते ।  
कनकं मलमध्येऽपि न मलैरुपलिप्यते ॥१९॥

'जो ज्ञानो है वह विषयोंका संग होनेपर भी उनसे लिप्त नहीं होता ( उसी प्रकार जिस प्रकार कि) मलोंके भव्यमें पड़ा हुआ सुवर्ण ( सोना ) मलोंसे लिप्त नहीं होता—मलोंको आसम-प्रविष्ट नहीं करता ।

**व्याख्या**—यहाँ जिस ज्ञानीका उल्लेख है वह बही है जो नीरागी है । अध्यात्मभापामें वह ज्ञानी ही नहीं माना जाता जो रागमें आसक्त है । ऐसे ज्ञानी योगीकी विषयोंका संग

उपस्थित होनेपर भी उनमें प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार जिस प्रकार कि मलके मध्यमें पड़ा होनेपर भी शुद्ध सुवर्ण मलको प्रहण नहीं करता।

नीरागी योगी परकृतादि आहारादिसे बन्धको प्राप्त नहीं होता  
आहारादिभिरन्येन कारितैर्मोदितैः कुतैः ।  
तदर्थं बध्यते योगी नीरागो न कदाचन ॥२०॥

‘रागरहित योगी उसके लिए दूसरेके द्वारा किये, कराये तथा अनुमोदित हुए आहारादि-कोसि कवाचित् बन्धको प्राप्त नहीं होता।’

**व्याख्या**—पिछले पदमें जिस विषय-संगका उल्लेख है उसीको यहाँ आहारादिके रूपमें रपछ करते हुए बतलाया है कि जो आहार-औषध-व्यस्तिकादिक किसी योगीके लिए बनाया-बनवाया अथवा अनुमोदना किया गया है उससे वह योगी कभी भी आरम्भादि जन्य बन्ध-फलका भागी नहीं होता जो नीरागी है—उस आहारादिकमें राग-रहित है। और इसलिए जो वैसे कृत-कारित-अनुमोदित-विषयोंमें राग-सहित प्रवर्त्तना है वह अचल्य ही आरम्भादि जन्य पाप फलका भागी होता है—रागके कारण वह भी उस करने-कराने आदिमें शामिल हो जाता है।

परद्रव्यगत दोषसे नीरागीके बंधनेपर दोषापत्ति  
परद्रव्यगतैऽदोषैर्नीरागो यदि बध्यते ।  
तदानीं जायते शुद्धिः कस्य कुत्र कुतः कदा ॥२१॥

‘परद्रव्याश्रित दोषोंके कारण यदि बीतराग भी बन्धको प्राप्त होता है तो फिर किसकी कब कही और कैसे शुद्धि हो सकती है?—नहीं हो सकती।’

**व्याख्या**—योगी-मुनिके लिए आहारादि बनाने-बनवाने-अनुमोदना करनेमें जिस आरम्भादि-जनित दोषकी पिछले पदमें सूचना है उसे यहाँ ‘पर-द्रव्याश्रित दोष’ बतलाया है और साथ ही यह निर्देश किया है कि ऐसे परद्रव्याश्रित दोषोंसे यदि नीरागी योगी भी बन्धको प्राप्त होने लगे तो फिर किसी जीवकी भी किसी कालमें किसी स्थानपर और किसी भी प्रकार शुद्धि नहीं बन सकती। अपने आत्मामें अशुद्धि अपने द्रव्यगत रागादि दोषोंसे होती है—परद्रव्यगत दोषोंसे नहीं। अतः दोष कोई करे और उस दोषसे बन्धको कोई दूसरा ही प्राप्त हो इस भ्रान्त-धारणाको छोड़ देना चाहिए। प्रत्येक जीव अपने-अपने शुभ-अशुभ भावोंके अनुसार शुभ-अशुभ बन्धको प्राप्त होता है, यह अटल नियम है।

बीतराग योगी विषयको जानता हुआ भी नहीं बधता  
नीरागो विषयं योगी बुद्ध्यमानो न बध्यते ।  
परथा बध्यते किं न केवली विश्ववेदकः ॥ २२॥

‘जो बीतराग योगी है वह विषयको जानता हुआ कर्मबन्धको प्राप्त नहीं होता। यदि विषयोंको जाननेसे कर्मबन्ध होता है तो विषयका ज्ञाता केवली बन्धको प्राप्त क्यों नहीं होता?’

**व्याख्या—**परद्रव्यगत दोषोंसे तथा इन्द्रिय-विषयोंके संगसे जब वीतरागी ज्ञानी बन्धको प्राप्त नहीं होता तब उन्हें जानता हुआ तो वह बन्धको कैसे प्राप्त होगा? यह बात यथापि पूर्व पश्चोपरन्से फलित होती है फिर भी यहाँ उसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यदि विषयोंको जानता हुआ वीतरागी योगी बन्धको प्राप्त होता है तो फिर विद्वका ज्ञाता-विद्वके सब पदार्थोंकी सुली-ढकी सारी अवस्थाओंको जाननेवाला-केवली भगवान् बन्धको प्राप्त क्यों नहीं होगा? उसे भी तब बन्धको प्राप्त हो जाना चाहिए। अतः केवल जानने-से बन्धकी प्राप्ति नहीं होती।

ज्ञानी जानता है वेदता नहीं, अज्ञानी वेदता है जानता नहीं  
ज्ञानिना सकलं द्रव्यं ज्ञायते वेदते न च ।  
अज्ञानिना पुनः सर्वं वेदते ज्ञायते न च ॥२३॥

‘ज्ञानीके द्वारा समस्त वस्तु-समूह जाना जाता है किन्तु वेदन नहीं किया जाता और अज्ञानीके द्वारा सकल वस्तुसमूह वेदन किया जाता है किन्तु जाना नहीं जाता।’

**व्याख्या—**पिछले पश्चमे जानने मात्रसे बन्धके न होने रूप जिस बातका उल्लेख किया है उसके सिद्धान्तको इस पश्चमे दर्शाया है और वह यह है कि ज्ञानी-वीतरागीके द्वारा संपूर्ण द्रव्य-समूह जाना तो जाता है किन्तु वेदन नहीं किया जाता और अज्ञानी सरागीके द्वारा समस्त द्रव्य-समूह वेदन तो किया जाता है परन्तु जाना नहीं जाता।

ज्ञान और वेदनमें स्वरूप-भेद  
यथावस्तु परिज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते ।  
राग-द्वेष-मद-क्रोधैः सहितं वेदनं पुनः ॥२४॥

‘जो वस्तु जिस रूपमें स्थित है उसी रूपमें उसके परिज्ञानको ज्ञानियोंके द्वारा ‘ज्ञान’ कहा गया है और जो परिज्ञान ( ज्ञानना ) राग-द्वेष-मद-क्रोधादि कथाओंसे मुक्त है उसका मान ‘वेदन’ है।’

**व्याख्या—**यद्यपि ‘ज्ञान’ और ‘वेदन’ दोनों शब्द सामान्यतः जानने रूप एकार्थक हैं परन्तु पूर्व पश्चमे ज्ञान और वेदनको शब्द-भेदसे नहीं किन्तु अर्थभेदसे भी भेदरूप उल्लेखित किया है। वह अर्थभेद क्या है उसको बतानानेके लिए ही इस पश्चमे दोनोंका लक्षण दिया है। ज्ञानका लक्षण ‘यथावस्तु-परिज्ञान’ दिया है, जिसका आशय है बिना किसी मिश्रण अथवा मेल-मिलापके वस्तुका यथावस्थितरूपमें शुद्ध ( स्थालिक ) ज्ञानना ‘ज्ञान’ है और ‘वेदन’ उस जाननेको कहते हैं जिसके साथमें राग-द्वेष, अहंकार, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सादि विकार भाव मिल जायें। अर्थात् किसी वस्तुके देखते ही इनमेंसे कोई विकार भाव उत्पन्न हो जाय, उस विकारके साथ जो उसका ज्ञानना है- अनुभव है-वह ‘वेदन’ कहलाता है।

ज्ञानमें ज्ञान और ज्ञानमें अज्ञान-पर्याय नहीं हैं  
नाज्ञाने ज्ञान-पर्यायाः ज्ञाने माज्ञानपर्यायाः ।  
न लोहे स्वर्ण-पर्याया न स्वर्णे लोह-पर्यायाः ॥२५॥

'अज्ञानमें ज्ञानकी पर्याय और ज्ञानमें अज्ञानकी पर्यायें(उसी प्रकार) नहीं होती (जिस प्रकार) लोहे में स्वर्णकी पर्याय और स्वर्णमें लोहकी पर्यायें नहीं होतीं।'

**ध्यात्वा**—यहाँ 'अज्ञान' 'शब्दसे जिसका प्रहण है वह धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पाँच अचेतनात्मक द्रव्योंका समूह है, इनमें से किसी भी द्रव्यमें ज्ञानकी पर्यायें नहीं होतीं, उसी प्रकार जिस प्रकार लोहमें सुवर्णकी पर्यायें नहीं होतीं। और 'ज्ञान' शब्दसे जिसका प्रहण है वह है चेतनात्मक 'जीव' द्रव्य, इसमें अजीव द्रव्योंमें से किसीकी कोई पर्याय नहीं होती। यह एक तात्त्विक सिद्धान्तका निर्देश है और इस बातको सूचित करता है कि ये सब चेतन-अचेतन द्रव्य चाहे जितने काल तक परस्परमें मिलें-जुलें, सम्पर्क-सम्बन्ध अथवा बन्धको प्राप्त रहें; परन्तु वस्तुतः कोई भी चेतन द्रव्य कभी अचेतन और अचेतन द्रव्य कभी चेतन नहीं होता। इस सिद्धान्तके विपरीत जो कुछ प्रतिभास होता है वह सब स्फटिकमें रंगके समान संसर्ग-दोषके कारण मिथ्या है।

अथवा अज्ञानसे यहाँ पूर्ख पश्चमें प्रयुक्त वह वेदन विवक्षित है जो राग-द्वेषादि विकारोंसे अभिभूत होता है, उसमें शुद्ध ज्ञानकी पर्यायें नहीं होतीं, और ज्ञानसे वह शुद्ध ज्ञान विवक्षित है जिसमें अशुद्ध ज्ञान (वेदन) की पर्यायें नहीं होतीं।

ज्ञानी कल्पवेंका बन्धक और अज्ञानी बन्धक होता है

ज्ञानीति ज्ञान-पर्यायी कल्पवानामबन्धकः ।

अज्ञज्ञान-पर्यायी तेषां भवति बन्धकः ॥२६॥

'जो ज्ञानी है वह ज्ञान-पर्यायी है—ज्ञानरूप परिणमनको लिये हुए है—इसलिए कल्पवेंको—कायादि रूप कर्मोंका—अबन्धक होता है। जो अज्ञानी है वह अज्ञानपर्यायी है—अज्ञानरूप परिणमनको लिये हुए है—और इसलिए कायादि कर्मोंका बन्धक होता है।'

**ध्यात्वा**—उक्त सिद्धान्तके अनुसार जो जीव शुद्ध ज्ञानी है वह ज्ञान-पर्यायी होनेसे कर्मोंका बन्धक नहीं होता और जो जीव अज्ञानरूप पुद्गल-कर्मके सम्बन्धसे शुद्ध ज्ञानी न रहकर अज्ञानी है वह ज्ञान-पर्यायी न होनेसे कर्मोंका बन्धक होता है।

कर्मफलको भोगेवाले ज्ञानी-अज्ञानीमें अन्तर

दीयमानं सुखं दुःखं कर्मणा पाकमीयुषा ।

ज्ञानी वेत्ति परो भृड़क्ते बन्धकाबन्धकौ ततः ॥२७॥

'पाकको प्राप्त हुए कर्मके हारा जो सुख तथा दुःख दिया जाता है उसे ज्ञानी ज्ञानता है और अज्ञानी भोगता है। इसीसे अज्ञानी कर्मका बन्धक और ज्ञानी अबन्धक होता है।'

**ध्यात्वा**—जो जीव अज्ञानी होकर जिस कर्मको बाँधता है वह कर्म परिपक्व होकर उदय-कालमें सुख या दुःखको देता है—कर्म शुभ है तो सुख फलको और अशुभ है तो दुःख फलको देता है—उस कर्म-प्रदत्त सुख-दुःखको ज्ञानी तो ज्ञानता है परन्तु अज्ञानी उसे भोगता है—राग-द्वेषादि-रूप परिणत होता है। इसीसे एक रागादिक-रूप परिणत होनेवाला अज्ञानी नये कर्मोंका बन्धक और दूसरा—समता-भाव धारण करनेवाला ज्ञानी—नये कर्मोंका बन्धन करनेवाला होता है। उदयमें आया हुआ कर्म अपना फल देता ही है, उसे ज्ञानी भी भोगता है और अज्ञानी भी, ऐसा-लोक-व्यवहार है; फिर यहाँ अज्ञानीको ही भोक्ता क्यों

कहा है इसका कारण यह है कि ज्ञानी तो जलमें कर्मलकी तरह अलिख रहता है। इसीलिए निश्चयसे भोगता हुआ भी अभोक्ता है और अज्ञानी उस भोगमें रागी-द्वेषी अथवा मोही होकर प्रवर्तता है इसलिए वस्तुतः वही भोक्ता है और वही नया कर्म बाँधता है। यही आशय श्रीकृष्णकुन्दाचार्यने प्रवचनसारकी निम्न गाथामें व्यक्त किया है—

उवयगदा कम्पसा जिणवरवस्त्रेण णियदसणा भणिय।  
तेसु हि मुहिदो रत्तो दुद्धो वा बंधमणुहयादि ॥

कर्म ग्रहणका तथा सुगति-दुर्गति-गमनका हेतु  
कर्म गृहणाति संसारी कषाय-परिणामतः ।  
सुगति दुर्गति याति जीवः कर्म-विषाक्तः ॥२८॥

‘संसारी जीव कषाय-रूप परिणामसे कर्मको ग्रहण करता है—बाँधता है ( और ) कर्मके फलसे सुगति तथा दुर्गतिको प्राप्त होता है ।’

**ध्याल्या**—संसारी जीव कर्मोंसे युक्त होता है, किसी भी कर्मके उदयकालमें अथवा पर-पदार्थोंके संसर्गमें आनेसे जब वह शुभ या अशुभ कपायरूप परिणामन करता है, तो शुभ या अशुभ कर्मको ग्रहण करता है—अपने साथ बाँधता है—उस कर्मके वन्धकी स्थितिके अनुसार जब फलकाल आता है तो उससे जीव सुगति या दुर्गतिको जाता है। शुभ कर्मका फल जो सुख-भोग है वह प्रायः सुगतिमें और अशुभ कर्मका फल जो दुःख-भोग है वह प्रायः दुर्गतिमें प्राप्त होता है।

संसार-परिभ्रमणका हेतु और निर्वृतिका उपाय  
‘सुगति दुर्गति प्राप्तः स्त्रीकरोति कलेवरम् ।  
तत्रेन्द्रियाणि जायन्ते गृहाति विषयास्ततः ॥२९॥  
ततो भवन्ति रागाधास्तेभ्यो दुरित-संग्रहः ।  
तस्माद् भ्रमति संसारे ततो दुःखमनेकथा ॥३०॥  
दुःखतो विभ्यता त्याज्याः कपायाः ज्ञान-शालिना ।  
ततो दुरित-विरुद्धेऽस्ततो निर्वृति-सङ्गमः ॥३१॥

‘सुगति तथा दुर्गतिको प्राप्त हुआ जीव शरीर ग्रहण करता है, उस शरीरमें इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, इन्द्रियारसे विषयोंको ग्रहण करता है, विषयोंके ग्रहणसे रागादिक उत्पन्न होते हैं, रागादिकसे शुभाशुभ रूप कर्मोंका संचय होता है और उस कर्मसंचयके कारण संसारमें भ्रमण करता है, जिससे अनेक प्रकारका दुःख प्राप्त होता है। अतः दुःखसे भयभीत ज्ञानशाली जीवात्माके द्वारा कषाये त्यागने योग्य हैं, उनके स्थानसे कर्मोंका विनाश होता है और कर्मोंके विनाशसे मुक्तिको प्राप्ति होती है।’

- 
१. जो अलू संसारत्वो जीवो तस्मो दु होदि परिणामो । परिणामादो कर्मं कामादो होदि गदि-सुगतो ॥१२८॥—पञ्चास्ति० । २. गदिमाधिगदस्त देहो देहादो हंदियाणि जायते । ते हि दु विषय-भावो रत्तो राजो व दोभो वा ॥१२९॥ जायदि जीवस्येवं भावो संसारवक्तव्यालम्बिम् । हंदि निष्वरेहि भणिदो अणादिगिधणो संगिधणो वा ॥१३०॥—पञ्चास्ति० । ३. आ गृह्णति, व्या गृह्णति ।

**व्याख्या—** विछले पश्चमे कर्मफलसे जिस मुगति या दुर्गतिको जानेको बात कही गयी है उसको प्राप्त होकर यह जीव नियमसे देह धारण करता है—चाहे वह देव, मनुष्य तिर्यचादि किसी भी प्रकारकी क्यों न हो; देहमें इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है—चाहे एक स्पर्शन इन्द्रिय ही क्यों न हो; इन्द्रियोंसे उनके विषयों स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा सबका ग्रहण होता है; विषयकि ग्रहणसे राग-द्वेषादिक उत्पन्न होते हैं और राग-द्वेषादिकी उत्पत्तिसे पुनः कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धके फलस्वरूप पुनः गति, सुर्गति, देह, इन्द्रिय विषय-ग्रहण, राग-द्वेष और पुनः कर्मबन्धादिके रूपमें संसार-परिभ्रमण होता है और इस संसार-परिभ्रमणसे अनेकानेक प्रकारके दुःखोंको सहन करना पड़ता है, जिन सबका वर्णन करना अशक्य है। अतः जो दुःखोंसे उत्तरते हैं, उन ज्ञानी-जनोंको कर्मबन्धके कारणीभूत क्रोधादि कषायों तथा हास्यादि नोकपायोंका त्याग करना चाहिए। उनको त्यागनेसे पिछला कर्म-बन्धन टूटेगा तथा नये कर्मका बन्धन नहीं होगा। और ऐसा होनेसे मुक्तिका संगम सहज ही प्राप्त होगा, जो स्वात्मोभित, स्वाधीन, परनिक्षेप, अतीनिद्रिय, अनन्त, अविनाशी और निर्विकार उस परम सुखका कारण है जिसकी जोड़का कोई भी सुख संसारमें नहीं पाया जाता। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने ऐसे सुखी महात्माको 'अभवदभवसौख्यवान् भवान्' वाक्यके द्वारा 'अभव-सौख्यवान्' बतलाया है।'

रागादिसे पुनः जीवका परिणाम

**सन्ति रागादयो यस्य सचित्ताचित्त-वस्तुपु ।  
प्रशस्तो वाप्रशस्तो वा परिणामोऽस्य जापते ॥३२॥**

'जिस जीवके चेतन-अचेतन-वस्तुओंमें रागादिक होते हैं उसके प्रशस्त (शुभ) या अप्रशस्त (अशुभ) परिणाम उत्पन्न होता है।'

**व्याख्या—** जिन राग-द्वेषादिको पहले बन्धका कारण बतला आये हैं, उनसे पुण्य-पापके बन्धकी बातको स्पष्ट करते हुए यहाँ इतना ही बतलाया है कि जिस जीवके भी चेतन-अचेतन पश्चात्योंमें रागादिक विद्यमान हैं उसका परिणाम प्रशस्त या अप्रशस्त रूप जरूर होता है।

कौन परिणाम पुण्य, कौन पाप, दोनोंकी स्थिति  
प्रशस्तो भण्यते तत्र पुण्यं पापं पुनः परः ।  
द्वयं पौद्यगलिकं मूर्तै सुख-दुःख-वितारकम् ॥३३॥

'उन दो प्रकारके परिणामोंमें प्रशस्त परिणामको 'पुण्य' और अप्रशस्त परिणामको 'पाप' कहा जाता है; दोनों पुण्य-पापरूप परिणाम पौद्यगलिक हैं, मूर्तिक हैं और (क्रमशः) सांसारिक सुख-दुःखके बाता हैं।'

**व्याख्या—** यहाँ प्रशस्त और अप्रशस्त-परिणामोंके अलग-अलग नामोंका बल्लेख है— प्रशस्त परिणामोंको 'पुण्य' और अप्रशस्त परिणाम (भाव) को 'पाप' बतलाया है; क्योंकि ये दोनों क्रमशः पुण्य-पाप-बन्धके कारण हैं। कारणमें यहाँ कार्यका उपचार किया गया है और इससे दोनोंको पौद्यगलिक, मूर्तिक तथा यथाक्रम सुख-दुःखके प्रदाता लिखा है। पुण्य-

पापका 'सुख-दुःख-वितारकम्' विशेषण अपना खास महत्त्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि जो सुख-दुःख वितरणका कारण होता है वह सुख-दुःख कार्यके पूर्वश्रणमें विद्यमान रहता है, तभी वह उपादान कारणके रूपमें कार्यको उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है; अन्यथा प्रशस्त या अप्रशस्त-परिणाम तो उत्पन्न होकर नष्ट हो गया, कार्यात्पत्तिके समय वह विद्यमान नहीं है तब उस परिणामसे सुख-दुःख कार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है? नहीं हो सकता। सुख-दुःखके प्रदाता वे पुण्य-पापरूप द्रव्यकर्म होते हैं जो उक्त परिणामोंके निमित्तसे उत्पन्न होकर श्रितिलक्ष्म के द्वारा उल्दानके समय तक जीवके साथ रहते हैं और तभी परिणामोंका फल-कार्य सञ्चन्न होता है।

पुण्य-पाप-फलको भोगते हुए जीवकी स्थिति

**मूर्तोऽभवति सुखानः सुख-दुःखफलं तथोः ।  
मूर्तकर्मफलं मूर्तं नामूर्तेन हि भुज्यते ॥३४॥**

'उन दोनों पुण्य-पापरूप परिणामोंके सुख-दुःख फलको भोगता हुआ यह जीव मूर्तिक होता है; क्योंकि मूर्तिक कर्मका फल मूर्तिक होता है और वह अमूर्तिक-द्वारा नहीं भोगा जाता।'

**व्याख्या**—पुण्य तथा पाप दोनों द्रव्यकर्म पौद्वगलिक-मूर्तिक हैं, उनके दिये हुए सुख-दुःख फलको, जो कि मूर्तिकजन्य होनेसे मूर्तिक होता है, अमूर्तिक आत्मा कैसे भोगता है? यह एक प्रदन है, जिसका उत्तर इतना ही है कि पुण्य-पाप फलको भोगता हुआ जीव मूर्तिक होता है। कर्म-फलको भोगनेवाले सब जीव संसारी होते हैं और संसारी जीव अनादि कर्म-सम्बन्धके कारण मूर्तिक कहे जाते हैं।

पुण्य-पापके वश अमूर्त भी मूर्त हो जाता है

**मूर्तोऽभवत्यमूर्तेऽपि पुण्यपापवशीकृतः ।  
यदा विमुच्यते ताम्यामभूतेऽस्ति तदा पुनः ॥३५॥**

'पुण्य-पापके वशीभूत हुआ अमूर्तिक जीव भी मूर्तिक हो जाता है। और जब उन पुण्य-पाप दोनोंसे छूट जाता है तब अमूर्तिक रह जाता है।'

**व्याख्या**—पिछले पदमें अमूर्तिक जीवके मूर्तिक होनेकी जो बात कही गयी है, उसीको इस पदमें स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मूर्तिक पुण्य-पापके वशमें—बन्धनमें—पड़ा हुआ जीव बस्तुतः अमूर्तिक होते हुए भी मूर्तिक होता है, और जब उन दोनोंके बन्धनसे छूट जाता है तब स्वरूपमें स्थित हुआ स्वर्य अमूर्तिक हो जाता है। इससे जीविका संसारावस्थारूप जितना भी विभाव परिणमन है वह सब उसे मूर्तिक बनाता है।

तदाहरण-द्वारा स्पष्टीकरण

**विकारं नीयमनोऽपि कर्मभिः सदिकारिभिः ।  
मेधैरिव नभो याति स्वस्वभावं तदत्यये ॥३६॥**

'विकारी कर्मोंके द्वारा विकारको प्राप्त हुआ भी यह जीव उस विकारके नाश होनेपर उसी

प्रकार अपने स्वभावको प्राप्त होता है जिस प्रकार कि मेघोंसे विकारको प्राप्त हुआ आकाश उनके विषटित हो जानेपर अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त होता है।

**व्याख्या**—यहाँ पिछली बातको उदाहरण-द्वारा और स्पष्ट किया गया है—लिखा है कि जिस प्रकार मेघोंसे आकाश विकारको प्राप्त हो जाता है और मेघोंके विषट जानेपर फिर अपने स्वभावको प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार यह जीव भी विकारीकर्म जो पुण्य-पाप हैं उनके कारण विकारको—विभावको—प्राप्त होता हुआ भी—अमूर्तिकसे मूर्तिक बनाता हुआ भी उन कर्मोंके दूर हो जानेपर अपने स्वभावमें स्थित हो जाता है।

#### पुण्य-बन्धके कारण

**अर्हदादौं परा भक्तिः कारुण्यं सर्वजन्तुषु ।  
पादने चरणे रागः पुण्यबन्धनिवन्धनम् ॥३७॥**

‘अर्हमूर्तादिकमें उत्कृष्ट भक्ति, सर्वप्राणियोंमें करुणा भाव और पवित्र चारित्रके अनुष्ठानमें राग ( यह सब ) पुण्य बन्धका पादादौं है।’

**व्याख्या**—यहाँ सारलूपमें पुण्य-बन्धके कारणोंका निर्देश करते हुए उन्हें सुख्यतः तीन प्रकारका बतलाया है। पहला अर्हमूर्तादिकी ऊँची भक्ति, दूसरा सब प्राणियोंके प्रति करुणा-भाव ( द्या परिणाम अथवा हिंसाभावका अभाव ) और तीसरा पवित्र चारित्रके पालनमें अनुराग। अर्हन्तके अनन्तर प्रश्नुक 'आवि' शब्द प्रधानतः सिद्धोंका और गौणतः उन आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठियोंका बाचक है जो भावलिंगी हों—द्रुग्यलिंगी अथवा भवाभिनन्दी न हों—और अपने-अपने पदके सब गुणोंमें व्यथार्थतः परिपूर्ण हों। भक्तिका 'परा' विशेषण ऊँचे अथवा उत्कृष्ट अर्थका बाचक है और इस बातका सूचक है कि यहाँ ऊँचे दर्जेके पुण्य-बन्धके कारणोंका निर्देश है और इसीलिए दूसरे दो कारणोंको भी ऊँचे दर्जेके ही समझना चाहिए। अन्यथा पुण्यबन्ध तो शुभ परिणामोंसे होता है, चाहे वे ऊँचे दर्जेके हों या उससे कम दर्जेके। ऊँचे दर्जेके शुभ परिणामोंसे ऊँचे दर्जेका और सध्यम तथा जघन्य दर्जेके शुभ परिणामोंसे सध्यम तथा जघन्य दर्जेका पुण्य बन्ध होता है। जिस पुण्यसे अर्हत्पद अथवा त्रैलोक्यका अधिपतित्व प्राप्त होता है वह 'सर्वातिशायि' अथवा 'सर्वोक्तुष्ट' पुण्य कहलाता है।<sup>१</sup>

जिस पुण्य-बन्धकारक पवित्र चारित्रका यहाँ उल्लेख है वह 'केवलि जिन-प्रकाश धर्म' है जिसे 'चत्तारि मंगलं' पाठ्यमें मंगल, लोकोत्तम तथा शरणभूत बतलाया है। उसका लक्षण है 'अगुभसे निवृत्ति, शुभमें प्रवृत्ति' और वह पंचब्रत, पंचसमिति तथा तीन गुणि रूप त्रयोदश प्रकारका है जैसा कि निम्न सिद्धान्त गाथासे प्रकट है :—

असुहादो विनिवित्ति सुहे पवित्री य जाण चारितं ।  
बद-समिदि-गुतिरूपं बबहारणया शु जिणभणिये ॥

यह व्यवहार नयकी दृष्टिको लिये हुए सराग चारित्र हैं, निश्चय नयकी दृष्टिसे जो स्वरूपाचरण रूप चारित्र होता है वह बन्धका कारण नहीं है।

१. मु अर्हदादौ। २. पुण्यफला अरहता (प्रवचनसार), 'सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्व-कृत्' ( त्रैलोक्यातिक )।

## पाप-बन्धके कारण

निन्दकत्वं प्रतीच्ये(द्वे)पु<sup>१</sup> नैर्दृष्ट्यं सर्वजन्तुपु ।  
निन्दिते चरणे रागः पाप-बन्ध-विधायकः ॥३८॥

‘पूज्योंमें निन्दाका भाव, सर्वप्राणियोंके प्रति निर्दयता और दूषित चारित्रके अनुष्ठानमें रहग  
(यह सब) पाप-बन्धका विधाता है’ ।

**व्याख्या**—यहाँ साररूपमें पाप-बन्धके कारणोंका उल्लेख करते हुए उन्हें भी तीन प्रकारका बतलाया है—एक इष्टो-पूज्योंके प्रति निन्दाका भाव, दूसरा सब प्राणियोंपर निर्दयता—हिंसाका भाव और तीसरा निन्दित चारित्रमें अनुराग । निन्दित चारित्रका अभिशाय प्रायः उस चारित्रसे है, जो हिंसा, शूठ, चोरी, मैथुन और पर-पदार्थोंमें गाढ़ ममधके रूपमें जाना-पहचाना जाता है ।

## पुण्य-पापमें भेद-दृष्टि

गुखासुख-विधानेन<sup>१</sup> विशेषः पुण्य-पापयोः ।  
नित्य-सौख्यमपश्यद्विर्मन्यते सुधुद्विभिः ॥३९॥

‘जिन्हें शाश्वत पुखका दर्शन नहीं होता उन शूद्र-बुद्धियोंके हाथ पुण्य-पापमें भेद सुख-दुःखके विधानरूपसे माना जाता है—सासारिक सुखके विधायको ‘पुण्य’ और दुःखके विधायको ‘पाप’ कहा जाता है’ ।

**व्याख्या**—पुण्य और पापके भेदको स्पष्ट करते हुए यहाँ बतलाया गया है कि जो पुण्य-को सुख-विधायक और पापको दुःख-विधायक मानकर दोनोंमें भेद करते हैं वे स्वात्मोत्थित स्वाधीन शाश्वत सुखको न जाननेन देखनेवाले मूढ़बुद्धि हैं ।—असली सुखको न समझकर उन्होंने नफली सुखको जो वस्तुतः दुर्खरूप ही है, सुख मान लिया है ।

## पुण्य-पापमें अभेद-दृष्टि

पश्यन्तो जन्मकान्तारे प्रवेशं पुण्य-पापतः ।  
विशेषं प्रतिपद्यन्ते न तयोः शुद्धपुद्धयः ॥४०॥

‘पुण्य-पापके कारण संसार-बनमें प्रवेश होता है, पह देखते हुए जो शुद्ध-बुद्धि हैं वे पुण्य-पापमें भेद नहीं करते हैं—दोनोंको संसार-बनमें भ्रमानेकी दृष्टिसे समान समझते हैं’ ।

**व्याख्या**—जो शुद्ध-बुद्धि-सम्यगदृष्टि हैं वे यह देखकर कि पुण्य और पाप दोनों ही जीवको संसार-बनमें प्रवेश कराकर—उसे इवर-उधर भटकाकर—दुःखित करनेवाले हैं, दोनोंमें कोई वास्तविक भेद नहीं मानते—दोनोंको ही सोने-लोहेकी बैड़ीके समान पराधीन कारक बन्धन समझते हैं । भले ही पुण्यसे कुछ सासारिक सुख मिले; परन्तु उस सुखके परावानता-मय स्वरूप और उसकी क्षणभर्गुतादिको देखते हुए उसे वास्तविक सुख नहीं कहा जा सकता ।

१. आ टिप्पणीमें ‘पूर्वेषु’ । २. सु सुखदुःखविधानेन ।

निर्वृतिका पात्र योगी

विषय-सुखतो व्यापृत्ये स्व-स्वरूपमवस्थितस्-  
त्यजति धिषणां धर्मधर्म-प्रवृत्त्य-निष्ठन्तीम् ।  
जनन-गहने दुःखव्याघ्रे प्रवेशपटीयसीं  
कलिल-विकलं लब्ध्वात्मानं स गच्छति निर्वृतिम् ॥४१॥

इति श्रीमद्भिष्णुति-निःसंग-योगिराजविरचिते योगसारप्राप्तृते बन्धाधिकारः ॥४॥

‘जो (योगी) विषय-सुखसे निवृत्त होकर अपने आत्मस्वरूपमें अवस्थित होता है और धर्म-धर्मरूप पुण्य-पापके बन्धकी कारणीभूत उस बुद्धिका त्याग करता है जो दुःख-व्याघ्रसे व्याप्त गहन संसार-बनमें प्रवेश करानेवाली है, वह कर्मरहित (विचिक) आत्माको पाकर मुक्तिको प्राप्त होता है।’

**ध्यात्वा**—यह बन्धाधिकारका उपसंहार-पद्म है। इसमें उस बुद्धिका जिसका अधिकारमें कुछ विस्तारसे निर्देश है संक्षेपतः उल्लेख है और उसे पुण्य-पापका बन्ध करानेवाली तथा दुःखरूप व्याघ्र-समूहसे व्याप्त संसार गहन-बनमें प्रवेश करानेवाली लिखा है। इस बुद्धिको वही योगी त्यागनेमें समर्थ होता है जो इन्द्रिय-विषयोंके सुखको बास्तविक सुख न मानता हुआ उससे विरक्त पश्च निश्चुत होकर अपने आत्म-स्वरूपमें स्थित होता है और जो आत्म-स्वरूपमें स्थित होता है वही कर्मकलंकसे रहित शुद्धात्मत्वको प्राप्त होकर मुक्तिको प्राप्त होता है—बन्धनसे सर्वथा छूट जाता है।

इस पद्ममें प्रयुक्त हुआ ‘धर्म’ शब्द पुण्यका ‘अधर्म’ शब्द पापका और ‘कलिल’ शब्द कर्ममलका वाचक है।

इन प्रकार श्री अभितगति-निःसंगयोगिराज-विरचित योगसारप्राप्तृतमें बन्धाधिकार नामका चौथा अधिकार समाप्त हुआ ॥४॥

## संवराधिकार

संवरका लक्षण और उसके दो भेद

कल्पयागमनद्वार-निरोधः संवरो मतः ।  
भाव-द्रव्यविभेदेन द्विविधः कुतसंवरैः ॥ १ ॥

‘जो कर्मका संवर कर चुके हैं उनके द्वारा कल्पयोंके—कषायादि कर्ममलोंके—आगमन-द्वारोंका निरोध ( रोकना ) ‘संवर’ भावा गया है और वह भाव-द्रव्यके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है—एक भावसंवर, दूसरा द्रव्यसंवर ।’

**व्याख्या**—संवराधिकारका प्रारम्भ करते हुए यहाँ सबसे पहले संवर तत्त्वका लक्षण दिया है और फिर उसके द्रव्यसंवर तथा भावसंवर ऐसे दो भेद किये गये हैं। ‘कल्पयोंके आगमन-द्वारोंका निरोध’ यह संवरका लक्षण है। इसमें ‘कल्पय’ शब्द कपायादि सारे कर्म-मलोंका बाचक है और ‘आगमनद्वार’ शब्द आत्मामें कर्म-मलोंके प्रवेशके लिए हेतुभूत जो मन-चक्रन-कायका व्यापार रूप आस्र है उसका शोतक है। इसीसे, मोक्ष-शास्त्रमें सूत्र रूपसे ‘आत्मविनिरोधः संवरः’ इतना हीं संवरका लक्षण दिया है।

भाव स्था द्रव्य-संवरका स्वरूप

रोधस्तत्र कषायाणा कथ्यते भावसंवरः ।  
दुरितास्वविच्छेदस्तद्रोधे द्रव्यसंवरः ॥ २ ॥

‘संवरकी उक्त भेद-कल्पयमामें कषायोंका निरोध ‘भावसंवर’ कहलाता है और कषायोंके निरोधपर जो ज्ञानादरणादि द्रव्य-कर्मोंके आत्मव ( आगमन ) का विच्छेद होता है वह ‘द्रव्य-संवर’ कहा जाता है।’

**व्याख्या**—पिछले पदमें संवरके जिन दो भेदोंका नामोलेख किया गया है इस पदमें उनका स्वरूप दिया गया है। क्रोधादिरूप कषायोंके निरोधको ‘भावसंवर’ बतलाया है और कषायोंका निरोध ( भावसंवर ) होनेपर जो पौदूगलिक कर्मोंका आत्म-प्रवेश रूप आस्र होता है उसे ‘द्रव्यसंवर’ घोषित किया है।

कषाय और द्रव्यकर्म दोनोंके आभावसे पूर्ण शुद्धि  
कषायेभ्यो यतः कर्म कषायाः सन्ति कर्मतः ।  
ततो द्वियविच्छेदे शुद्धिः संपृष्ठते परा ॥ ३ ॥

‘जूँकि कषायोंसे कर्म और कर्मसे कषाय होते हैं अतः दोनोंका विनाश होनेपर (आत्मामें) परम शुद्धि सम्पन्न होती है।’

**व्याख्या**—यहाँ आत्मामें परा शुद्धिके विधानकी व्यवस्था करते हुए उसके विरोधी दो कारणोंको नष्ट करनेकी बात कही गयी है—एक कषाय भायोंकी और दूसरी द्रव्य कर्मोंकी; क्योंकि एकके निमित्तसे दूसरेका उत्पाद होता है। जब दोनों ही नहीं रहेंगे तभी आत्मा-में पूर्ण शुद्धि बन सकेगी।

कषाय-स्वात्मकी उपयोगिताका सहेतुक निर्देश

कषायाङुलितो जीवः परद्रव्ये प्रवर्तते ।  
परद्रव्यप्रशुद्धस्य स्वात्मयोऽः प्रहीयते ॥ ४ ॥  
प्रहीण-स्वात्म-बोधस्य मिथ्यात्वं वर्धते यतः ।  
कारणं कर्मवन्धस्य कषायस्तक्षयते ततः ॥ ५ ॥

‘कषायसे आकुलित हुआ जीव परद्रव्यमें प्रवृत्त होता है, जो पर-द्रव्यमें प्रवृत्त होता है उसका स्वरूपज्ञान क्षीण होता है, जिसका स्वात्मज्ञान क्षीण होता है उसके चूंकि मिथ्यात्व बढ़ जाता है, जो कि कर्मवन्धका कारण है, इसीसे कषायको त्याग जाता है।’

**व्याख्या**—इन दोनों पद्योंमें कषायोंके त्यागकी उपयोगिताका सहेतुक निर्देश किया है—बतलाया है, कि कषायें जीवको आकुलित-बेचैन और पोतान करती हैं, कषायोंसे आकुलित हुआ जीव परद्रव्योंमें प्रवृत्त होता है, जो जीव परद्रव्योंमें विशेषरूपसे रत रहता है उसका आत्मज्ञान क्षीण हो जाता है, और जिसका स्वात्मज्ञान क्षीण हो जाता है उसका मिथ्यात्व-रूप हृषि-विकार बढ़ जाता है, जो कि कर्मवन्धनका प्रधान कारण है अतः कषाय-भाव अनेक हृषियोंसे त्याग किये जानेके योग्य है।

कषाय-धरणमें समर्थ योगी

निष्कषायो निररम्भः स्वान्य-द्रव्य-विवेचकः ।  
धर्माधर्म-निराकाङ्क्षो लोकाचार-निरुत्सुकः ॥६॥  
विशुद्धदर्शनज्ञानचारित्रप्रमुजज्ञलम् ।  
यो ध्याथत्यात्मनात्मानं कषायं दृपयत्यसौ ॥७॥

‘जो ( योगी ) कषायहोन है, आरम्भ रहित है, स्व-परद्रव्यके विवेकको लिये हुए है, पुण्य-पापरूप धर्म-अधर्मकी आकौशा नहीं रखता, लोकाचारके विषयमें निरुत्सुक है और विशुद्ध दर्शन-ज्ञानचारित्रप्रमुजलम् है वह कषायको क्षपाता—विनष्ट करता है।’

**व्याख्या**—कौन योगी कषायका अपण करनेमें समर्थ होता है? यह एक प्रश्न है जिसके समाधानार्थी ही इन दोनों पद्योंका अवतार हुआ जान पड़ता है। जो कषायके उदय आनेपर कषायरूप परिणत नहीं होता अथवा बहुत मन्दकषायी है, सब प्रकारके आरम्भों-सावधकर्मोंसे रहित है, स्व-पर-विवेकसे युक्त है, जिसे पुण्य-पाप दोनोंमेंसे किसीकी भी इच्छा नहीं, ऐसा योगी जब निर्मल ज्ञान-दर्शनरूप उज्ज्वल आत्माका आत्माके द्वारा ध्यान करता है तो वह कषायको क्षपणा करने अथवा उसे मूलसे विनष्ट करनेमें समर्थ होता है। फलतः जो योगी इन गुणोंसे रहित है अथवा इस योग्याचारके विपरीत आचरण करता है वह कषायकी क्षपणामें समर्थ नहीं हो सकता और इसलिए उसके संबर नहीं बनता—वह निरन्तर कर्म-

स्वर्णके भीतर छूबा रहता है और इसलिए प्रन्थकारके शब्दोंमें उसका उच्चार-उद्धार होनेमें नहीं आता ।

यहाँ छठे पद्ममें प्रयुक्त धर्म-अधर्म शब्द पुण्य-पापके बाचक हैं और 'लोकाचार' शब्द लौकिकजनोंचित् ( योगीजनोंके अयोग्य ) प्रवृत्तियोंका द्योतक है ।

मूर्त-पुद्गलोंमें राग-द्वेष करनेवाले मूढ़बुद्धि

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-युक्तैः शुभाशुभैः ।  
चेतनाचेतनैमूर्तिरमूर्तिः<sup>३</sup> पुद्गलैरयम् ॥८॥  
शक्यो नेतुं सुखं दुःखं सम्बन्धाभावतः कथम् ।  
रागद्वेषौ यतस्तत्र क्रियेते मूढमानसैः ॥९॥

'शुभ तथा अशुभ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्दसे युक्त, सचेतन या अचेतन मूर्तिक पुद्गलोंके द्वारा यह अमूर्तिक आत्मा कैसे सुख-दुःखको प्राप्त किया जा सकता है ? क्योंकि मूर्तिक-अमूर्तिकमें परस्पर सम्बन्धका अभाव है । अतः वे मूढ़बुद्धि हैं जिनके द्वारा पुद्गलोंमें राग-द्वेष किये जाते हैं ।'

**व्याख्या**—यहाँ ९वें पद्ममें जिस सम्बन्धके अभावका उल्लेख है वह तादात्म्य सम्बन्ध है, जिसे एकका दूसरेसे मिलकर तद्रूप हो जाना कहते हैं । अमूर्तिक आत्माके साथ मूर्तिक पुगदूलोंका यह सम्बन्ध कभी नहीं बनता । ऐसी स्थितिमें जो पुद्गंगल अच्छे या बुरे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श तथा शब्दको लिये हुए हों, जीवसहित हों या जीवरहित हों वे अमूर्तिक आत्माको सुख या दुःख कैसे पहुँचा सकते हैं ? नहीं पहुँचा सकते । अतः उन पुद्गलोंमें जो राग-द्वेष करते हैं उन्हें बुद्धिमान् कैसे कहा जा सकता है ? वे तो उपिविकारक कारण बस्तुतत्त्वको ठीक न समझनेवाले भूढ़बुद्धि हैं ।

किसीमें रोष-तोष न करनेकी सहेतुक प्रेरणा

निग्रहानुग्रहौ कर्तुं कोऽपि शक्तोऽस्ति नात्मनः ।  
रोष-तोषौ न कुत्रापि कर्तव्याविति तात्त्विकैः ॥१०॥

'आत्माका निष्ठ है तथा अनुग्रह करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है अतः तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा कहीं भी—किसी भी परपदार्थमें—रोष या तोष नहीं किया जाना चाहिए ।'

**व्याख्या**—बास्तवमें यदि देखा जाये तो कोई भी पुद्गंगल अथवा परद्रव्य ( सम्बन्ध-भावके कारण ) आत्माका उपकार या अपकार करनेमें समर्थ नहीं है, इसलिए जो तत्त्वज्ञानी हैं वे उपकार या अपकारके होनेपर किसी भी परद्रव्यमें राग-द्वेष नहीं करते अथवा उन्हें नहीं करना चाहिए । राग-द्वेषके न करनेसे उनके आत्मामें कर्मोंका आना रुकेगा; संवर बनेगा और इस तरह आत्माकी शुद्धि सधेगी ।

१. क्रमस्थिति-निमित्तात्म्य सौत्तारो अयत्ते ततः ॥१२-१३॥

२. मूर्ति ।

उपकार-अपकार बननेपर किसमें राग-द्वेष किया जाये

परस्याचेतनं गात्रं दृश्यते न तु चेतनः ।  
उपकारेऽपकारे च रज्यते च विरज्यते ॥११॥

'दूसरेका अचेतन शरीर तो दिखाई देता है किन्तु चेतन आत्मा दिखाई नहीं पड़ता (अतः) उपकार-अपकारके होनेपर किसमें राग किया जाता है तथा किसमें द्वेष ?'

व्याख्या—परका चेतन आत्मा जो दिखाई नहीं देता वह तो राग-द्वेषका पात्र नहीं, और जो शरीर दिखाई देता है वह (तुम्हारे) राग-विरागको कुछ समझता नहीं, अतः उपकार-अपकारके बननेपर किसीमें राग-द्वेष करना व्यर्थ है।

शरीरका निग्रहानुग्रह करनेवालोंमें राग-द्वेष कैसा ?

शत्रवः पितरौ दाराः स्वजना आतरोऽङ्गजाः ।  
निगृह्णन्त्यनुगृह्णन्ति शरीरं, चेतनं न मे ॥१२॥  
मत्तथ तथ्यतो भिर्ज चेतनावद्येतनम् ।  
द्वेषरागौ ततः कर्तुं युक्तौ तेषु कथं यम् ॥१३॥

'शत्रु, माता-पिता, स्त्रियो, भाइ, पुत्र और स्वजन (ये सब) मेरे शरीरके प्रति निग्रह-अनुग्रह करते हैं, मेरे चेतनात्माके प्रति नहीं। मुझ चेतन आत्मासे यह अचेतन शरीर भिन्न है। अतः उन शत्रुओंमें द्वेष और स्वजनाविकामें राग करना मेरा कैसे उचित हो सकता है जो मेरे आत्माका कोई निग्रह तथा अनुग्रह नहीं करते !'

व्याख्या—यहाँ सुबुद्ध आत्मा राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए यह भावना करता है कि जितने भी शत्रु, मित्र तथा सगे सम्बन्धी हैं वे सब जो कुछ भी निग्रह-अनुग्रह अथवा उपकार-अपकार करते हैं वे शरीरका करते हैं—मेरे चेतनात्माका नहीं; और शरीर, जो कि अचेतन है वह मुझ चेतनात्मासे वस्तुतः भिन्न है, ऐसी स्थितिमें उन शत्रुओंके प्रति द्वेष और उन मित्रों तथा सगे सम्बन्धियोंके प्रति राग करना मेरा कैसे उचित हो सकता है ? नहीं हो सकता।

अदृश्य आत्माओंका निग्रहानुग्रह कैसे ?

पश्याम्यचेतनं गात्रं यतो न पुनरात्मनः ।  
निग्रहानुग्रहौ तेषां ततोऽहं विदधे कथम् ॥१४॥

'चूँकि मैं उन शत्रु-पितरादिके अचेतन शरीर-समूहको वेष्टता हूँ उनकी आत्माओंको नहीं देख पाता, इसलिए उनका निग्रह-अनुग्रह मैं कैसे करूँ ?—उनके शरीरके निग्रह-अनुग्रहसे तो उनका निग्रह-अनुग्रह नहीं बनता।'

व्याख्या—यहाँ भी सुबुद्ध आत्माकी राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए वही भावना चालू है। यहाँ वह अपने विषयमें सोचता है कि मैं तो शत्रु-मित्रादिके अचेतन शरीरको ही देख पाता हूँ उनके आत्माका मुझे कभी दर्शन नहीं होता, तब मैं उनका निग्रह-अनुग्रह अथवा उपकार-अपकार कैसे कर सकता हूँ ? नहीं कर सकता। अतः उनके निग्रह-अनुग्रहका विचार मेरा कोरा अहंकार है।

शरीरको आत्माका निप्रहानुग्रहक मानना व्यर्थ  
 स्वदेहोऽपि न मे यस्य निग्रहानुग्रहे चमः ।  
 निग्रहानुग्रही तस्य कुर्वन्त्यन्ये बृथामतिः ॥१५॥

'मेरा स्वशरीर भी जिसके ( देहे आत्माके ) निप्रहानुग्रहके लाभ नहीं हैं तबका निप्रह-अनुग्रह दूसरे करते हैं ऐसा मानना मेरा व्यर्थ है।'

व्याख्या—यहाँ योगी सोचता है कि जब मेरा शरीर भी मेरा निप्रह-अनुग्रह करनेमें समर्थ नहीं है तब मेरा निप्रह-अनुग्रह कोई दूसरा करता है ऐसा मानना व्यर्थ है।

किसीके गुणोंको करने-हरनेमें कोई समर्थ नहीं  
 शक्यन्ते न गुणः करुं हर्तुमन्येन मे यतः ।  
 करुं हर्तुं परस्यापि नो पार्यन्ते गुणा मया ॥१६॥  
 मयान्यस्य ममान्येन क्रियतेऽक्रियते गुणः ।  
 मिथ्यैषा कल्पना सर्वी क्रियते मोहिभिस्ततः ॥१७॥

'कू' कि परके द्वारा मेरे गुण किये या हरे नहीं जा सकते और न मेरे द्वारा परके गुण किये या हरे जा सकते हैं अतः परके द्वारा भीर भीरे द्वारा परका कोई गुण-उपकार किया जाता है या नहीं किया जाता यह सब कल्पना मिथ्या है, जो कि मोहसे अभिभूत प्राणियोंके द्वारा की जाती है।'

व्याख्या—यहाँ योगी लान्तिकी अथवा निश्चय दृष्टिसे सोचता है कि दूसरा कोई भी भी मेरे गुणोंको करने या हरनेमें समर्थ नहीं है और न मैं किसी दूसरेके गुणोंको करने या हरनेमें समर्थ हूँ; तब मैंने दूसरेका या दूसरेने मेरा कोई गुण किया है या नहीं किया है, यह सब विकल्प बुद्धि-मिथ्या है और इसे वे ही जीव करते हैं जो दर्शनमोहके उदयवश दृष्टिचिकार-को लिये हुए हैं अथवा यों कहिए सम्बन्धित न होकर मिथ्यादृष्टि हैं।

ज्ञानादिक गुणोंका किसीके द्वारा हरण-सृजन नहीं  
 ज्ञान-दृष्टि-चरित्राणि द्वियन्ते नाशगोचरैः ।  
 किधन्ते न च गुर्वाद्यैः सेव्यमानैरनारतम् ॥१८॥  
 उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति जीवस्य परिणामिनः ।  
 ततः स्वर्यं स दाता न, परतो न कदाचन ॥१९॥

'ज्ञान, दर्शन और चारित्र ( गुण ) इन्द्रिय-विषयोंके द्वारा हरे नहीं जाते और न निरन्तर सेवा किये गये गुरुओं वादिके द्वारा सृजन ( उत्पन्न ) किये जाते हैं; परिणामी जीवके ( पर्याय-दृष्टिसे ) ये स्वर्य उत्पन्न होते तथा विनाशको प्राप्त होते हैं, और इसलिए जीव स्वयं इनका दाता ( कर्ता-हर्ता ) नहीं और न परके कारण इनका कदाचित् उत्पाद-व्यय होता है।'

**व्याख्या**—पिछले पद्ममें आत्माके जिन गुणोंकी सूचना है उन्हें यहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र-के रूपमें उल्लेखित किया है, जिन्हें सम्यक् विशेषणसे विशिष्ट समझना चाहिए; तभी वे गुणोंकी कोटिमें आते हैं, अन्यथा मिथ्यादर्शनादिक गुण न होकर अवगुण अथवा धौष कहे जाते हैं। इन सम्बन्धदर्शनादि गुणोंको न तो इन्द्रियोंके स्पर्शनादि विषय हरते हैं—इन्द्रिय-विषयोंके सेवनसे उनका नाश नहीं हो जाता—और न निरन्तर सेवा किये गये गुरुजनादिक उन्हें उत्पन्न ही करते हैं। जो जीव परिणमनशील है उसके ये गुण पर्याय हृषिसे उत्पन्न होते तथा विनाशको प्राप्त होते हैं—द्रव्यहृषिसे नहीं। द्रव्यकी अपेक्षा कोई भी वस्तु न कभी उत्पन्न होती और न कभी नाशको ही प्राप्त होती है, उत्पाद और द्रव्य पर्यायोंमें—अवस्थाओंमें—हुआ करता है। ऐसी स्थितिमें जीव स्वयं भी इन गुणोंका कर्ता-हर्ता नहीं और न कभी परके कारण इन गुणोंका आत्मामें नवोत्पाद अथवा मूलतः त्रिनाश ही होता है।

करीरादिक व्यवहारसे मोह है निश्चयसे नहीं

शरीरमिन्द्रियं द्रव्यं विषयो विभवो विभुः ।  
ममेति व्यवहारेण भव्यते न च तत्त्वतः ॥२०॥  
तत्त्वतो यदि जायन्ते तस्य ते न तदा भिदा ।  
दृश्यते, दृश्यते चासौ ततस्तस्य न ते मताः ॥२१॥

‘मेरा शरोर, मेरी इन्द्रियाँ, मेरा द्रव्य, मेरी दिष्य, मेरी विभूति, मेरा स्वामी यह सब व्यवहारसे—द्रव्यवहार नयकी अपेक्षासे—कहा जाता है, तत्त्वसे नहीं—निश्चय नयकी अपेक्षासे नहीं कहा जाता। यदि तत्त्व दृष्टिसे ये सब आत्माके होते हैं ऐसा माना जाये तो आत्मा और शरीरादिकमें भेद दिलाई नहीं देना चाहिए, किन्तु भेद प्रत्यक्ष दिलाई देता है इसलिए वे आत्माके नहीं माने गये।

**व्याख्या**—शरीर-इन्द्रियों, भजादिक द्रव्यों, इन्द्रिय विषयों, विभव और विभु (स्वामी) को व्यवहार नयकी दृष्टिसे मेरा कहनेमें आता है तात्त्विक दृष्टिसे नहीं। यदि तात्त्विक दृष्टिसे उन्हें आत्माके माना जाय तो फिर आत्मासे उनका भेद नहीं बनता, परन्तु भेद स्पष्ट नजर आता है इसलिए वे शरीरादिक आत्माके नहीं और न निश्चय दृष्टिसे उन्हें आत्माके माना गया है।

दोनों नक्षें स्व-परको जाननेका फल

विज्ञायेति तयोर्द्रव्यं परं स्वं मन्यते सदा ।  
आत्म-तत्त्व-रतो योगी विदधाति स संवरम् ॥२२॥

‘इस प्रकार व्यवहार तथा निश्चय नयकी दृष्टिसे आत्मा और शरीरादि दोनोंके भेदको जानकर जो योगी सबा स्वद्रव्यको स्वके रूपमें और परद्रव्यको परके रूपमें मानता है वह आत्म-तत्त्वमें लीन हुआ योगी सदा संवर करता है—कर्मके आत्मवको रोकता है।’

**व्याख्या**—यहाँ पिछले कथनका सार खोचते और उसे संवर तत्त्वके साथ संघटित करते हुए यह सूचना की है कि जो पूर्वोक्त प्रकारसे निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंके द्वारा

स्व-परके भेदको जानकर आहमतत्त्वमें लीन हुआ योगी सदा स्वद्रव्यको अपना और परद्रव्य-को पराया मानता है वह शुभाशुभ कर्मके आस्त्रबद्धको रोकनेवाला संवरका विधाता होता है।

इय-पर्यायकी अपेक्षा कर्म-फल भोगकी व्यवस्था

विद्वाति परो जीवः किञ्चित्कर्म शुभाशुभम् ।  
पर्यायापेक्षया सुड्के फलं तस्य उनः परः ॥२३॥  
य एव कुरुते कर्म किञ्चिज्जीवः शुभाशुभम् ।  
स एव भजते तस्य द्रव्यार्थापेक्षया फलम् ॥२४॥  
मनुष्यः कुरुते पुण्यं देवो वेदयते फलम् ।  
आत्मा वा कुरुते पुण्यमात्मा वेदयते फलम् ॥२५॥  
नित्यानित्यात्मके जीवे तत्सर्वशुपद्यते ।  
न किञ्चिद् घटते तत्र नित्येऽनित्ये च सर्वथा ॥२६॥

‘पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे एक जीव कुछ शुभ-अशुभ कर्म करता है और उसका फल दूसरा भोगता है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जो जीव कुछ शुभ-अशुभ कर्म करता है वही उसका फल भोगता है। जैसे मनुष्य पुण्य कर्म करता है देव उसका फल भोगता है अथवा आत्मा पुण्य-कर्म करता है आत्मा ही उसके फलको भोगता है। जीवको कर्मचित् नित्य-अनित्य माननेपर उक्त सब कथन ठीक घटित होता है, सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य माननेपर कुछ भी घटित नहीं होता।’

**व्याख्या—**—इन पर्यायमें ‘द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयकी हृषिसे किसीके किये हुए शुभ-अशुभ कर्मके फलका भोक्ता कौन?’ इस चिपको उष्टु करते हुए वतलाया है कि पर्याय-की अपेक्षासे तो एक जीव कर्म करता है और दूसरा जीव उसके फलको भोगता है, जैसे मनुष्य जीवने संयम-तप आदिके द्वारा पुण्योपार्जन किया और देव जीव अलग-अलग हैं। परन्तु द्रव्यार्थिक नयकी हृषिसे जो जीव शुभ या अशुभ कर्म करता है वही उसके फलको भोगता है, जाहे किसी भी पर्यायमें क्यों न हो, जिस जीवने मनुष्य पर्यायमें तप-संयमादिके द्वारा पुण्योपार्जन किया वही मरकर देवगात्रमें गया और वहीं उसने अपने उस पूर्वकृत पुण्यके फलको भोगा। जीवको द्रव्यहृषिसे नित्य और पर्याय हृषिसे अनित्य माननेपर यह सब कुछ ठीक घटित होता है, परन्तु जीवको सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य माननेपर यह सब कुछ भी घटित नहीं होता; क्योंकि सर्वथा नित्यमें परिणाम, विकिया, अवस्थासे अवस्थान्तर कुछ भी नहीं बनता। और सर्वथा अनित्यमें जब जीवका क्षण-भरमें मूलतः निरन्वय शिनाश हो जाता है तब वह अपने किये कर्मका फल कैसे भोग सकता है? उसके परलोक गमन तथा अन्य शरीर धारणादि ही नहीं बन सकते। और भी कितने ही दोष इस सर्वथा अनित्य ( क्षणिकैकान्त ) की मान्यतामें घटित होते हैं, जिनकी जानकारीके लिए हवामी समन्तभद्रके देवागम और उसकी अष्टशती, अष्टसहस्री आदि दीक्षाओंको देखना चाहिए।

आत्मा औदयिक भावोंके द्वारा कर्मका कर्ता तथा फलभोक्ता

चेतनः कुरुते सुहृत्के भावैरौदयिकैरयम् ।

न विधत्ते न चा भुदृत्के किंचित्कर्मं तदत्यये ॥२७॥

‘यह चेतन आत्मा औदयिक भावोंके द्वारा—कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर उत्पन्न होनेवाले परिणामोंके सहयोगसे—कर्म करता है और उसका फल भोगता है । औदयिकभावोंका अभाव होनेपर वह कोई कर्म नहीं करता और न फलको भोगता है ।’

**ध्यात्मा**—यह चेतन आत्मा किसके द्वारा अचेतन कर्मोंका कर्ता तथा भोक्ता है । यह एक प्रदृश है, जिसके समाधानार्थ ही इस पद्मका अवतार हुआ जान पड़ता है । पद्ममें बतलाया है कि जीव अपने औदयिकभावोंके द्वारा—उनके निमित्तसे ही कर्मोंका कर्ता तथा भोक्ता है । औदयिकभावोंका अभाव हो जानेपर यह जीव न कोई कर्म करता है और न किसी कर्मके फलको भोगता है । औदयिकभाव मोक्षशास्त्र आदिमें मूलतः २१<sup>१</sup> कहे गये हैं । जिनके नाम हैं :—१ नरकगति, २ तिर्यचगति, ३ मनुष्यगति, ४ देवगति, ५ क्रोधकषाय, ६ मानकषाय, ७ मायाकषाय, ८ लोभकषाय, ९ क्षीवेद, १० पुरुषवेद, ११ नपुंसकवेद, १२ मिथ्यादर्शन, १३ अज्ञान, १४ अमन्यम, १५ असिद्ध, १६ कृष्ण लेश्या, १७ नीललेश्या, १८ कपोत लेश्या, १९ पीतलेश्या, २० पश्चलेश्या, २१ शुच्छलेश्या । नरकगत्यादि रूप गति नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न नारकादि चार भाव औदयिक होते हैं; क्रोधादि जनक कषाय कर्मोंके उदयसे उत्पन्न क्रोधादिरूप चार भाव भी औदयिक होते हैं; क्षीलिंगादि कर्मोंके उदयसे उत्पन्न क्षीवेदादि तीन प्रकारके रागभाव भी औदयिक होते हैं । मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे उत्पन्न अतत्त्व-अद्वानरूप परिणाम मिथ्यादर्शन नामका औदयिक भाव है; ज्ञानावरण कर्मके उदयसे उत्पन्न तत्त्वोंके अनवशोधरूप अज्ञान नामका औदयिक भाव है, चारित्र मोहकर्मके सर्वघाति स्पर्धकर्मोंके उदयसे उत्पन्न अमन्यत नामका औदयिक भाव है; कर्मोदय सामान्यकी अपेक्षासे उत्पन्न असिद्ध नामका औदयिक भाव है, कषायोंके उदयसे अनुरंजित जो योग प्रवृत्तिरूप कृष्णादि छह प्रकारकी भाव लेश्यायें हैं वे भी औदयिक हैं । इस प्रकार औदयिक-भाव २१ प्रकारके हैं<sup>२</sup> ।

इन्द्रिय-विषय आत्माका कुछ नहीं करते

पञ्चाक्षविषयाः किंचिन् नास्य कुर्वन्त्यचेतनाः ।

मन्यते स विकल्पेन सुखदा दुःखदा मम ॥२८॥

‘पाँचों इन्द्रियोंके विषय, जो कि अचेतन हैं, इस आत्माका कुछ भी (उपकार या अपकार) नहीं करते । आत्मा विकल्प बुद्धिसे ( भ्रमबश ) उन्हें अपने सुखदाता तथा दुःखदाता मानता है ।

**ध्यात्मा**—स्पर्शन, रसन, ग्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं । इनके विषय क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द हैं । ये पाँचों विषय चेतना-रहित जड़ हैं, मूर्तिक हैं और चेतनामय अमूर्तिक आत्माका कुछ भी उपकार या अपकार नहीं करते हैं, किर भी यह आत्मा विकल्पसे—भ्रान्त बुद्धिसे—इन्हें अपनेको सुखका दाता तथा दुःखका दाता मानता है ।

१. गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शनाज्ञानासंबद्धमिद्दलेश्यादन्तु मूर्त्यकैकैकृष्णइमेवाः ।

—त० सूत २-६ ।

२. देखो, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थमूल आदिको ट्रैकार् ।

द्रव्यके गुण-पर्याय संकल्प-विना इष्टानिष्ट नहीं होते  
 न द्रव्यगुणपर्यायः संप्राप्ता बुद्धिगोचरम् ।  
 इष्टानिष्टाय जायन्ते संकल्पेन विना कुताः ॥२६॥

‘बुद्धिगोचर हुए द्रव्यके गुण-पर्याय विना संकल्पके किये आत्माके हष्ट या अनिष्ट रूप नहीं होते—संकल्प अथवा आन्त कल्पनाके द्वारा ही उन्हें हष्ट या अनिष्ट बनाया जाता है।’

**व्याख्या**—किसी भी परद्रव्यका कोई भी गुण या पर्याय अपने आत्माके लिए वस्तुतः हष्ट या अनिष्ट नहीं होता, निःसार कल्पनाके द्वारा उसे इष्ट या अनिष्ट मान लिया जाता है और द्रव्यके कारण वह जीव का उठाता है। अतः पर पदार्थमें इष्टानिष्टकी कल्पना नहीं हो सकती है।

निन्दा-स्तुति-वचनोंसे रोप-तोषको प्राप्त होना व्यर्थ  
 न निन्दा-स्तुति-वाक्यानि शूयमाणानि<sup>१</sup> कुर्वते ।  
 संवन्धाभावतः किञ्चिद् रूप्यते तुष्यते शूया ॥३०॥

‘सुने गये निन्दा या स्तुतिरूप वाक्य आत्माका कुछ नहीं करते; क्योंकि वाक्योंके सूतिक होनेसे असूतिक आत्माके साथ उनके सम्बन्धका अभाव है। अतः निन्दा-स्तुति वाक्योंको सुनकर शूया ही रोप-तोष किया जाता है।’

**व्याख्या**—निन्दा वा स्तुतिके जो भी वचन सुनाई पड़ते हैं वे सब पीद्वालिक तथा मृतिक होनेसे अपने आत्माके साथ उनका वस्तुतः सम्बन्ध नहीं हो पाता और इसलिए वे अपने आत्माका उपकार या अपकार नहीं करते तब उन्हें सुनकर रूप होना या सन्तुष्ट होना एक आन्मसाधना करनेत्रालि योगीके लिए व्यर्थ है।

मोहके दोषसे वास्तवस्तु सुख-दुःखकी वाता  
 आत्मनः सकलं वास्तु शर्मशर्मविधायकम् ।  
 क्रियते मोहदोपेणापरथा न कराचन ॥३१॥

‘मोहके दोषसे सम्पूर्ण वास्तु पदार्थ समूहको आत्माके सुख-दुःखका विधाता किया जाता है, अन्यथा—मोहके अभावमें—कराचित् भी हैसा नहीं किया जाता।’

**व्याख्या**—सम्पूर्ण वास्तु पदार्थोंको अपने आत्माके जो सुख-दुःख-दाता कल्पित किया जाता है वह सब मोहका दोष है—मोह कर्मके उद्देश्य जो उष्टि विकारादिक उत्पन्न होता है उसीके कारण ऐसी मिथ्या मान्यता अनती है—मोहके अभावमें ऐसा कभी नहीं होता।

वचन-द्वारा वस्तुतः कोई निनित या स्तुत नहीं होता  
 नाञ्जसा वचसा कोऽपि निन्दते स्तूयतेऽपि वा ।  
 निनिदितोऽहं स्तुतोऽहं त्रा मन्यते मोहयोगतः ॥३२॥

‘आत्माये व्यथनके द्वारा कोई भी आत्मा चिन्ता या स्तुतिको प्राप्त नहीं होता । मैं निन्दा किया गया हूँ या स्तुति किया गया हूँ यह ( आत्मा ) भोहके योगसे मानता है ।’

**आत्मा—**बस्तुतः वचनके द्वारा कोई निन्दित या स्तुत नहीं होता; क्योंकि मूर्तिक वचनका अमूर्तिक आत्माके साथ सम्बन्ध नहीं बनता । ऐसी स्थितिमें अमुकने मेरी निन्दा की, अमुकने मेरी प्रशंसा की, इस प्रकारकी मान्यता केवल मोहसे सम्बन्ध रखती है—मोही जीव उस निन्दा-स्तुतिका सम्बन्ध यों ही अपने साथ जोड़ लेता है और इस तरह व्यर्थ ही हर्ष-विषादके चक्रमें पड़कर व्याकुल ( परेशान ) होता है ।

पर-दोष-गुणोंके कारण हर्ष-विषाद नहीं बनता

नानन्दो वा विषादो वा परे संकान्त्यभावतः ।  
परदोष-गुणैर्नूनं कदाचिन् न विधीयते ॥३३॥

‘परदृष्टके दोष तथा गुणोंसे आत्माका कभी आनन्द तथा विषाद नहीं बनता; क्योंकि उन दोष तथा गुणोंके आत्मामें संक्रमणका अभाव है—परके वे दोष या गुण आत्मामें प्रविष्ट नहीं होते ।’

**आत्मा—**पर दृष्टोंके गुण तथा दोष अपने आत्मामें कभी संक्रमण नहीं करते, इसलिए उनके द्वारा बस्तुतः आत्माके आनन्द तथा विषादकी कोई सृष्टि नहीं बनती । अतः उनसे आत्माके आनन्द तथा विषादकी उत्पत्ति मानना व्यर्थ है और एकमात्र भोहका परिणाम है ।

परके चिन्तनसे इष्ट-अनिष्ट नहीं होता

अयं मेऽनिष्टमिष्टं वा इष्यायतीति शृथा मतिः ।  
यीङ्क्यते पालयते वापि न परः परचिन्तया ॥३४॥

‘यह मेरा अनिष्ट ( अहित ) अथवा इष्ट ( हित ) चिन्तन करता है, यह बुद्धि-विचार निरर्थक है; ( क्योंकि ) दूसरेकी चिन्तासे दूसरा पीड़ित या पालित ( रक्षित ) नहीं होता ।’

**आत्मा—**३३वें पदमें यह बतला आये हैं कि किसी भी परदृष्टका कोई भी गुण या पर्याय अपनी आत्माके लिए इष्ट या अनिष्ट रूप नहीं होता; ऐसी स्थितिमें जो यह सोचकर दुःखित होता है कि अमुक मेरा अहित चिन्तन कर रहा है और यह सोचकर आनन्दित होता है कि अमुक मेरे हितकी भावना भा रहा है तो ये दोनों ही विचार निरर्थक हैं; क्योंकि कोई भी परकी चिन्ता मात्रसे पीड़ा या रक्षाको प्राप्त नहीं होता ।

एक दूसरेके विकल्पसे बृद्धिहानि माननेवर आपत्ति

अन्योऽन्यस्य विकल्पेन वद्दते इष्यते यदि ।  
न सम्पत्तिविंपत्तिर्वा तदा कस्यापि हीयते ॥३५॥

‘यदि एक दूसरेके विकल्पसे—चिन्तनसे—बृद्धि या हानिको प्राप्त होता है तो किसीकी भी सम्पत्ति या विषत्ति ( कभी ) क्षीण नहीं होती ।’

व्याख्या—यदि पिछले पदमें चिह्नित सिद्धान्तके विरुद्ध यह माना जाय कि परकी चिन्तासे कोई पीड़ित या पालित अथवा वृद्धि-हानिको प्राप्त होता है तो संसारमें किसीकी भी सम्पत्ति तथा विषयि कभी कम नहीं होनी चाहिए; क्योंकि दोनोंकी वृद्धि-हानिके चिन्तक सञ्जन-दुर्जन वरावर पाये जाते हैं, इसीसे ऐसा देखनेमें नहीं आता। प्रत्युत इसके एकके अनिष्ट चिन्तन पर भी दूसरा वृद्धिको और किसीके इष्ट चिन्तन पर भी—रातदिन उसके हितकी माला जपने पर भी—वह हानिको प्राप्त हुआ देखनेमें आता है, अतः उस मान्यता प्रत्यक्षके भी विरुद्ध है।

वरतुतः कोई द्रव्य इष्ट-अनिष्ट नहीं

इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो भावोऽनिष्टस्तथा परः ।  
न द्रव्यं तत्त्वतः किञ्चिदिष्टानिष्ट हि विद्यते ॥३६॥

‘मोहके कारण जो पदार्थ इष्ट मान लिया जाता है वह अनिष्ट और जिसे अनिष्ट मान लिया जाता है वह इष्ट हो जाता है। वस्तुतः कोई द्रव्य इष्ट या अनिष्ट नहीं है।’

व्याख्या—कोई द्रव्य वस्तुतः इष्ट या अनिष्ट नहीं होता है, इस बातको स्पष्ट करते हुए यहाँ पर बतलाया है कि जिसे मोहके बश इष्ट मान लिया जाता है, वह पदार्थ कालान्तरमें अनिष्ट और जिसे अनिष्ट मान लिया जाता है वह पदार्थ इष्ट होता हुआ देखनेमें आता है। अतः पर द्रव्यको सर्वथा इष्ट या अनिष्ट मानना व्यर्थ है।

पावन रत्नत्रयमें जीवका स्वर्म प्रवर्तन  
रत्नत्रये स्वयं जीवः पावने परिवर्तते ।  
निर्मलं निर्मलः शङ्खः शुक्लत्वे केन वर्त्यते ॥३७॥

‘जीव स्वयं पवित्र रत्नत्रयके आराधनमें परिवर्तित ( प्रवृत्त ) होता है। ( ठीक है ) स्वभावसे निर्मल ज्ञान किसके हारा शुक्लतामें परिवर्तित किया जाता है?—किसीके भी हारा नहीं; स्वभावसे ही शुक्लतामें परिवर्तित होता है।’

व्याख्या—यहाँ जिस पावन रत्नत्रयमें जीवके स्वतः प्रवर्तनकी बात कही गयी है वह निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जीवका स्वभाव है। स्वभावमें प्रवर्तनके लिए किसी दूसरेकी आवश्यकता नहीं होती—विभाव मिटते ही स्वभावमें प्रवृत्ति हो जाती है। जिस मोहरूप परिणामका पिछले पदोंमें उल्लेख है वह सब जीवका विभाव-परिणाम है, जो संसारात्मस्थामें परके निमित्तसे होता है। पदमें प्रयुक्त हुआ ‘निर्मल’ शब्द शुक्लताका वाचक है, जो गंख स्वभावसे शुक्ल है उसे शुक्लतामें परिणत करनेवाला कोई दूसरा नहीं होता। कर्दममें पहा रहनेपर भी उसकी शुक्लता कभी नष्ट नहीं होती।

स्वयं आत्मा परद्रव्यको अद्वानादि गोप्तर करता है

स्वयमात्मा परं द्रव्यं अद्वत्ते वेत्ति पश्यति ।  
शङ्ख-चूर्णः किमाश्रित्य धवलीकुरुते परम् ॥३८॥

‘आत्मा स्वयं पर द्रव्यको वेत्तता, जागता और अद्वान करता है। ( ठीक है ) ज्ञानका चूर्ण किसका आधार लेकर दूसरेको धवल करता है? किसीका भी आधार न लेकर स्वयं दूसरेको धवल करता है।’

**व्याख्या**—यह आत्मा स्वयं स्वभावसे पर पदार्थको देखता, जानता तथा श्रद्धान् करता है—उसके इस देखने, जानने आदि में बस्तुतः दूसरेका कोई आश्रय अथवा सहारा नहीं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि शंखका चूर्ण दूसरेको धबल—शुक्ल अथवा निर्मल करनेमें किसी अन्यका सहारा नहीं लेता ।

मोह अप्नै संगसे जीवको मलिन करता है

मोहेन मलिनोऽजीवः कियते निजसंगतः ।

स्फटिको रक्त-पुष्पेण रक्ततां नीयते न किम् ॥३८॥

'जीव मोहक द्वारा अपनी संगतिसे मलिन किया जाता है । ( ठीक है ) रक्त पुष्पके योगसे क्या स्फटिक रक्तताको प्राप्त नहीं होता ?—होता ही है ।'

**व्याख्या**—यह जीवात्मा अपने निर्मल दर्शन-हान-चारित्र रूप स्वभावमें जो प्रवृत्त नहीं हो रहा है उसका कारण मोहका संग है । मोहने अपनी संगतिसे इस जीवको मलिन कर रखा है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि लाल फूल ( रक्त पुष्प ) अपने सम्बन्धसे निर्मल-धबल स्फटिकको लाल बना देता है ।

मोहका विलय हो जानेपर स्वरूपकी उपलब्धि

निजरूपं पुनर्यानि मोहस्य विगमे मति ।

उपाध्यभावतो याति स्फटिकः स्वस्वरूपताम् ॥४०॥

'मोहके विनष्ट होनेपर जीव पुनः अपने निर्मल रूपको प्राप्त होता है ( उसी प्रकार जिस प्रकार कि ) रक्तपुष्पादिरूप उपाधिका अभाव हो जानेसे स्फटिक अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होता है ।'

**व्याख्या**—पिछले पद्यमें जिस मोहके संग अथवा सम्बन्धसे जीवके मलिन होनेकी बात कही गयी है, उसी मोहका सम्बन्ध छूट जानेपर यह जीव फिरसे अपने स्वरूप की प्राप्ति होता है उसी प्रकार जिस प्रकार स्फटिक रक्तपुष्पादि रूप उपाधिका अभाव हो जानेपर पुनः अपने स्वन्द निर्विकार स्वरूपको प्राप्ति हो जाता है । पूर्व पद्य तथा इस पद्यमें स्फटिकका दृष्टान्त जीवके निर्विकार और सविकार रूपका अथवा स्वभाव और विभवका बोध कराने के लिए बड़ा ही सुन्दर एवं तथ्यपूर्ण है ।

जो मोहका त्यागी वह अन्य सब द्रव्योंका त्यागो

इत्थं विज्ञाय यो मोहं दुःखवीर्जं विमुच्चति ।

सोऽन्यद्रव्यपरित्यागी कुरुते कर्म-संवरम् ॥४१॥

'इस प्रकार मोहको दुःखका वीज आनकर जो ( योगी ) उसे छोड़ता है वह पर-द्रव्यका परित्यागी हुआ कर्मोंका संवर करता है—कर्मोंकि आश्रवको रोकता है ।'

**व्याख्या**—यहाँ पूर्व कथनका उपसंहार करते हुए, मोहको दुःखका वीज बतलाया है और यह निर्दिष्ट किया है कि जो मोहको दुःख-वीज समझकर छोड़ता है वह परद्रव्योंसे अपना सम्बन्ध त्यागता है; क्योंकि वास्तवमें मोह ही परद्रव्योंके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है । जो परद्रव्योंका सम्बन्ध त्यागता है वह कर्मोंका संवर करता है—अच्छें-बुरे

किसी भी प्रकारकं कर्मोंको अपने आत्मामें प्रवेश होने नहीं देता। निःसन्देह मोह दुःखका बीज है, इसीसे मोहनीय कर्मका श्वय हो जानेपर, असाता-वेवनीय कर्म अस्तित्वमें रहते हुए भी दुःख पहुँचानेमें समर्थ नहीं होता—उसे जलकर भस्म हुई रसीके समान अपना कार्य करनेमें असमर्थ बतलाया है।

परद्रव्यमें राग-द्वेष-विधाताकी तपसे शुद्धि नहीं होती  
शुभाशुभ-पर-द्रव्य-रागद्वेष-विधायिनः ।  
न जातु जायते शुद्धिः कुर्वतोऽपि चिरं तपः ॥४२॥

'शुभ-अशुभरूप परद्रव्यमें—परद्रव्यको शुभ-अशुभ मानकर उसमें—राग-द्वेष करनेवाले के चिरकाल तक तपश्चरण करने पर भी कभी शुद्धि नहीं होती।'

**ध्यात्या—**पिछले पदमें जिस मोह तथा परद्रव्यके त्यागनेकी बात कही गयी है उसे जो नहीं छोड़ता है और अपनी कल्पनानुसार शुभ परद्रव्यमें राग और अशुभ परद्रव्यमें द्वेष करता है उसकी शुद्धि चिरकाल तक तप करनेपर भी नहीं होती। वह तो अपनी राग-द्वेष-परिणतिके द्वारा प्रतिसमर्थ अपने आत्मामें अशुद्धिका संचय करता रहता है।

कर्म करता और फल भोगता हुआ आत्मा कर्म बाधता है  
कुर्वाणः कर्म चात्मायं शुद्धानानः कर्मणां फलम् ।  
अष्टधा कर्म वध्नाति कारणं दुःखसन्ततेः ॥४३॥

'यह आत्मा कर्म करता हुआ और कर्मोंके फलको भोगता हुआ आठ प्रकारका कर्म बाधता है, जो कि दुःख सन्ततिका—कष्ट परम्पराका—कारण है।'

**ध्यात्या—**यह आत्मा अपनी उक्त राग-द्वेषपरिणतिके कारण किसीको इष्ट-अनिष्ट मानकर कर्म करता हुआ और कर्मका फल भोगता हुआ दोनों ही अवस्थाओंमें नवीन कर्मका बन्ध करता है, जो ज्ञानावरणादि रूप आठ प्रकारका है, और सारी दुःख-परम्पराका मूल कारण है।

सारे कर्मफलको पौद्गलिक जानेवाला शुद्धात्या बनता है

सर्वं पौद्गलिकं वेत्ति कर्मपार्कं सदापि यः ।  
सर्व-कर्म-वहिभूतमात्मानं स प्रपद्यते ॥४४॥

'जो सारे कर्मविपाकको—कर्मके फलको—सदा पौद्गलिक जानता है वह ( योगी ) संपूर्ण कर्मोंसे वहिभूत आत्माको प्राप्त होता है—उसे अपने शुद्ध ( विविक्त ) आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है।'

**ध्यात्या—**जो योगी आत्माके साथ घटित होनेवाले सारे कर्मफलको पौद्गलिक और इसलिए आत्मासे वस्तुतः असम्बद्ध समझता है, वह अपने आत्माको सर्वकर्मोंसे वहिभूत रूपमें प्राप्त होता है—उसे ही सच्ची स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धिकी प्राप्ति होती है।

शुद्ध ज्ञान परके त्याग-प्रहृणमें प्रवृत्त नहीं होता

**ज्ञानवांशचेतनः शुद्धो न गृहणाति न मुञ्चति ।**

**गृहणाति मुञ्चते' कर्म मिथ्याज्ञान-मलीमसः ॥४५॥**

‘जो आत्मा शुद्ध ज्ञानसे युक्त है, वह वस्तुतः किसी भी पर पदार्थका प्रहृण-त्याग नहीं करता, जो प्रहृण-त्याग करता है, वह मिथ्याज्ञानसे युक्त मलिन आत्मा होता है। मलिन है वह कर्मको प्रहृण करता है तथा छोड़ता है।’

**व्याख्या—**जो आत्मा शुद्ध ज्ञानसे युक्त है, वह वस्तुतः किसी भी पर पदार्थका प्रहृण-त्याग नहीं करता, जो प्रहृण-त्याग करता है, वह मिथ्याज्ञानसे युक्त मलिन आत्मा होता है। प्रहृण-त्याग राग-द्वेषके द्वारा हुआ करता है, शुद्ध ज्ञानमें राग-द्वेष नहीं होता, इसलिए उसके द्वारा प्रहृण-त्याग नहीं बनता, मिथ्याज्ञान राग-द्वेषसे युक्त होता है, इसीसे उसके द्वारा प्रहृण-त्याग बनता है।

सामायिकादि पद् कर्मोंमें सम्भक्ति प्रवृत्तके संबंध

**सामायिके स्तवे भक्त्या वन्दनार्था प्रतिक्रमे ।**

**प्रत्याख्याने तन्त्रसंगे वर्तमानस्य संबंधः ॥४६॥**

‘जो योगी भक्तिपूर्वक सामायिकमें, स्तवमें, वन्दनामें, प्रतिक्रमणमें, प्रत्याख्यानमें और कायोत्सर्गमें वर्तता है उसके संबंध—कर्मात्मकका निरोध—होता है।’

**व्याख्या—**यहाँ सामायिकादि वट् अवश्यक क्रियाओंके, जो कि योगी सुनियोकि सदा करने योग्य हैं, नाम देकर लिखा है कि इन क्रियाओंमें जो भक्तिके साथ सादर प्रवृत्त होता है उसके संबंध बनता है—कर्मात्मक आत्म रुक्ष जाता है। ये क्रियाएँ सम्यक्त्वारित्ररूप हैं। इनमेंसे प्रत्येकका स्वरूप, जो संबंधका कारण है, क्रमशः आगे दिया गया है।

सामायिकका स्वरूप

**यत् सर्व-द्रव्य-संदर्भे राग-द्वेष-व्यपोहनम् ।**

**आत्मतत्त्व-निविष्टस्य तत्सामायिकमुच्यते ॥४७॥**

‘जो आत्मतत्त्वमें स्थित है उस ( योगी ) के सर्व द्रव्योंके संदर्भ-समूहमें राग-द्वेषका जो व्यपोहन—विशेष रूपसे परित्याग—है उसे ‘सामायिक’ कहते हैं।’

**व्याख्या—**सामायिकके इस लक्षणमें दो बातें सास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य हैं—एक तो वह कि प्रस्तुत सामायिकका अधिकारी कौन है और दूसरी यह कि उस अधिकारीके सामायिकका स्वरूप क्या है। अधिकारी यहाँ ‘आत्मतत्त्व-निविष्टस्य’ पदके द्वारा आत्मतत्त्वमें स्थित ( योगी ) को बतलाया है—अतः जो आत्माको ठीक जानता-पहचानता नहीं और न उसमें जिसकी प्रवृत्ति तथा स्थिति होती है, वह सामायिकका अधिकारी नहीं—भले ही वह सुनि हो, दिग्म्बर हो तथा वाह्यमें सुनिचर्याका कितना ही पालन कर्यानि न करता हो। उस अधिकृतसामायिकका स्वरूप है सर्वद्रव्योंके संदर्भमें राग-द्वेषका विशेष रूपसे(सामान्य रूपसे नहीं) परित्याग। ‘सर्वद्रव्य संदर्भे’ पदमें सम्पूर्ण चेतन-अचेतन पदार्थोंकी सभी अवस्थाओंका

समवेश होता है—चाहे वे शान्तिक हों, आर्थिक हों अथवा ज्ञानविषयक हों। और 'राग-द्वेष' में सारा वैपर्य दूर होकर पूर्णतः समताभावका प्रादुर्भाव होता है—चाहे वह कितने थोड़े कालते लिए जायें त हो। इस तरह वह संश्येयों सामायिक अथवा सन्तुलित समता-भावरूप आवश्यकका स्वरूप है। इसीको सामायिक पाठ आदि में ब्रतरूपसे निम्न प्रकार प्ररूपित किया है—

समता सर्वभूतेषु संयमः शुभ-भावना ।  
आत्म-राङ्ग-परित्यागस्तदि सामायिकं व्रतम् ॥

अर्थात् सर्वभूतों-प्राणियोंमें समताभाव—राग-द्वेषका अभाव ( क्योंकि राग-द्वेष ही आत्माके भावोंकी समता-नुलाको सम न रखकर विषम बनाते हैं ), इन्द्रियों तथा प्राणके दो भेदरूप दोनों प्रकारका संयम, शुभ भावना और आत्मध्यान तथा दीद्रध्यानके परित्यागको 'सामायिक व्रत' कहते हैं।

आवश्यक तथा ब्रतरूपसे इन दोनों सामायिकोंके स्वरूपमें जो अन्तर है उससे एकका विषय अल्प ( सर्वभूतों तक भीमित ) तो दूसरेका विषय महान् ( सर्वद्रव्योंकी सब अवस्थाओं तक व्याप ) जान पड़ता है। इसीसे सामायिक ब्रतरूपमें गृहस्थोंके लिए और आवश्यक रूपमें मुनियोंके लिए विद्विन् है। ब्रतरूपसे सामायिकमें शुभ भावना आदिक होनेसे पुण्यका आस्रव भी बनता है जबकि आवश्यक रूपसे सामायिकमें पुण्य-पाप किसीभी प्रकारका आस्रव न होकर संवर ही होता है। संवरके कारणीभूत सामायिकमें मन्त्रादिक जपना अथवा किसीके नामकी माला फेरना नहीं बनता।

#### स्तवका स्वरूप

रत्नत्रयमयं शुद्धं चेतनं चेतनात्मकम् ।  
विविक्तं स्तुततो नित्यं स्तवजीः स्तूयते स्तवः ॥४८॥

'जो योगी चेतन गुण विशिष्ट, रत्नत्रय-मय और कर्मके कलंकसे रहित शुद्ध चेतनको नित्य स्तुति करता है उस स्तवको स्तव-भर्मज्ञोंने 'स्तव' कहा है।'

**व्याख्या**—यहाँ स्तवके लक्षणमें केवल शुद्ध चेतनको ही स्तुत्यरूपमें ग्रहण किया गया है; जो केवल नामसे चेतन नहीं किन्तु चेतना गुण विशिष्ट है, सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय-मय है, सारे कर्म-कलंकसे विमुक्त रूप 'विविक्त' है और यही संक्षेपमें जिसका स्तवन है। इस स्तवनमें सचेतन पुद्गल एवं अचेतन शरीररूप घरका तथा परकृत वचनका स्तवन नहीं आता, जो वस्तुतः उससे भिन्न है।

#### वन्दनाका स्वरूप

पश्चित्र-दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयमुत्तमम् ।  
आत्मानं वन्द्यमानस्य वन्दनाकथि कोविदैः ॥४९॥

'शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय उनमें आत्माको वन्दन-नमस्कार करते हुए योगीके विज्ञ-पुरुषोंने 'वन्दना' कही है।'

**व्याख्या**—पिछले पश्चमें जिस शुद्धा मात्रके स्तवनको 'स्तव' कहा गया है उसी शुद्धात्मा-की वन्दना करनेवालेके प्रस्तुत 'वन्दना' का होना कहा गया है, ऐसा यहाँ सूचित किया है।

वन्दना वाक्यरूप है, इसकी कोई सूचना नहीं की, और इसलिए उसका सुप्रसिद्ध रूप वन्दने के आगे वन्दने के गुणोंका चिन्तन करते हुए हाथ जोड़कर शिरोनति करना-सिर झुकाना अथवा नम्रीभूत होना जैसा समझना चाहिए।

## प्रतिक्रमणका स्वरूप

**कृतानां कर्मणां पूर्वे सर्वेषां पाकमीयुषाम् ।  
आत्मीयत्व-परित्यागः प्रतिक्रमणमीर्यते ॥५०॥**

'पूर्वे' किये हुए तथा फलको प्राप्त हुए सर्वे कर्मोंके आत्मीयत्वका जो परित्याग है—उन कर्मों तथा कर्मफलोंको अपना न मानना है—उसको 'प्रतिक्रमण' कहा जाता है।'

**व्याख्या**—पूर्वकृत सब कर्मोंके फलोंमें जो आत्मीयत्व-बुद्धिका परित्याग है—उन्हें अपने अथवा अपने उपादानसे बने ( निष्पत्र ) न मानना है—उसको यहाँ 'प्रतिक्रमण' कहा गया है। चास्तव में जीवके भावोंका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए जितने भी पूर्वकृत कर्म हैं और उनके जो भी फल हैं वे सब पुद्गल द्रव्यके उपादानसे उत्पन्न होते हैं अतः उन्हें आत्मीय-आत्माके उपादानसे उत्पन्न मानना भूल है, इस भूलका ही प्रस्तुत आवश्यक कर्म-द्वारा परिमार्जन किया जाता है।

## प्रत्याख्यानका स्वरूप

**आगाम्यागो निमित्तानां भावानां प्रतिषेधनम् ।  
प्रत्याख्यानं समादिष्टं विविक्तात्म-विलोकिनः ॥५१॥**

'विविक्तात्मावलोकीको आगामी पाप-कर्मोंके निमित्तभूत भावों-परिणामोंका जो प्रतिषेध है—न करना है—उसे 'प्रत्याख्यान' कहा गया है।'

**व्याख्या**—यहाँ उन परिणामोंके परित्यागको 'प्रत्याख्यान' बतलाया है, जो कि भावी कर्मालब्धके निमित्तभूत हों और उसका अधिकारी 'विविक्तात्मविलोकिनः' पदके द्वारा उसी शुद्धात्मदर्शकीको सूचित किया है जिसे ४३वें पश्चमें 'आत्मतत्त्व-निदिप्रस्थ' और ५३वें पश्चमें 'स्वात्मतत्त्वव्यवस्थितः' पदके द्वारा उल्लेखित किया है, और इसलिए जो इन सभी आवश्यक कर्मोंके अधिकारियोंका परमावश्यक विशेषण है।

## कायोत्सर्गका स्वरूप

**ज्ञात्वा योऽसेतनं कार्यं नश्वरं कर्म-निर्मितम् ।  
न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गं करोति सः ॥५२॥**

'जो योगी काय ( शरीर ) को असेतन, नाशवान् और कर्मनिर्मित जानकर उसके कार्यमें नहीं वर्तता है वह कायोत्सर्ग करता है।'

**व्याख्या**—यहाँ कायके कार्यमें—अंगोपांगके संचालनमें—न प्रवृत्त होनेका नाम 'कायोत्सर्ग' बतलाते हुए उसके कारण रूपमें यह सूचना की है कि काय ( शरीर ) असेतन है, जबकि जीव चेतन है अतः चेतनको अनेतनके कार्यमें नहीं प्रवर्तना चाहिए; काय कर्म-

निर्मित है—कर्मोंकि आधार पर बना तथा टिका हुआ है—जबकि जीव अपने कर्मोंकि आधार पर अपना अस्तित्व नहीं रखता, और इसलिए उसे परकृत और पराश्रितके काममें प्रवृत्त होकर अपनी शक्तिका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए—जितने समयके लिए भी शक्तिके उस दुरुपयोगको बचाया जा सके उतने समयके लिए उसे अवश्य बचाना चाहिए, वह कायोत्सर्ग की हष्टि है, जिसे 'ज्ञात्वा' पदके द्वारा जाननेकी प्रेरणा की गयी है।

**यः पठावश्यकं योगी स्वात्मतत्त्व-व्यवस्थितः ।**

**अनालस्यः करोत्पेव संवृतिस्तस्य रेकसाम् ॥५३॥**

'जो योगी अपने आत्मतत्त्वमें विशेषतः अवस्थित और निरालस्य हुआ ( उक्त प्रकारसे ) पठावश्यको—अवश्य करणीय सामाधिकादि छहों क्रियाओंको—करता है उसके पायों—कर्मोंका संबंध ही होता है ।'

**व्याख्या**—जिन पट् कर्मों—कायोंका पिछले पथोंमें उल्लेख है उन्हें यहाँ स्पष्ट रूपसे 'आवश्यक' नाम दिया गया है, जिसका आशय है अवश्य ही नित्य करने योग्य, उन कायोंकि करनेवालेको 'योगी' नाम दिया है, जिसका अभिप्राय है काय-वचन-मन-रूप त्रियोगोंकी साधना करनेवाला—उन्हें अपने अधीन रखनेवाला—साधु-सुनि; और उसके दो विशेषण दिये गये हैं—एक 'स्वात्मतत्त्व व्यवस्थित' और दूसरा 'अनालस्य' जिसमें पहला हन कायोंको करनेके अधिकारित्वकी सूचना करता है जैसा कि भृष्णवेद पृथक किया गया है, और दूसरा फलकी यथेष्ट रूपमें साधनासे सम्बद्ध है; क्योंकि आलस्यसहित अनादर-पूर्वक किये हुए कर्म वशेष फलको नहीं प्राप्त है। इनमें हां सभी आवश्यक-क्रियोंके फलका निर्देश किया है और वह ही ज्ञानावरणादि कर्मोंकि आस्त्रवका निरोध, जो उक्त दोनों विशेषण-विशिष्ट योगीको प्राप्त होता है। अतः हन छहों क्रियाओंके करनेमें योगीको अपने हन दोनों विशेषणोंको खास तौरसे ध्यानमें रखना चाहिए, जिनके बिना यथेष्ट फलसम्पत्ति नहीं बनती ।

सम्यज्ञावपरायण आत्मज्ञ योगी कर्मोंका निरोधक

**पिठ्याङ्गानं परित्यज्य सम्यज्ञानपरायणः ।**

**आत्मनात्मपरिज्ञायी विधत्ते रोधमेनसाम् ॥५४॥**

'मिथ्याज्ञानको छोड़कर जो सम्यज्ञानमें तत्पर है और आत्माके द्वारा आत्माका ज्ञाता है वह कर्मोंका निरोध करता है—कर्मोंके आस्त्रवको रोकता है ।'

**व्याख्या**—यहाँ पठावश्यक-विधातासे भिन्न एक दूसरे ही संबंध अधिकारीका निर्देश है और वह है जो मिथ्याज्ञानका परित्याग कर सम्यज्ञानमें तत्पर रहता है और अपनी आत्माको किसी भी पर पदार्थकी अपेक्षा न रखकर अपने आत्माके द्वारा ही ज्ञाता है। ऐसा ज्ञाता बिना कोई दूसरा अनुज्ञान किये ही कर्मोंके आस्त्रवको रोकनेमें समर्थ होता है।

कोई द्रव्यसे भोजक तो भावसे अभोजक, दूसरा इसके विपरीत

**द्रव्यतो भोजकः कश्चिद्गावतोऽस्ति त्वभोजकः ।**

**भावतो भोजकस्त्वन्यो द्रव्यतोऽस्ति त्वभोजकः ॥५५॥**

‘कोई द्रव्यसे भोक्ता है भावसे अभोक्ता है, दूसरा भावसे भोक्ता है द्रव्यसे अभोक्ता है।’

व्याख्या—जो किसी पदार्थके भोगमें प्रवृत्त है उसे ‘भोजक’ और जो भोगसे निवृत्त है उसे ‘अभोजक’ कहते हैं। यहाँ द्रव्य तथा भावसे भोजक-अभोजककी व्यवस्था करते हुए यह सूचित किया है कि जो द्रव्यसे भोजक है वह भावसे भी भोजक हो अथवा जो भावसे भोजक है वह द्रव्यसे भी भोजक हो ऐसा कोई नियम नहीं है—एक द्रव्यसे भोजक होते हुए भी भावसे भोजक नहीं होता और दूसरा भावसे भोजक होते हुए भी द्रव्यसे भोजक नहीं होता।

द्रव्य-भावसे निवृत्तोऽस्ते कौन किसके द्वारा पूज्य

द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति स पूज्यो व्यवहारिभिः ।

भावतो यो निवृत्तोऽसौ पूज्यो मोक्षं पियासुभिः ॥५६॥

‘जो द्रव्यसे निवृत्त है—अभोजक है—वह व्यवहारियोंके द्वारा पूज्य है। जो भावसे निवृत्त है—अभोक्ता है—वह मुमुक्षुओंके द्वारा पूज्य—पूजाको प्राप्त-होता है।’

व्याख्या—जो द्रव्यसे—षाष्ठा पदार्थोंका त्याग करके उनके भोगसे—निवृत्त होता है वह व्यवहारी जीवोंके द्वारा पूजा जाता है; क्योंकि व्यवहारी जीवोंकी वास्तु दृष्टि होती है वे दूसरेके अन्तरंगको भर्ता परखते। और जीव-प्राप्ति—व्यवहारी जीवोंसे विरक्तचित्त होकर निवृत्त होता है वह मोक्ष-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओंके द्वारा पूजा जाता है; क्योंकि मुमुक्षु अन्तरात्माओंकी आन्तरिक दृष्टि होनेके कारण वे दूसरेके अन्तरंगको परख लेते हैं।

भावसे निवृत्त ही वास्तविक संवरका अधिकारी

द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य नास्ति निवृत्तिरेनसाम् ।

भावतोऽस्ति निवृत्तस्य तात्त्विकी संवृतिः पुनः ॥५७॥

‘जो द्रव्य मात्रसे निवृत्त है उसके कर्मोंकी निवृत्ति नहीं होती और जो भावसे निवृत्त है उसके वास्तविक संवृति—कर्मात्मवकी निवृत्ति—बनती है।’

व्याख्या—यहाँ पिछले कथनको संवर तत्त्वके साथ सम्बद्ध करते हुए लिखा है कि जो द्रव्य मात्रसे निवृत्त है—चाहुमें किसी वस्तुके भोगका त्याग किये हुए है—परन्तु अन्तरंगमें उसके भोगकी लालसा बर्नी हुई है, उसके कर्मोंका संवर नहीं होता। और जो भावसे निवृत्त है—इद्रव्यमें उस पदार्थके भोगका कभी विचार तक भी नहीं लाता—उसके वास्तविक संवृति बनती है। इससे स्पष्ट जाना जाता है कि जो भावसे त्याग है वही कल्याणकारी है। लोक दिखावेके रूपमें जो भी त्यागवृत्ति है वह कल्याणकारिणी नहीं।

भावसे निवृत्त होनेकी विशेष प्रेरणा

विज्ञायेति निराकृत्य निवृत्तिं द्रव्यतत्त्विधा ।

भाव्यं भाव-निवृत्तेन समस्तैनोनिविद्ये ॥५८॥

‘इस प्रकार द्रव्य-भावरूप निवृत्तिको जानकर और द्रव्यनिवृत्तिको मन-वचनकार्यसे छोड़कर—गौण करके—समस्त कर्मोंको दूर करनेके लिए शियोगपूर्वक भावसे निवृत्त होना चाहिए।’

**व्याख्या—**—पिल्ले पश्चानुसार जब द्रव्य मात्रकी निष्ठुतिसे कर्मोंकी निवृत्ति न होकर भावसे निवृत्ति होती है तब फलितार्थ यह निकला कि द्रव्य निष्ठुतिका आपहु न रखकर—उसे गौण करके—भावसे निष्ठुतिरूप होना चाहिए, ऐसा होनेसे समस्त पापोंकी—कर्मोंकी—निष्ठुति होती है। यही इस पद्यमें निष्कर्ष सूचित किया गया है।

हरीश्वर लिंग मुक्तिका शरण मनीं

शरीरमात्मनो भिन्नं लिङ्गं येन तदात्मकम् ।  
न मुक्तिकारणं लिङ्गं जायते तेन तत्त्वतः ॥५६॥  
यन्मुक्तिं गच्छता त्याज्यं न मुक्तिर्जायते ततः ।  
अन्यथा कारणं कर्म तस्य केन निवर्तते ॥५७॥

‘किं शरीर आत्मासे भिन्न है और लिंग शरीरात्मक है इसलिए वस्तुतः लिंग मुक्तिका कारण नहीं होता है। जो मुक्तिको जानेवालेके द्वारा त्याज्य है उससे मुक्ति नहीं होती। यदि लिंगको मुक्तिकर कारण माना जायेगा तो उसके कारण कर्मको किसके द्वारा दूर किया जायेगा? —किसीके भी द्वारा उसका दूर किया जाना नहीं बनता, और इसलिए कर्मोंके सद्ग्रावमें मुक्तिका भी अभाव ठहरता है।’

**व्याख्या—**—इन दोनों पद्योंमें युक्तिपुरस्सर ढंगसे यह प्रतिपादित किया गया है कि कोई भी लिंग अथवा वेष वस्तुतः मुक्तिका कारण नहीं है; क्योंकि वह शरीरात्मक है और शरीर आत्मासे भिन्न है। जो शरीर तथा वेष मुक्तिको जाने—प्राप्त होनेवालेके द्वारा त्यागा जाता है वह मुक्तिका कारण नहीं हो सकता, यदि शरीर अथवा तदात्मित लिंगको मुक्तिका कारण माना जायेगा तो फिर शरीरका कारण जो कर्म है वह किसीके द्वारा भी दूर नहीं किया जा सकेगा और कर्मके साथमें रहनेपर मुक्ति कैसी? वह बनती नहीं। अतः शरीरात्मक द्रव्य-लिंगको मुक्तिका कारण मानना तर्क-संगत नहीं—अनुचित है। इसी बातकी श्रीपूज्यपादाचार्य-ने अपने समाधितन्त्रके निम्न पद्यमें और भी स्पष्ट घोषणा की है—

लिङ्गं देहात्मितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः ।  
न मुद्यते भवात्समाद्ये ते लिङ्गकृतायहाः ॥५७॥

इसमें बतलाया है कि लिंग शरीरात्मित है और शरीर आत्माका भव-संसार है अतः जो लिंगका आपहु रखते हैं वे संसारसे मुक्त नहीं हो पाते—एक भवसे दूसरा भव धारण करते हुए संसारमें ही परिभ्रमण करते रहते हैं। जबकि लिंग आदिका<sup>१</sup> आपहु कूटता है तभी मुक्तिका स्वामित्व प्राप्त होता है। शरीर अचेतन है चेतनात्माको उसका आपहु नहीं रखना चाहिए।

मुमुक्षके लिए त्याज्य और प्राप्त

अचेतनं ततः सर्वं परित्याज्यं मुमुक्षुणा ।  
चेतनं सर्वदा सेव्यं स्वात्मस्थं संवरार्थिना ॥५८॥

१. आदि शब्दसे प्राह्णादि उच्चवजातिका रहण है उसे भी ‘जातिदेहाधिता दृष्टा’ इत्यादि पद्य (५८) में मुक्तिका कारण नहीं बतलाया।

‘अतः जो मोक्षका अभिलाषी और संबरका अर्थों हैं उसके द्वारा समूह अचेतन पदार्थ समूह त्यजनीय है और अपने आत्मामें स्थित चेतन सदा सेवनीय है।’

**व्याख्या—**शरीर और देषकी पूर्वोक्त स्थितिमें शरीर और देष ही नहीं, किन्तु सभी अचेतन वस्तु समूह मोक्षके हन्त्युक और इसलिए संबरके अर्थोंको त्यागने योग्य है—किसीमें भी उसे आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। प्रत्युत इसके वह चेतन सदा सेवनीय एवं उपासनीय है जो अपने आत्मामें स्थित है।

कौन योगी शीघ्र कर्मोंका संबर करता है

**आत्मतत्त्वमपहस्तित-राग**  
**ज्ञान-दर्शन-चरित्रमयं थः ।**  
**मुक्तिमार्गमन्त्रमुक्ति योगी**  
**संवृणोति दुरितानि स सद्यः ॥६२॥**

हृति श्रीमद्भिलगति-निःसंग्रह्योगिराज-विविते योगसारप्राभूते संवराधिकारः ॥६२॥

‘जो योगी राग-रहित आत्मतत्त्वको और ज्ञान-दर्शन-चरित्रलुप मोक्षमार्गको जानता-पहचानता है वह शीघ्र कर्मोंका संबर करता है।’

**व्याख्या—**यह इस पाँचवें संवराधिकारका उपर्याप्ति-पद्य है। इसमें बतलाया है कि जो योगी राग-द्वेष-रहित शुद्ध आत्मतत्त्वको और निर्मल ज्ञान-दर्शन-चरित्र लुप मोक्षमार्गको प्राप्त होना है वह शीघ्र ही कर्मोंके आस्त्रबको—शुभ-अशुभ सम्बोधकार्यों कर्मोंके अन्तमप्रवेशको-रोकता है। और इसलिए संबराधस्थामें कोई भी तथा कर्म आत्माके साथ बँधने नहीं पाता।

इस प्रकार श्री अभिलाषि-निःसंग्रह्योगिराज-विविते योगसार प्राभूतमें संबर  
अधिकार नामका पाँचवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥६२॥



## निर्जराधिकार

निर्जराका लक्षण और दो भेद

**पूर्वोपाजित-कर्मेकदेशसंक्षय-लक्षणा ।  
निर्जरा जायते द्वेषा पाकजापाकजात्यतः ॥१॥**

‘पूर्वोपाजित कर्मोंका एक देशश्रय जिसका लक्षण है वह निर्जरा पाकजा तथा अपाकजाके भेदसे दो प्रकारकी होती है।’

व्याख्या—निर्जरा अधिकारका प्रारम्भ करते हुए यहाँ सबसे पहले निर्जराका लक्षण दिया है और वह लक्षण है ‘पूर्वोपाजित कर्मोंका एकदेश विनाश’। पूर्वोपाजित कर्मोंमें पूर्व जन्ममें किये तथा आत्माके साथ बन्धको प्राप्त हुए कर्म ही नहीं किन्तु इस जन्ममें भी वर्तमान कालसे पूर्व किये तथा बन्धको प्राप्त हुए कर्म भी शामिल हैं। और एकदेश संक्षयका अर्थ है ‘आशिक विनाश’—पूर्णतः विनाश नहीं। कर्मोंकि कर्मोंके पूर्णतः विनाश होनेका नाम तो है ‘मोक्ष’—निर्जरा नहीं। जबतक नये कर्मोंका आस्रव नहीं रुकता और बन्ध-हेतुओंका अभाव नहीं होता तबतक निर्जरा बनती ही नहीं। उक्त निर्जराके दो भेद हैं—एक ‘पाकजा’, दूसरा ‘अपाकजा’। इन दोनोंका स्वरूप अगले पद्ममें दिया है।

पाकजा—अपाकजा निर्जराका स्वरूप

**प्रक्षयः पाकजातायां पक्वस्यैव प्रजायते ।  
निर्जरायामपक्वायां पक्वापक्वस्थ कर्मणः ॥२॥**

‘पाकजा निर्जरामें पके हुए कर्मका ही विनाश होता है। अपाकजा निर्जरामें पके—अपके दोनों प्रकारके कर्मोंका विनाश होता है।’

व्याख्या—‘पाकजा निर्जरा’ वह है जिसमें पके हुए—फल देनेको उद्यत हुए—कर्मोंका ही विनाश होता है और ‘अपाकजा निर्जरा’ वह कहलाती है जिसमें पके हुए, (कालप्राप्त) तथा विना पके हुए (अकालप्राप्त) दोनों प्रकारके ही कर्मोंका विनाश होता है।

अपाकजा निर्जराकी शक्तिका सोधाहरण निर्देश

**शुष्काशुष्का यथा वृक्षा दद्यन्ते दव-वह्निना ।  
पक्वापक्वास्तथा ध्यान-प्रकमेणाघसंचयाः ॥३॥**

‘जिस प्रकार दावानलके हारा सूखे-गीले वृक्ष जल जाते हैं उसी प्रकार ध्यानके प्रकल्पणसे—प्रज्वलनसे—पके-कर्मोंके कर्म समूह भस्म हो जाते हैं।’

१. कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः । —सूत्र १०-२ ।

**ध्यालया—**अन्यन्त प्रज्वलित तीक्ष्ण अग्निका नाम ‘दावानल’ है, जो बनके बन भस्म कर देता है, सूखेकी तरह कोई गीला-भरा वृक्ष भी बनमें उसकी लपेटमें आकर भस्म होनेसे बच नहीं पाता। एकाग्रचिन्तनरूप ध्यान भी ऐसी ही प्रबल अग्नि है, उसकी लपेटमें आया हुआ कोई भी कर्म चाहे वह उदयके बोध्य हो या न हो जलकर राख अथवा शक्ति क्षीण हो जाता है। इस तरह यहाँ पिछले पंक्तमें उल्लिखित ‘अपाकज्ञा’ निर्जराकी शक्तिको दावानल-के उदाहरण-द्वारा स्पष्ट किया गया है।

परमनिर्जरा-कामके ध्यान-प्रक्रमका अधिकारी

**दूरीकृत-कथायस्य विशुद्धध्यान-लक्षणः ।  
विघ्ने प्रक्रमः साधोः कर्मणां निर्जरां पराम् ॥४॥**

‘जिसने कथायको दूर किया है उस साधुके विशुद्ध ध्यान-लक्षणरूप जो प्रक्रम-प्रज्वलन होता है वह कर्मोंकी उल्लिखित निर्जरा है।’

**ध्यालया—**जिस साधुने अपनी आत्मासे क्रोधादि कथायोंको दूर कर दिया है उसीके विशुद्ध ध्यान बनता है—कथायाकुलित साधुके नहीं—और वह विशुद्ध ध्यान ऐसा प्रक्रम अथवा प्रज्वलन होता है जो कर्मोंको भस्मादिरूप परिणत करके बहुत बड़े ऐमानेपर उनकी निर्जरा कर देता है।

कौन योगी कर्म समूहकी निर्जराका कर्ता

**आत्मतत्त्वरतो योगी कृत-कलमष-संवरः ।  
यो ध्याने वर्तते नित्यं कर्म निर्जीर्यतेऽमृता ॥५॥**

‘आत्मतत्त्वमें लीन हुआ और कलमषका—कथायादि कर्म-मलका—संवर किये हुए जो योगी सदा ध्यानमें वर्तता है उसके हारा कर्मसमूह निर्जराको प्राप्त होता है।’

**ध्यालया—**निर्जराके अधिकारीका वर्णन करते हुए यहाँ उस योगीको कर्मसमूहकी उल्लिखित निर्जराका कर्ता लिखा है जो आत्म-तत्त्वमें लीन हुआ कथायादि कर्म-मलोंके संवर-पूर्वक सदा ध्यानमें प्रवृत्त होता है।

संवरके बिना निर्जरा वास्तविक नहों

**संवरेण विना साधोर्नास्ति पातक-निर्जरा ।  
नृतनाम्भःप्रवेशो(शो)ऽस्ति सरसो रिक्तता कुतः ॥६॥**

‘संवरके बिना साधुके पातकों-कर्मोंकी पूर्णतः अविपाक निर्जरा नहीं बनती। (ठीक है) अब नये जलका प्रवेश हो रहा है तब सरोबरकी रिक्तता किसे बन सकती है? नहीं बन सकती।’

**ध्यालया—**पिछले पंक्तमें संवर-पूर्वक ध्यानमें प्रवृत्त होनेकी जो बात कही गयी है उसके लक्ष्यको इस पद्ममें स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि संवरके बिना वास्तवमें साधुके पातों-कर्मोंकी निर्जरा नहीं बनती, उसी प्रकार जिस प्रकार कि सरोबरमें नये जलका प्रवेश होते रहतेर उसकी रिक्तता नहीं बनती—वह कभी खाली नहीं हो पाता। अतः सरोबरको

खाली करनेके लिए जिस प्रकार नये जलके प्रवेश-द्वारको रोकनेकी पहले जरूरत है उसी तरह संचित कर्मोंकी निर्जराके लिए नये कर्मोंका आत्म-प्रवेश रोकनेकी-संचरकी-पहले जरूरत है।

किसका कौन ध्यान कर्मोंका अथ करता है  
रत्नत्रयमयं ध्यानमात्म-रूप-प्ररूपकम् ।  
अनन्यगत-चित्तस्य दिघत्ते कर्म-संक्षयम् ॥७॥

‘जो योगी अन्यत्र चित्तवृत्तिको लिये हुए नहीं है उसके आत्मरूपका प्ररूपक रत्नत्रयमयो ध्यान कर्मोंका विनाश करता है।’

**छात्या**—जिस ध्यानका पिछले पश्चोंमें उल्लेख आया है उसे यहाँ ‘रत्नत्रयमय’ लिखा है, जो कि आत्मरूपका प्ररूपक है, उसमें जो योगी अनन्यगत चित्त होकर किसी दूसरे पदार्थमें अपनी चित्तवृत्तिको न रखकर—प्रशुत होता है वह कर्मोंकी भले प्रकार निर्जरा करता है।

कौन योगी सारे कर्ममलको धो डालता है  
त्यक्तान्तरेतर-ग्रन्थो निव्यापारो जितेन्द्रियः ।  
लोकाचार-पराचीनो मलं छालयतेऽस्तिलम् ॥८॥

‘जो योगी अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग कर इन्द्रिय-व्यापारसे रहित हुआ जितेन्द्रिय है और लोकाचारसे पराहमूल है वह सारे कर्ममलको धो डालता है।’

**छात्या**—निर्जराधिकारीका वर्णन करते हुए यहाँ यह प्रलयण किया है कि जो योगी आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे रहित है, इन्द्रिय-व्यापारमें प्रवृत्त नहीं होता, इन्द्रियोंको अपने वशमें किये हुए हैं और लोकाचारकी परवाह नहीं करता वह सब प्रकारके कर्ममलको धोनेमें समर्थ होता है।

यहाँ आदि-अन्तके दो विशेषण अपना खास महत्व रखते हैं, प्रथम विशेषणमें अन्तरंग परिग्रहका त्याग प्रधान है, जो मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ और हात्यादि नोकपायोंकी रूपमें चौदह प्रकारका होता है और बाह्य परिग्रह श्वेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन-धान्यादिके रूपमें दस प्रकारका कहा गया है। इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंका जबतक सच्चे हृदयसे त्याग नहीं बनता तबतक इन्द्रिय-व्यापारका रुकना और जितेन्द्रिय होना भी नहीं बनता। रहा अन्तिम विशेषण, वह इस बातका सूचक है कि जबतक लोकाचारके कर्ममलका क्षालन नहीं हो सकेगा—लोकाचारके पालनमें प्रशुति रूप कर्मका आखब रहता ही रहेगा। इसीसे सच्चे मुनियोंकी हुत्तिको ‘अलौकिकी’ कहा गया है।<sup>१</sup> यह अलौकिकोंकी वृत्ति भवाभिनन्दी अथवा लौकिक मुनियोंसे नहीं बनती। उन्हें तो लौकैषणा सताती रहती है और इसलिए वे लोकाचारसे विमुक्त नहीं हो पाते।

१. पराहमूलः । २. अनुसरतः पदमेतत् कर्मिकाचार-निरन्तरभिमुक्ता । एकान्तविरतिलका भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥ —अमृतचन्द्र सूर्टि पृ० सिद्ध्य० ।

किंशुद्भावका धारी कर्मसंयका अधिकारी

शुभाशुभ-विशुद्धेषु भवेषु प्रथम-द्वयम् ।  
यो विद्यायान्तिमं धर्मे क्षीयते तस्य कल्मषम् ॥६॥

‘जो शुभ, अशुभ, विशुद्ध इन तीन भावोंमें-से, प्रथम दोको छोड़कर अन्तिम विशुद्ध भावको धारण करता है उसके कल्मण—कषायादि कर्ममल—क्षयको प्राप्त होता है।’

**व्याख्या**—यहाँ यह सूचित किया है कि जीवके परिणाम तीन प्रकारके होते हैं—शुभ, अशुभ, विशुद्ध। इनमें-से पहले दो परिणामोंको, जो कि कर्म-बन्धके कारण हैं, छोड़कर जो तीसरे विशुद्ध परिणामको धारण करता है वह नवीन कर्मोंका आस्त्रव-बन्ध न करता हुआ पूर्व संचित कर्मोंके क्षय करनेमें समर्थ होता है। विशुद्ध परिणाममें दो शक्तियाँ हैं—एक कर्मोंके आस्त्रव-बन्ध रोकनेकी और दूसरी पूर्व बाँधे कर्मोंको क्षयरूप-निर्जरित करनेकी।

शुद्धात्मतत्त्वको न जाननेवालेका तप कार्यकारी नहीं  
वाह्यमाभ्यन्तरं द्वेषा प्रत्येकं कुर्वता तपः ।  
नैनो निर्जीर्यते शुद्धमात्मतत्त्वमजानता ॥६॥

‘जो शुद्ध आत्मतत्त्वको नहीं जानता उसके द्वारा बाहु तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकारके तपमें-से प्रत्येक प्रकारके तपका अनुष्ठान करते हुए भी कर्म निर्जराको प्राप्त नहीं होता।’

**व्याख्या**—मोक्षशास्त्रमें ‘तपसा निर्जीरा च’ इस सूत्रके द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि तपसे निर्जीरा तथा संबर दोनों होते हैं। यहाँ एक खास मौलिक बात और कही गयी है और वह यह कि ज्ञवतक योगी-तपस्वी शुद्ध आत्मतत्त्वको नहीं जानता—पहचानता तबतक उसके वाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकारके तपमें-से किसी भी प्रकारका तप करते हुए कर्मों-की निर्जीरा नहीं होती। संबरके अधिकारमें जिस प्रकार संबराधिकारीके लिए आत्मतत्त्वको जानने और उसमें स्थित होनेकी बात कही गयी है उसी प्रकार निर्जीराधिकारीके लिए भी उसे समझना चाहिए। जो आत्माको ही नहीं समझता उसका वाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारका तप, जिसमें ध्यान भी शामिल है, एक प्रकारसे निरर्थक होता है—उससे न संबर बनता है और न निर्जीरा। तपश्चरणके साथ आत्माको जानना विन्दुओंके साथ अंकके समान उसे सार्थक करता है। अतः केवल तपश्चरणके मोहमें ही उलझे रहना नहीं चाहिए, आत्माको जानने तथा पहचाननेका सबसे प्रथम प्रयत्न करना चाहिए।

किस संयमसे किसके द्वारा कर्मकी निर्जीरा होती है  
कर्म निर्जीर्यते पूर्वं विद्धानेन संयमम् ।  
आत्म-तत्त्व-निविष्टेन जिनागम-निवेदितम् ॥६१॥

‘आत्मतत्त्वमें स्थित जो योगी जिनागम-कथित पवित्र संयमका अनुष्ठान करता है उसके द्वारा कर्म निर्जीराको प्राप्त होता है।’

**व्याख्या—**यहाँ संयमके द्वारा कर्मकी निर्जराका वर्णन करते हुए उसके दो विशेषण लिये गये हैं एक तो 'पूत' जो पवित्र एवं मुद्द अर्थका बाच्चक है, दूसरा है 'जिनागमनिवेदित' जिसका आशय है जिनागमके द्वारा प्रतिपादित। जिनागममें संयमके दो भेद किये गये हैं—एक इन्द्रिय संयम और दूसरा प्राणिसंयम। सर्वनादि इन्द्रियोंकी अगुभ प्रवृत्तियोंको रोकना 'इन्द्रिय संयम' है और प्राणधारी जीवोंके प्रति वातिरुपसे प्रवृत्त न होनेका नाम 'प्राणिसंयम' है। ये दोनों ही प्रकारके संयम निर्जराके हेतु हैं। संयमके अधिकारीका यहाँ एक ही विशेषण दिया और वह है आत्मतत्त्वमें स्थित। जो आत्मतत्त्वमें स्थित नहीं वह संयमका पात्र नहीं और इसलिए उसके द्वारा संयम जनित नहीं बनती।

कौन योगी कर्मरजको स्वयं छुन डालता है

**अन्याचार-परावृत्तः स्वतत्त्व-चरणादतः ।  
संपूर्ण-संयमो योगी विधुनोति रजः स्वयम् ॥१२॥**

'जो योगी अन्य आचारसे विमुख हुआ स्वरूपाचरणमें तत्पर है और पूर्णतः संयमका पालक है वह स्वयं कर्मरजको छिन्न-भिन्न कर डालता है।'

**व्याख्या—**यहाँ पूर्णतः संयमी योगीकी बातको लिया गया है और वह वही होता है जो स्वरूपाचरणसे भिन्न अन्याचरणमें हचि नहीं रखता और स्वरूपाचरणमें सदा तत्पर रहता है। ऐसा योगी चिना किसीकी सहायता अथवा अपेक्षाके स्वर्वं कर्ममलको विशेषतः छुन डालता है।

लोकाचारकी अपनानेवाले योगीका संयम श्रीण होता है

**हित्वा लोकोत्तराचारं लोकाचारमुपैति यः ।  
संयमो हीयते तस्य निर्जरायां निबन्धनम् ॥१३॥**

'जो योगी लोकोत्तराचारको छोड़कर लोकाचारको अपनाता है उसका संयम, जो कि निर्जराका कारण है, श्रीण हो जाता है।'

**व्याख्या—**पिछले पश्चमें जिस स्वरूपाचरणका उल्लेख है वही यहाँ 'लोकोत्तराचार'के रूपमें विवरित है उसे छोड़कर जो योगी लोकाचारमें—लौकिकजनों-जैसी प्रवृत्तिमें—प्रवृत्त होता है, उसका संयम हीन-श्रीण हो जाता है, और इसलिए कर्मकी निर्जरा करनेमें समर्थ नहीं होता।

अहं द्रव्यनकी अद्वा न करनेवाला सुचरितो भी शुद्धिको नहीं पाता

**चारित्रं विदधानोऽपि षविंशं यदि तत्त्वतः ।  
अद्वचे नाहंतं वाक्यं न शुद्धि श्रयते तदा ॥१४॥**

'पवित्र चारित्रको पालते हुए भी यवि ( योगी ) वस्तुतः अहंत्के वाक्यका अद्वान नहीं करता—उसे अपनी चर्याका आधार नहीं बनाता—तो वह शुद्धिको प्राप्त नहीं होता।'

**ध्यालया—**जिस परिव्रत संयमका १५वें पश्चमें उल्लेख है और जिसको वहाँ 'जिनागम-निवेदित' चिह्नण दिया है उसीको यहाँ 'चारित्र' शब्दसे उल्लेखित करते हुए उसके उस विशेषणका समझौतरण किया गया है, जिनागमको आर्हतवाक्य ( अर्हत्प्रवचन ) बतलाया है और यह योग्यता की है कि जो योगी आर्हत्वके प्रबन्धनकी प्रक्रिया नहीं करता है—अद्वापूर्वक जिनागम-कथित संयमका पालन नहीं करता है—वह वास्तवमें परिव्रत संयमका पालन करता हुआ भी शुद्धिको प्राप्त नहीं होता। इससे अर्हत्प्रतिपादित संयमके अनुप्राप्तमें शुद्धाकी खास ज़रूरत है—विना अद्वाका चारित्र स्वयं शुद्ध होते हुए भी शुद्धिविधानमें असर्थी है, अद्वा उसमें शक्तिका मंचार करती है।

जिनागमको न जानता हुआ गंधमी अन्येके समान

दिवित्रे चरणावारे वर्तमानोऽपि संयतः ।  
जिनागमपजानानः सद्शो गतचक्षुपः ॥१५॥

'नाना प्रकारके चारित्राचारमें प्रबर्तमान हुआ भी जो संभवी जिनागमको नहीं जानता वह चक्षुहोनके समान है—उसका वह आचरण अन्याचरणके तुल्य है।'

**ध्यालया—**यहाँ उम्म योगीके चारित्रको अन्याचरणके समान बतलाया है जो जिनागमको नहीं जानता। ऐसे ही आगम-शास्त्रको लक्ष्य करके किसी नीतिकारने कहा है :—

अनेक-संशयोच्छेवि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।

सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्य एव सः ॥

अनेक संशयोंका उल्लेशन करनेवाला और परोक्ष परार्थसमूहका दिखलानेवाला सबका लोचन ( नेत्र ) आस्त्र है, जो इस लोचनसे चिह्नित ही वही अन्या है।

किसका कोन नेत्र

साधुनामागमश्चक्षुर्भूतानां चक्षुरिन्द्रियम् ।  
देवानामवधिशक्षुर्निर्वृताः सर्वं-चक्षुपः ॥१६॥

'साधुओंकी चक्षु ( आँख ) आगम-शास्त्र है, साधारण प्राणियोंकी चक्षु इन्द्रिय है, देवोंकी चक्षु अवधिदर्शीन है और जो निर्वृत है—मुक्तिको प्राप्त है—ये सर्वचक्षु हैं।'

**ध्यालया—**यहाँ किसका कौन नेत्र, इसका निर्देश करते हुए साधुओंका नेत्र आगमकी भूतोंका—सर्व प्राणियोंका—नेत्र इन्द्रियको, और देवोंका नेत्र अवधिदर्शीनको बतलाया है। साथ ही जो संमारसे मुक्त हो गये हैं उन्हें 'सर्वचक्षु'—सब ओरसे देखनेवाले—लिखा है। साथ ही जो संमारसे मुक्त हो गये हैं उन्हें 'साधु'—जैसे बाक्यके द्वारा साधुको आगमचक्षु—आगमनेत्रसे प्रबन्धनमारमें भी 'आगमचक्षु साधु' जैसे बाक्यके द्वारा साधुको आगमचक्षु—आगमनेत्रसे देखनेवाला—बतलाया है। इससे साधुका आगमज्ञाता होना और आगमके अनुसार आचरण करना, ये दोनों ही आथर्वक होते हैं।

१. आगमचक्षु मात्र इनश्चक्षुणि सद्वशुद्धाणि । देवा य शोहित्वात् सिद्धा पृष्ठ सर्वदो चक्षु ॥  
—प्रवचनमार ३-३५

आगम प्रदर्शित सारा अनुष्ठान किसके निर्जराका हेतु

**प्रदर्शितमनुष्ठानमागमेन तपस्विनः ।  
निर्जराकारणं सर्वं ज्ञात-तत्त्वस्य जायते ॥१७॥**

‘आगमके द्वारा प्रदर्शित सारा अनुष्ठान तत्त्वज्ञ-तपस्वीके निर्जराका कारण होता है ।’

व्याख्या—यहाँ आगम-द्वारा प्रदर्शित सारे अनुष्ठानको निर्जराका कारण बतलाते हुए उसके अनुदाता तपस्वी-साधुका एक खास विशेषण ‘ज्ञाततत्त्वस्य’ दिया गया है और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि जो साधु तत्त्वोंका ज्ञाता नहीं है अथवा जिसने आत्मतत्त्वको नहीं समझा है उसका आगम-प्रदर्शित अनुष्ठान निर्जराका कारण नहीं होता है अतः आगम-प्रदर्शित अनुष्ठानके लिए तत्त्वोंका ज्ञाता होनेकी परम आवश्यकता है—यों ही तोतारटन्तके रूपमें यह न होना चाहिए । ऐसा कोरा अनुष्ठान प्रायः भावशून्य होता है और इसलिए अनुष्ठानके सम्बन्धका फलको नहीं फलता । इसी बातको कल्याणमन्दिर स्तोत्रमें ‘यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः’ इस घात्यके द्वारा प्रदर्शित किया है । ऐसी भावशून्य क्रियाओंको बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनों ( थनों ) की उपमा दी गयी है, जो देखनेमें स्तनाकार होते हुए भी स्तनोंका काम नहीं देते—दूध उनसे नहीं निकलता । भावशून्य क्रियाएँ भी देखनेमें अच्छी भली ठीक जान पड़ती हैं परन्तु उनसे फलकी प्राप्ति नहीं होती । इसीसे भावहीनकी पूजादिक, तप, दान, जपादिक और दीक्षादिकको व्यर्थ बतलाया गया है:—

भावहीनस्य पूजादिः तपोदान-जपादिकम् ।

व्यर्थं दीक्षादिकां च स्यादज्ञाकण्ठे स्तनाविव ॥

अज्ञानी-ज्ञानीके विषय-सेवनका फल

**अज्ञानी वश्यते यत्र सेव्यमानेऽक्षमोचरे ।  
तत्रैव मुच्यते ज्ञानी एश्यताऽश्चर्यमीदशम् ॥१८॥**

‘इन्द्रिय विषयके सेवन करनेपर जहाँ ज्ञानी कर्मबन्धको प्राप्त होता है वहाँ ज्ञानी कर्म-बन्धनसे छूटता है—कर्मकी निर्जरा करता है—इस आश्चर्यको देखो !’

व्याख्या—पिछले पदमें साधुके लिए ‘ज्ञाततत्त्व’ होनेकी जो बात कही गयी है उसके महत्त्वकी इस पद्ममें आश्चर्यके साथ यह कहकर सूचना की गयी कि अज्ञानी जिस कामको करता हुआ कर्म-बन्धनसे बँधता है उसी कामको करता हुआ ज्ञानी कर्म-बन्धनसे छूटता है—कर्मकी निर्जरा करता है । इसमें ‘ज्ञायक’ और ‘वेदक’ के भेदकी बह इष्टि समायी हुई है, जिसका वर्णन ग्रन्थमें अन्यथा ( चौथे अधिकारमें ) किया गया है ।

कर्मफलको भोगते हुए किसके बन्ध और किसके निर्जरा

शुभाशुभ-विकल्पेन कर्मयाप्ति शुभाशुभम् ।

**भुज्यमानेऽखिले द्रव्ये निर्विकल्पस्य निर्जरा ॥१९॥**

१. ज्ञानिना सकर्ल द्रव्यं ज्ञायते वेदते न च । अज्ञानिना पुनः सर्वं वेदते ज्ञायते न च ॥२३॥ यथा वस्तुपरिज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिभिर्ज्ञयते । राग-द्रेष-मद-कोर्षः सहितं वेदनं पुनः ॥२४॥ बन्धाधिकार ।

‘शुभ-अशुभ विकल्पके द्वारा शुभ-अशुभ कर्मका आगमन होता है। सम्पूर्ण द्रव्य समूहके भोगते हुए भी जो निविकल्प है—राग-द्वेषादि रूप किसी प्रकारका विकल्प नहीं करता—उसके कर्मकी निर्जरा होती है।’

**व्याख्या**—यहाँ पिछले पथको कुछ स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि जिस किसी कर्ममें करते अथवा भोगते हुए शुभ-अशुभका विकल्प किया जाता है—उसे अच्छा या दुरा समझा जाता है—उससे शुभ-अशुभ कर्मका आस्तव-बन्ध होता है। और इसलिए जो ल्लानी साधु कर्मका फल भोगते समय निर्विकल्प रहता है—किसी भी प्रकारका राग-द्वेष नहीं करता—उसका वह भोग निर्जराका कारण होता है—बन्धका नहीं। अल्लानीके द्वारा यह बात नहीं बनती वह अपने अक्षानवश उसमें राग-द्वेषादिका विकल्प किये बिना नहीं रहता और इसलिए नये कर्म-बन्धको प्राप्त होता है।

निर्विकल्प-योगी भी निजंराका अधिकारी

अहमस्मि न कस्यापि न ममान्यो बहिस्ततः ।  
इति निर्विकल्पो योगी धुनीते निखिलं रजः ॥२०॥

‘मैं किसीका भी नहीं हूँ और न अग्नि कोई बाह्य पदार्थ मेरा है, इस प्रकार परको न अपनाता हुआ निर्विकल्प—निःसंग—योगी सारे कर्मरजको धुन डालता है।’

**व्याख्या**—यहाँ निजंराके एक दूसरे अधिकारीका उल्लेख है और वह है ‘निर्विकल्प योगी’, जिसका स्वरूप है ‘मैं किसीका नहीं हूँ और इसलिए दूसरा कोई भी बाह्य पदार्थ मेरा नहीं है।’ वस्तुतः अकिञ्चन, निःसंग अथवा अपरिमही योगीका यहीं रूप है। जो दूसरे चेतन-अचेतन पदार्थोंको अपने बनाये रखता है वह अपरिमही अथवा अकिञ्चन कैसा? और इसलिए निजंराका अधिकारी नहीं।

दिविकात्माको छोड़कर अन्योपासककी स्थिति

मुक्त्वा विविक्तप्रात्मानं मुक्त्यै येऽन्यमूर्पासते ।  
ते भजन्ति हिमं मूढा विमुच्यामिनं हिमच्छिदे ॥२१॥

‘विविक्त—कर्म कठंक विमुक्त—आत्माको छोड़कर जो अन्धकी उपासना करते हैं वे मूढ़ शीतका नाश करनेके लिए अग्निको छोड़कर हिमका—बर्कका—सेवन करते हैं।’

**व्याख्या**—यहाँ मुक्तिके लिए अकिञ्चन भाव अथवा निःसंगताकी साधनामें परकी उपासनाको भी बाधक बतलाते हुए यह प्रतिपादन किया है कि अपने शुद्ध खालिस आत्माको छोड़कर जो परकी उपासना करते हैं वे मूढ़ शीतके विनाशार्थ अग्निको छोड़कर शीतकारी पदार्थोंका ही सेवन करते हैं।

स्वदेहस्थ परमात्माको छोड़कर अन्यत्र देवोपासककी स्थिति

योऽन्यत्र वीक्षते देवं देहस्थे परमात्मनि ।  
सोऽन्ने सिद्धे गृहे शङ्के भिषां ऋषति मूढधीः ॥२२॥

‘परमात्मदेवके (स्थ)देहमें स्थित होनेपर भी जो देवको अन्यथ हँड़ता है, में समझता हूँ, वह मूँछ बुद्धि घरमें भोजनके तैयार होनेपर भी भिक्षाके लिए भ्रमण करता है।’

**व्याख्या**—यहाँ अपने देहमें स्थित परमात्माकी उपासनाको प्रधानता देते हुए लिखा है कि जो देहस्थ परमात्माको छोड़कर अन्यथ उसकी उपासना करता है वह वस मूँछबुद्धिके समान है जो घरमें भोजनके तैयार होते हुए भी, उसके न होनेकी आशंका करके, भिक्षाके लिए याण भ्रमण करता है।

कौन कर्म-रज्जुओंसे बँधता और कौन छूटता है  
कषायोदयतो जीवो बध्यते कर्मरज्जुभिः ।  
शान्त-क्षीणकषायस्य त्रुट्यन्ति रमसेन ताः ॥२३॥

‘कषायके उदयसे यह जीव कर्म रज्जु रूप बन्धनोंसे बँधता है, जिसके कषाय शान्त अथवा क्षीण हो जाते हैं उसके बे रज्जु-बन्धन शीघ्र टूट जाते हैं।’

**व्याख्या**—जिन कषायोंके उदयसे यह जीव कर्मबन्धनोंसे बँधता है वे सब कर्मोंके बन्धन कषायोंके शान्त तथा क्षीण होने पर शीघ्र ही स्वयं टूट जाते हैं। और इस तरह उनकी निर्जरा हो जाती है।

प्रमादो सर्वत्र पापोंसे बँधता और अप्रमादी छूटता है  
सर्वत्र प्राप्यते पापैः प्रमाद-निर्मुक्तः ।  
प्रमाद-दोष-निर्मुक्तः सर्वत्रापि हि मुच्यते ॥२४॥

‘जिसने प्रमादका आश्रय लिया है—जो सदा प्रमादसे चिरा प्रमादी बना हुआ है—वह सर्वत्र पापोंसे—पाप कर्मोंसे—गहीत होता अथवा बँधता रहता है। और जो प्रमादके दोषसे रहित निप्रमादी है वह सब ठीर पापोंसे मुक्त होता रहता है—नये पाप कर्मोंके बँधनेकी तो बात ही दूर है।’

**व्याख्या**—यहाँ प्रमादके दोषसे निर्मुक्तको निर्जराका अधिकारी बतलाते हुए लिखा है कि ‘जो प्रमादका आश्रय लिये रहता है वह जहाँ कहीं भी हो पापोंसे बँधता है और जो प्रमादसे निर्मुक्त है वह कहीं भी हो पापोंसे छुटकारा पाता है—उसके साथ नये कर्म बन्धको ग्रास नहीं होते और उराने वंथे कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है।

स्वविर्मलतीर्थको छोड़कर अन्यको भजनेवालोंकी स्थिति  
स्वतीर्थममलं हित्वा शुद्धयेऽन्यद् भजन्ति ये ।  
ते मन्ये भलिनाः स्नान्ति सरः संत्यज्य पल्वले ॥२५॥

‘अपने निर्मल आत्मतीर्थको छोड़कर जो शुद्धिके लिए अन्य तीर्थको भजते हैं, में समझता हूँ, वे भलिन प्राणी सरोवरको छोड़कर जोहड़में स्नान करते हैं।’

**व्याख्या**—२५वें पद्ममें परमात्माके देहस्थ होनेकी बात कही गयी है और उस परमात्मा-को छोड़कर अन्यथ देवकी खोजपर कुछ आपत्ति की गयी है, यहाँ उसी देहस्थ परमात्माको अपना निर्मल तीर्थ बतलाया है और वह सूचित किया है कि जो शुद्धिके इच्छुक मलिन प्राणी

अपने उस निर्मल तीर्थको छोड़कर अन्य तीर्थकी उपासना करते हैं वे सरोवरको छोड़कर जोहड़में स्नान करते हैं; क्योंकि दूसरे एक सो आत्मतीर्थसे परतीर्थको प्रधानता प्राप्त होती है, जो कि अत्स्वश्रुतारूप मिथ्यात्मका श्वोतक एक प्रकारका विकार है; दूसरे परमे रागके कारण आत्मा कर्ममलसे लिप्त होता है। अतः स्वतीर्थको छोड़कर परतीर्थका सेवन जोहड़में स्नानके समान है, जिससे निर्मलताके स्थानपर कुछ मलका ही प्रहण होता है। ऐसी आचार्य महोदयने कल्पना की है।

स्वात्मज्ञानेच्छुको परीषहोंका सहना आवश्यक

स्वात्मानमिच्छुभिर्जातुं सहनीयाः परीषहाः ।  
नश्यत्यसहमानस्य स्वात्मज्ञानं परीषहात् ॥२६॥

‘अपने आत्माको जाननेके इच्छुकोंको परीषह सहन करनी चाहिए, जो परीषहोंको सहन नहीं करता उसका स्वात्मज्ञान परीषहोंके उपस्थित होने पर स्थिर नहीं रहता—नाशको प्राप्त हो जाता है।’

**व्याख्या**—पिछले पदमें जिस निर्मल आत्मतीर्थकी बात कही गयी है उसे जो जानने-पहचाननेके इच्छुक हैं उनके लिए यहाँ परीषहोंका सहन करना आवश्यक बतलाया है, जिनकी संख्या आगममें बाईस बतलायी गयी है और उनके नाम हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, अँस, अँच्छर, कृष्ण, अँटि, श्रीनार्य, दिल्या, शश्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सर्कार-पुरस्कार, प्रक्षा, अज्ञान, अदर्शन। इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओं आदि प्रन्थोंमें विस्तारके साथ दिया है। इन परीषहोंको जो सहन नहीं करता है इसका स्वात्मज्ञान नष्ट हो जाता है—अर्थात् प्रथम तो उत्पन्न नहीं होता और यदि उत्पन्न होता भी है तो स्थिर नहीं रहता। इसीसे श्री पूज्यपादाचार्यने लिखा है:—

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसंनिष्ठो ।  
सस्माधायाऽमलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मूलिः ॥

‘जो आत्मज्ञान अदुःख-भावित है—दुःखकी भावना-संस्कृतिको साथमें लिये हुए नहीं है—वह परीषहजन्य दुःखके उपस्थित होनेपर क्षीण हो जाता है, इसलिए जितनी भी अपनेमें शक्ति हो उसके अनुसार मुनिको परीषहजन्य दुःखोंसे अपनेको भावित-संस्कारित करना चाहिए।’

सुख-दुःखमें अनुबन्धका फल

अनुबन्धः सुखे दुःखे न कार्यं निर्जरार्थिभिः ।  
आसै तदनुबन्धेन जायते भूरिकर्मदम् ॥२७॥

‘जो निर्जराके अर्थ—अभिलाषी हैं उनके द्वारा सुखमें तथा दुःखमें अनुबन्ध—अनुबर्तन-रूप सम्बन्ध— नहीं किया जाना चाहिए;—क्योंकि—उस अनुबन्धसे आर्तध्यान उत्पन्न होता है, जो अहुत कर्मोंका बाता है।’

**व्याख्या**—जो कर्मोंकी निर्जराके इच्छुक हैं उन्हें आचार्य महोदयने यहाँ एक बड़ा ही सुन्दर एवं दिलकारी उपदेश दिया है और यह कि उन्हें परीषहोंके उपस्थित होनेपर जो दुःख

होते हैं और परीपद्मोंके अभावमें जो सुख प्राप्त होता है उन सुख-दुःख दोनोंके साथ अपनेको बाँधना नहीं चाहिए—सुखी-दुःखी नहीं होना चाहिए, क्योंकि सुखी-दुःखी होनेसे आर्तिष्ठान बनता है, जो बहुत ज्यादा कर्मबन्धका कारण होता है और उससे निर्जराका लक्ष्य नष्ट हो जाता है। पिछले एक पद्म ( ६ ) में कहा भी है कि यदि सरोवरमें नये जलका प्रवेश हो रहा है तो सरोवरकी रिक्तता कैसी ? अतः नये कर्मबन्धको प्राप्त न हों और पुराने कर्मोंका विच्छेद हो जाये तभी निर्जराकी सार्थकता है। इसके लिए उदयको प्राप्त हुए कर्मोंमें राग-द्वेष न करके समता भावके रखने की बड़ी जरूरत है।

आत्मपूद्धिका साधन आत्मज्ञान, अन्य नहीं

आत्मावशोधतो नूनमात्मा शुद्धयति नान्यतः ।  
अन्यतः शुद्धिमिच्छन्तो विपरीतदशोऽस्तिलाः ॥२८॥

‘निश्चयसे आत्मा आत्मज्ञानसे शुद्ध होता है, अन्यसे नहीं। जो अन्य पवार्यसे शुद्ध चाहते हैं वे सब विपरीतदुष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि हैं।’

**व्याख्या**—जिस स्वात्माको जाननेके लिए २६वें पद्ममें परीपद्मोंको सहनेकी बात कही गयी है उसके परिज्ञानसे ही आत्मामें उत्तरीक्षर शुद्धिकी प्राप्ति होती है। जो लोग किसी दूसरे उपायसे आत्माकी शुद्ध मानते अथवा करना चाहते हैं उन्हें वहाँ विपरीत दृष्टि—मिथ्या दृष्टि बतलाया है। इससे आत्मशुद्धिके लिए आत्मज्ञानका होना परमावश्यक है और सब तो सहायक अथवा निमित्तकारण हो सकते हैं।

परद्रव्यसे आत्मा स्पृष्ट तथा शुद्ध नहीं होता  
स्पृश्यते शोध्यते नात्मा मलिनेनामलेन वा ।  
पर-द्रव्य-बहिर्भूतः परद्रव्येण सर्वथा ॥२९॥

‘आत्मा जो परद्रव्यसे सर्वथा बहिर्भूत है वह परद्रव्यके द्वारा, चाहे वह समल हो या निर्मल, किसी तरह स्पृष्ट तथा शुद्ध नहीं किया जाता।’

**व्याख्या**—इस पद्ममें आत्माकी शुद्धिके सिद्धान्तका निर्देश करते हुए यह बतलाया है कि आत्मा परद्रव्योंसे बहिर्भूत है—किसी भी परद्रव्यका उसके साथ ताद्रात्म्य-सम्बन्ध नहीं बनता—ऐसी स्थितिमें किसी भी परद्रव्यसे, चाहे वह निर्मल हो या समल, जब आत्मा सर्वदा स्पर्शित नहीं होता तब उसके द्वारा शुद्धिको प्राप्त कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। इस तरह आत्माकी शुद्धिमें स्वात्मज्ञानको छोड़कर दूसरे सब उपायोंको वस्तुतः असमर्थ बतलाया है।

स्वात्मरूपकी भावमाका फल परद्रव्यमा त्याग  
स्वरूपमात्मनो भाव्यं परद्रव्य-जिहासया ।  
न जहाति परद्रव्यमात्मरूपाभिभावकः ॥३०॥

‘परद्रव्यके त्यागकी इच्छासे आत्मस्वरूपकी भावना करनो चाहिए। जो परद्रव्यको नहीं छोड़ता वह आत्मस्वरूपका अभिभावक है—अनादर करनेवाला है।’

**ध्याल्या—**पिल्ले पद्यानुसार जब आत्मा परद्रव्यसे सर्वथा बहिर्भूत है तब परद्रव्योंके त्यागकी इच्छासे ही उसकी भावना की जानी चाहिए—न कि परद्रव्योंको साथ लेकर। जो परद्रव्यको नहीं छोड़ता—परद्रव्यमें आसक्ति बनाये रखता है—वह अपने आत्मस्वरूपकी अशक्ता करता है और इसलिए स्वात्मोपलक्षित रूप सिद्धिको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता।

आत्मद्रव्यको जाननेके लिए परद्रव्यका जानना आवश्यक

**विज्ञातव्यं परद्रव्यमात्मद्रव्य-जिज्ञासया ।  
अविज्ञातपरद्रव्यो नात्मद्रव्यं जिज्ञासति ॥३१॥**

'आत्मद्रव्यको प्रहण करनेकी इच्छासे परद्रव्यको जानना चाहिए। जो परद्रव्यके ज्ञानसे रहित है वह आत्मद्रव्यके प्रहणकी इच्छा नहीं करता।'

**ध्याल्या—**यहाँ परद्रव्यको जाननेकी हप्तिका निर्देश किया गया है और वह है अपने आत्मद्रव्यको प्रहणकी हप्ति। जो अपने साथ रखेमिले परद्रव्यको नहीं जानता—पहचानता उसे अपने आत्मद्रव्यको पृथक् रूपसे प्रहणकी इच्छा ही नहीं होती। जिसको स्व-परका भेद-विज्ञान न होनेसे आत्मद्रव्यके पृथक् रूपसे प्रहणकी इच्छा तथा भावना नहीं होती वह पिल्ले पद्यमें यथिंत परद्रव्यके त्यागकी इच्छासे स्वात्मरूपकी भावना कैसे कर सकता है? नहीं कर सकता। अतः शुद्धस्वात्मद्रव्यकी उपलक्षित रूप सिद्धिकी हप्तिसे परद्रव्यका जानना आवश्यक है—अन्यथा स्वात्मोपलक्षित नहीं होती।

जगत्के स्वभावको भावनाका लक्ष्य

**स्व-तत्त्वरक्तये नित्यं परद्रव्य-विरक्तये ।  
स्वभावो जगतो भाव्यः समस्तमलशुद्धये ॥३२॥**

'स्वतत्त्वमें अनुरक्ति, परद्रव्योंसे विरक्ति और समस्त कर्ममलकी शुद्धिके लिए जगत्का स्वभाव भावना किये जानेके योग्य है।'

**ध्याल्या—**यहाँ जगत्के स्वभावकी सदा भावना करनेका उपदेश दिया है और उसके तीन उद्देश्य घटलाये हैं—एक स्वात्मद्रव्यमें रक्ति, दूसरा परद्रव्यसे विरक्ति और तीसरा समस्त कर्ममलसे आत्माकी शुद्धि। समस्त कर्ममलमें द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप तीनों प्रकारका कर्ममल आता है। जगत् छह द्रव्योंसे बना है—जीव, पुरुष, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन छहोंके यथार्थ स्वरूपके चिन्तनमें जगत्के स्वभावकी सारी भावना आ जाती है। ग्रन्थके प्रथमादि अधिकारोंमें इनका कितना ही वर्णन आ चुका है।

एक आश्रव्यकी बात

**यत् पञ्चाभ्यन्तरैः पापैः सेव्यमानः प्रवध्यते ।  
न तु पञ्चवहिर्भूतैराश्वयैः किमतः परम् ॥३३॥**

'जो जीव अन्तरंगमें स्थित पापोंसे सेव्यमान है वह तो बन्धको प्राप्त होता है किन्तु जो बहिर्भूत पापोंपापोंसे सेव्यमान नहीं है वह बन्धको प्राप्त नहीं होता इसले ज्यादा आश्रव्यकी बात और क्या है?'

— १. मुक्तीनुमिष्ठया ।    २. मु जगता ।    ३. मु पञ्चवहिर्भूतमाश्वय ।

**व्याख्या—**अन्तरंग सेनाके अंगरक्षक जयानौकी सेवाको प्राप्त एवं सुरचित हुआ राजा शत्रुसे बाँधा नहीं जाता; परन्तु जब वे अंगरक्षक उसकी सेवामें नहीं होते और राजा अकेला पढ़ जाता है तब वह शत्रुसे बाँध लिया जाता है। यहाँ इस लोक-स्थितिके विपरीत यह दिक्षलाया है कि जो जीव अन्तरंगमें स्थित पाँच पापरूप अंगरक्षकोंसे सेवित है वह तो कर्म शत्रुसे बाँध जाता है परन्तु जिसके डक पाँच सेवक वहिमृत हो जाते हैं—उसकी सेवामें नहीं रहते—और वह अकेला पढ़ जाता है उसे कर्मशत्रु बाँधनेमें असमर्थ हैं। लोकन्यवहार एवं प्रत्यक्षके विरुद्ध होनेसे इसपर भारी आश्र्य द्यक्ष किया गया है। और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि जिन पापोंको तुम अपने संगीन्साधी एवं रक्षक ममधते हो वे सब बस्तुतः नुम्हारे बन्धके कारण हैं, उनका साथ छोड़नेपर ही तुम बन्धको प्राप्त नहीं हो सकोगे। अज्ञानी प्राणी समझता है कि मैं हिंसा करके, झूठ थोलकर, चोरी करके, विषय सेवन करके और परिप्रहको बहाकर आत्मसेया करता हूँ—अपनी रक्षा करता हूँ, यह सब भूल है; इन पाँचों पापोंसे, जो कि वास्तवमें सेवक-रक्षक न होकर अन्तरंग शत्रु हैं, कर्मोंका बन्धन छढ़ होता है अतः जो कर्मोंके बन्धनसे बँधना नहीं चाहते उन्हें अपने हड्डियसे इन पाँचों पापोंको निकाल बाहर कर देना चाहिए, तभी अबन्धता और अपनी रक्षा बन सकेगी।

ज्ञानकी आराधना जानकी, अज्ञानकी अज्ञानको देती है

‘ज्ञानस्य ज्ञानमज्ञानमज्ञानस्य प्रयच्छति ।  
आराधना कृता यस्माद् विद्यमानं प्रदीयते ॥३४॥

‘ज्ञानकी आराधना ज्ञानको, अज्ञानको आराधना अज्ञानको प्रदान करती है; क्योंकि जिसके पास जो बस्तु विद्यमान है वही दी जाती है।’

**व्याख्या—**जिसके पास जो बस्तु विद्यमान है उसीको यह दे सकता है, यह एक सिद्धान्तकी बात है। ज्ञानके पास ज्ञानको छोड़कर और अज्ञानके पास अज्ञानको छोड़कर दूसरी कोई बस्तु नहीं अतः ज्ञानकी आराधना करने पर ज्ञान और अज्ञानकी आराधना करने पर अज्ञान प्राप्त होता है।

ज्ञानके ज्ञात होनेपर हानी जाना जाता है

न ज्ञान-ज्ञानिनोभेदो विद्यते सर्वथा यतः ।  
ज्ञाने ज्ञाते ततो ज्ञानी ज्ञातो भवति तत्त्वतः ॥३५॥

‘क्योंकि ज्ञान और ज्ञानीमें सर्वथा भेद विद्यमान नहीं है इसलिए ज्ञानके ज्ञात होनेपर बस्तुतः ज्ञानी ज्ञात होता है—जाना जाता है।’

**व्याख्या—**ज्ञान और ज्ञानी एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न नहीं हैं। ज्ञान गुण है, ज्ञानी गुणी है, गुण-गुणीमें सर्वथा भेद नहीं होता; दोनोंका तात्त्व-सम्बन्ध होता है और इसलिए वास्तवमें ज्ञानके मालूम पढ़ने पर ज्ञानी ( आत्मा ) का होना जाना जाता है। यहाँ सर्वथा भेद न होनेकी जो बात कही गयी है वह इस बातको सूचित करती है कि दोनोंमें कथंचित्

१. अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः । ददाति यत् यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥२३॥  
— इषोपदेशे पूज्यवाचः ।

मेव है, जो कि संज्ञा ( नाम ), संख्या, लक्षण तथा प्रयोजनादिके भेदकी दृष्टिसे हुआ करता है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

संज्ञा-संख्या-विशेषात्मक स्वलक्षण-विशेषतः ।  
प्रयोजनादि-भेदात्मक तत्त्वानात्मं न सर्वथा ॥—देवागम ७२ ।

ज्ञानानुभवसे हीनं अर्थज्ञान नहीं पूर्ण

ज्ञानं स्वात्मनि सर्वेण प्रत्यक्षमनुभूयते ।  
ज्ञानानुभवहीनस्य नार्थज्ञानं प्रसिद्धुर्थति ॥३६॥

‘सबके द्वारा अपने आत्मामें ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है। जो ज्ञानके अनुभवसे रहित है उसके पदार्थका ज्ञान सिद्ध नहीं होता’ ॥

**व्याख्या**—सभी प्राणी किसी भी इन्द्रियके द्वारा अपने आत्मामें ज्ञानका अनुभव करते हैं, यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। जिसे अपनेमें कुछ भी ज्ञानका अनुभव नहीं होता उसके किसी भी पदार्थका कोई ज्ञान नहीं बनता। छुईसुई ( लाजघन्ती ) नामका पौधा जब स्पर्शन-इन्द्रियके द्वारा यह महसूस करता है कि उसको किसीने छुआ—उसपर कोई आपत्ति आयी—तो वह अपनेको संकुचित कर लेता अथवा मृतरूपमें प्रदर्शित करता है, इससे उसके स्पर्श-विषयक अर्थज्ञानका होना पाया जाता है और इसलिए उसमें ज्ञान-शुण धारक ज्ञानीका अस्तित्व सिद्ध होता है—चाहे वह ज्ञान कितनी ही थोड़ी मात्रामें विकसित क्यों न हो ।

जिस परोक्षज्ञानसे विषयको प्रतीति उससे ज्ञानीकी प्रतीति क्यों नहीं ?

प्रतीयते परोक्षेण ज्ञानेन विषयो यदि ।  
सोऽनेन परकीयेण तदा किं न प्रतीयते ॥३७॥

‘परोक्ष ज्ञानके द्वारा यदि विषय प्रतीत किया जाता है तो इस परकीय ( परोक्ष ) ज्ञानके द्वारा ज्ञानी आत्माकी प्रतीति क्यों नहीं होती ?’

**व्याख्या**—मति, श्रुत, अवधि, भनःपर्यय और केवल इन पाँच सम्बन्धानोंमें आदिके द्वारा ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहे जाते हैं। इन परोक्ष ज्ञानोंसे जब इन्द्रियोंका विषय-समूह प्रतीति-गोचर होता है तब आत्मा जो ज्ञानका विषय होता है वह इस परोक्ष ज्ञानके द्वारा क्यों प्रतीति-गोचर नहीं किया जाना चाहिए ? किया जाना ही चाहिए। होते होनेसे वह भी ज्ञान अथवा ज्ञानीका विषय है—मले ही परोक्ष रूपमें क्यों न हो ।

जिससे पदार्थ जाना जाय उससे ज्ञानी न जाना जाय, वह क्यै ?

येनार्थो ज्ञायते तेन ज्ञानी न ज्ञायते कथम् ।  
उद्योतो दृश्यते वेन दीपस्तेन तरा न किम् ॥३८॥

‘जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है उसके द्वारा ज्ञानी ( ज्ञाना ) केसे नहीं जाना जाता ? जिसके द्वारा उद्योत ( प्रकाश ) देखा जाता है उसके द्वारा क्या देखा जाता ?—देखा ही जाता है ।

**व्याख्या—**पिछले पदके विषयको यहाँ दीपक और उसके प्रकाशदर्शनके उदाहरण-द्वारा स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार दीपकके प्रकाशको देखनेवाला दीपकको भी देखता है, उसी प्रकार जो ज्ञेय रूप पदार्थको जानता है, वह उसके ज्ञायक अथवा ज्ञानीको भी जानता है, न जाननेकी बात कैसी?

वेदको जानना वेदकको न जानना आशचर्यकारी

**विदन्ति दुर्घिष्ठो वेद्यं वेदकं न विदन्ति किम् ।  
द्योत्यं पश्यन्ति न द्योतमाश्चर्यं चतु कीदशम् ॥३९॥**

‘दुर्घिष्ठि वेदको तो जानते हैं वेदकको क्यों नहीं जानते? प्रकाशको तो देखते हैं किन्तु प्रकाशकको नहीं देखते, यह कैसा आशचर्य है?’

**व्याख्या—**निःसन्देह ज्ञेयको जानना और ज्ञायकको—ज्ञान या ज्ञानीको—न जानना एक आशचर्यकी बात है, उसी प्रकार जिस प्रकाशकि प्रकाशित वस्तुको तो देखना किन्तु प्रकाशको न देखना। ऐसे ज्ञायक-विषयमें अज्ञानियोंको यहाँ दुर्घिष्ठि—विकार-मसित बुद्धि बाले—बतलाया है। पिछले पदमें दीपक और उसके उद्योतकी बातको लेकर विषयको स्पष्ट किया गया है, यहाँ उद्योत और उसके द्वारा द्योतित ( द्योतनीय ) पदार्थ—की बातको लेकर उसी विषयको स्पष्ट किया गया है। द्योतक, द्योत और द्योत्यका जैसा सम्बन्ध है वैसा ही सम्बन्ध ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका है। एकके जानने-से दूसरा जाना जाता है। जिसे एकको जानकर दूसरेका बोध नहीं होता वही सचमुच दुर्घिष्ठि है।

ज्ञेयके लक्ष्यसे आत्माके शुद्धरूपको जानकर ज्ञानेका फल

**ज्ञेय-लक्ष्येण विज्ञाय स्वरूपं परमात्मनः ।  
व्यापृश्य लक्ष्यतः शुद्धं इयायतो हानिरहस्यम् ॥४०॥**

‘ज्ञेयके लक्ष्य-द्वारा आत्माके परमस्वरूपको जानकर और लक्ष्यरूपसे व्यापृत होकर शुद्ध स्वरूपका ध्यान करनेवालेके कर्मोंका नाश होता है।’

**व्याख्या—**जो लोग ज्ञेयको जाननेमें प्रवृत्त होते हुए भी ज्ञायकको जाननेमें अपनेको असमर्थ बतलाते हैं उन्हें यहाँ ज्ञेयके लक्ष्यसे आत्माके उक्तुष्ट स्वरूपको जाननेकी बात कही गयी है और साथ ही यह सुझाया गया है कि इस तरह शुद्ध स्वरूपके सामने आनेपर ज्ञेयके लक्ष्यको छोड़कर अपने उस शुद्ध स्वरूपका ध्यान करो, इससे कर्मोंकी निर्जरा होती है।

पूर्वं कथनका उदाहरण-द्वारा स्पष्टीकरण

**‘चट्टुकेन यथा भोज्यं शृङ्खित्वा स चिमुच्यते ।  
गोचरेण तथात्मानं विज्ञाय स चिमुच्यते ॥४१॥**

‘जिस प्रकार कड़छी-न्यामध्यसे भोजन पहले करके उसे छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार गोचरके—ज्ञेय लक्ष्य-द्वारा आत्माको जानकर वह छोड़ दिया जाता है।’

१. आ जामलक्षणे । २. दीपहस्तो यथा करिवटिकं चिदालोक्य तं त्यजेत् । ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात्तं ज्ञानमुत्सुजेत् ॥ —यशस्तिलक ।

**व्याख्या—** यहाँ कहुँछी-चम्मचके उदाहरण-द्वारा पूर्व पद्ममें बाणित विषयको स्पष्ट किया गया है। कहुँछी-चम्मचका उपयोग जिस प्रकार भोजनके महण करनेमें किया जाता है, उसी प्रकार आत्माके जाननेमें ज्ञेयके लक्ष्यका उपयोग किया जाता है। आत्माका महण (जानना) हो जानेपर ज्ञेयका लक्ष्य छोड़ दिया जाता है, और अपने भ्रह्मीत स्वरूपका ध्यान किया जाता है।

आत्मोपलक्षिपर ज्ञानियोंकी सुख-स्थिति

**उपलब्धे यथाहारे दोषहीने सुखासिकः ।  
आत्मतत्त्वे तथा द्विग्रनित्यहो ज्ञानिनां रतिः ॥४२॥**

‘दोषरहित आहारके उपलब्ध होनेपर जिस प्रकार सुख मिलता है, उसी प्रकार आत्म-तत्त्वके उपलब्ध होनेपर शोषण सुख मिलता है, यह ज्ञानियोंकी आत्मतत्त्वमें कैसी रति है!'

**व्याख्या—** निर्दोष भोजनके मिलनेपर जिस प्रकार प्राणियोंकी शीघ्र ही सुखसे स्थिति होती है उसी प्रकार दुष्ट आत्मतत्त्वरूप भोजनके मिल जानेपर ज्ञानियोंकी सुखपूर्वक स्थिति होती है, यह ज्ञानियोंकी आत्मतत्त्वमें रुचिका वैचित्र्य है—वे उसीमें लीन रहकर सुखका अनुभव करते हैं।

आत्मतत्त्वरतोंके द्वारा परद्रव्यका त्याग

**परद्रव्यं यथा सञ्जिहर्त्वा दुःख-विभीरुभिः ।  
दुःखदं त्यज्यते दूरमात्मतत्त्वरतैस्तथा ॥४३॥**

‘जिस प्रकार दुःखसे भयभीत सत्युक्तोंके द्वारा पर-द्रव्य दूरसे ही छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार आत्म-तत्त्वमें लीन व्यक्तियोंके द्वारा परद्रव्य दूरसे ही छोड़ दिया जाता है।’

**व्याख्या—** दुःखसे भयभीत हुए सज्जन जिस प्रकार पर-द्रव्यको दुःखदायी समशक्त उसे दूरसे ही त्याग देते हैं—महण नहीं करते—उसी प्रकार जो आत्मतत्त्वमें रत हैं वे परद्रव्यको महण नहीं करते—उसमें आसक्त नहीं होते।

विशोधित ज्ञान तथा अज्ञानकी स्थिति

**ज्ञाने विशोधिते ज्ञानमज्ञानेऽज्ञानमूर्जितम् ।  
शुद्धं स्वर्णमिदं स्वर्णे लोहे लोहमिचारनुते ॥४४॥**

‘ज्ञानके विशोधित होनेपर ज्ञान और अज्ञानके विशोधित होनेपर अज्ञान ऊर्जित—अतिशय-को प्राप्त—होता है, जैसे स्वर्णके विशोधित होनेपर शुद्ध स्वर्ण और लोहके विशोधित होनेपर शुद्ध लोहा गुणवृद्धिको प्राप्त होता है।’

**व्याख्या—** ज्ञानमें जो कुछ अज्ञान मिला हो उसको दूर करना ‘ज्ञानका विशोधन’ और अज्ञानमें जो कुछ ज्ञान मिला हो उसका दूर करना ‘अज्ञानका विशोधन’ कहलाता है। यह विशोधित हुआ ज्ञान विशोधित शुद्ध स्वर्णके समान सातिशय शुद्ध ज्ञान होता है और यह विशोधित हुआ अज्ञान विशोधित शुद्ध लोहके समान विशुद्ध (खालिस ) अज्ञान होता है।

निर्मल चेतनमें मोहक दिखाई देनेका हेतु

प्रतिविम्बं यथादर्शं दृश्यते परसंगतः ।  
चेतने निर्मले मोहस्तथा<sup>१</sup> कलमषसंगतः ॥४५॥

‘जिस प्रकार निर्मल दर्पणमें परके संयोगसे प्रतिविम्ब विखाई देता है उसी प्रकार निर्मल चेतनमें कर्मके सम्बन्धसे मोह विखाई देता है ।’

**व्याख्या**—निर्मल दर्पणमें जो प्रतिविम्ब दिखाई पड़ता है उसका कारण उस परद्रव्यका सम्बन्ध है जो लेपादिके रूपमें पृष्ठभागपर लगा रहता है। निर्मल आत्मामें भी जो मोह दिखाई पड़ता है उसका कारण कषायादिरूप द्रव्यकर्मका सम्बन्ध है। यदि द्रव्यकर्मका सम्बन्ध न हो तो भाव मोहका दर्शन नहीं हो सकता ।

शुद्धिके लिए ज्ञानाराधनमें बुद्धिको लगानेकी प्रेरणा  
धर्मेण वासितो जीवो धर्मे पापे न वर्तते ।  
पापेन वासितो नुनं पापे धर्मे न सर्वदा ॥४६॥  
ज्ञानेन वासितो ज्ञाने नाहानेऽसौ कदाचन ।  
यतस्ततो मतिः कार्या ज्ञाने शुद्धिः<sup>२</sup> विघित्सुभिः ॥४७॥

‘धर्मसे वासित—संस्कारित हुआ जीव निष्ठयसे धर्ममें प्रवर्तता है, अधर्ममें नहीं। पापसे वासित—संस्कारित हुआ जीव सदा पापमें प्रवृत्त होता है, धर्ममें नहीं। और ज्ञानसे संस्कारित हुआ जीव ज्ञानमें प्रवृत्त होता है अज्ञानमें क्वाचित् नहीं, इसलिए शुद्धिकी इच्छा रखनेवालोंके द्वारा ज्ञानमें—ज्ञानकी उपासना-आराधनामें—बुद्धि लगायी जानी चाहिए ।’

**व्याख्या**—यहाँ ‘धर्म’शब्दके द्वारा पुण्य-प्रसाधक कर्मका उल्लेख करते हुए, पुण्य-पाप सथा ज्ञानकी उपासना—भावना अथवा संस्कृतिको प्राप्त व्यक्तियोंकी अलग-अलग प्रवृत्तिका उल्लेख किया गया है। जो लोग पुण्य धर्मकी भावनासे भावित अथवा संस्कारित होते हैं वे पुण्यकर्ममें प्रवृत्त होते हैं—पापकर्ममें नहीं। और पापकी बासनासे वासित अथवा संस्कारित होते हैं वे सदा पापकर्ममें प्रवृत्ति करते हैं—पुण्य कर्ममें नहीं। और जो ज्ञान-भावनासे भावित अथवा संस्कारित होते हैं वे सदा ज्ञानाराधनमें प्रवृत्त होते हैं—अज्ञानकी साधनामें कभी नहीं। प्रथम दो प्रवृत्तियों तथा निवृत्तियोंका फल शुभ-अशुभ कर्मका बन्ध है, जिससे आत्माकी शुद्धि नहीं बनती अतः आत्माकी शुद्धि चाहनेवालोंके लिए यहाँ ज्ञानाराधनमें अपनी बुद्धिको लगानेकी प्रेरणा की गयी है। ज्ञानाराधनमें बुद्धिको लगाना एक बड़ा तपश्चरण है, जिससे निरन्तर कर्मकी निर्जरा होती है ।

निर्मलताको प्राप्त जानी अज्ञानको नहीं अपनाता  
ज्ञानी निर्मलता प्राप्तो न ज्ञानं प्रतिष्ठते ।  
मलिनत्वं कुतो याति काङ्क्षने हि विशेषितम् ॥४८॥

१. आ मोहस्तथा । २. आ सिद्धि । ३. आ जाति ।

'निर्मलताको प्राप्त हुआ ज्ञानी अज्ञानको प्राप्त नहीं होता ( ठीक है ) विशेषित स्वर्ण मलिनताको कैसे प्राप्त होता है ? नहीं होता ।'

**व्याख्या**—अनादि सम्बन्धको प्राप्त किटु-कालिमासे विशेषित हुआ सुवर्ण जिस प्रकार पुनः उस मलिनताको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार अनादि कर्ममलका सम्बन्ध पूर्णतः छूटनेपर निर्मलताको प्राप्त हुआ ज्ञानी पुनः अज्ञानको प्राप्त नहीं होता । यहै जिस निर्मल ज्ञानीका उल्लेख है वह सौकृत्यके अनन्तर ज्ञानावरण और अन्तराय नामके ग्रातिथा कर्मके क्रयसे समुलभ्र के बलज्ञानका धनी ज्ञानी है ।

विद्वान्‌के अध्ययनादि कर्मोंके दिशाका निर्देश

अध्येतव्यं स्तिमितमनसा ध्येयमाराधनीयं  
पृच्छाच्चं श्रव्यं भवति विदुषाभ्यस्यप्रवर्जनीयम् ।  
वेद्यं गद्यं किमपि तदिह प्रार्थनीयं विनेयं  
हश्यं स्पृश्यं प्रभवति यतः सर्वदात्मस्थिरत्वम् ॥४६॥

'इस लोकमें विद्वान्के द्वारा वह कोई भी पवार्य स्थिर चित्तसे अध्ययनके योग्य, ध्यानके योग्य, आराधनके योग्य, पूछनेके योग्य, सुननेके योग्य, अभ्यासके योग्य, संग्रहणके योग्य, ज्ञाननेके योग्य, कहनेके योग्य, प्रार्थनाके योग्य, प्राप्त करनेके योग्य, देखनेके योग्य और स्पर्शके योग्य होता है, जिससे—जिसके अध्ययनादिसे—आत्मस्वरूपकी स्थिरता सबा वृद्धिको प्राप्त होती है ।'

**व्याख्या**—इस पव्यमें एक विद्वान्के लिए अध्ययनादि-विषयक जीवनके लक्ष्यको बढ़ी सुन्दरताके साथ व्यापक रूपमें व्यक्त किया है । वह लक्ष्य है अपने आत्मस्वरूपमें स्थिरता-की उत्तरोत्तर वृद्धि । इसी लक्ष्यको लेकर किसी भी पदार्थका अध्ययन, ध्यान, आराधन, पूछन, अवण, अभ्यासन, ग्रहण, वेदन, कथन, याचन, दर्शन तथा स्पर्शन होना चाहिए । यदि उस लक्ष्य नहीं तो अध्ययनादि प्रायः व्यर्थ है । उससे कोई खास लाभ नहीं—उल्टा शक्तिका दुरुपयोग होता है ।

योगीका संधिष्ठ कार्यक्रम और उसका फल

इतर्थं योगी व्यपगतपर-द्रव्य-संग्रहसङ्गो  
नीत्वा कामं व्यपल-करण-नामपन्तमुखत्वम् ।  
ध्यात्वात्मानं विशद्वरण-ज्ञान-दृष्टिस्वभावं,  
नित्यज्योतिः पदमनुपर्म याति निर्जीर्णकर्मा ॥५०॥

इति भीमद्वितीयति-निःसंगश्योगिराज-विरचिते योगसारप्राभृते निर्जराविकारः ॥५०॥

इस प्रकार पर-द्रव्यके संग-प्रसंगसे रहित हुआ कर्मोंकी निर्जरा करनेवालम् योगी अंचल इग्निय समूहको यथेष्टु ( अधिवा पर्याप्त ) अन्तर्मुख करके और विशुद्ध-वर्णन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव रूप आत्माका ध्यान करके । उस शाश्वत ज्योतिरूप परमात्मपदको प्राप्त होता है जिसकी कोई उपमा नहीं ।

**व्याख्या—**—इस पदमें छठे अधिकारका उपसंहार करते हुए कर्मोंकी निर्जरा करनेवाले योगीके रूपरूपको, ध्यान विषयको और ध्यानके फलको संझेष्टमें स्पष्ट किया गया है । योगी-का स्वरूप है परद्रव्योंके संग-प्रसंगसे अलग होकर इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करनेवाला । इस योग्यता-सम्पादनके साथ उसके ध्यानका विषय है सच्चरदर्ढन-ज्ञान-चारित्र स्वभावको लिये हुए शुद्ध आत्मा और इस ध्यानका अन्तिम फल है शाश्वत ज्योति स्वरूप अनुपम परमात्मपदकी प्राप्ति ।

इस प्रकार श्री अमितगढ़ि-निःसंग योगिराज-चिरचित् योगसार-प्रामुहमें निर्जरा  
अधिकार नामका छठा अधिकार समाप्त हुआ ॥६॥

## मोक्षाधिकार

मोक्षका स्वरूप

'अभावे बन्ध-हेतुमाँ निर्जरायां च भास्वरः'<sup>१</sup> ।  
समस्तकर्म-विश्लेषो मोक्षो बाच्योऽपुनर्भवः ॥१॥

'कर्मबन्धके कारणोंका अभाव होनेपर और ( संचित कर्मोंकी ) निर्जरा होनेपर (आत्मा-से) निःशेष कर्मोंका जो विश्लेष है—सम्बन्धाभाव अथवा पृथकीभवन है—वह भास्वर मोक्ष है, जिसे 'अपुनर्भव' कहते हैं—क्योंकि मोक्षके पश्चात् फिर संसारमें जन्म नहीं होता ।'

व्याख्या—‘मोक्ष’ नामक सातवें अधिकारका प्रारम्भ करते हुए यहाँ सबसे पहले मोक्षका स्वरूप दिया गया है और वह ही आत्मासे समस्त कर्मोंका पूर्णतः सम्बन्धाभाव, जिसे ‘विश्लेष’ तथा ‘विप्रमोक्ष’ भी कहते हैं और वह तभी बनता है जब बन्धके मिथ्या दर्शनादि वे सभी हेतु नष्ट हो जाते हैं जिनका आखब तथा बन्ध अधिकारोंमें बर्णन है, साथ ही संचित कर्मोंकी पूर्णतः निर्जरा भी हो जाती है, जिससे न कोई नया कर्म बन्धको प्राप्त हो सकता है और न कोई पुराना कर्म अवशिष्ट ही रहता है। इस तरह सर्व प्रकारके समस्त कर्मोंका जो सदाके लिए पृथकीभवन (सम्बन्धाभाव) है उसे ‘मोक्ष’ कहते हैं जिसका दूसरा नाम यहाँ ‘अपुनर्भव’ बतलाया है, क्योंकि भव प्राप्ति अथवा संसारमें पुनः जन्म लेनेका कारण कर्मस्थी बीज था, वह जब जलकर नष्ट हो गया तब फिर उसमें अंकुर नहीं उगता। कहा भी है—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाश्चुरः ।  
कर्म-शीओ तथार दग्धे न प्ररोहति भवाच्चुरः ॥—तत्त्वार्थसार-८७ ।

आत्मामें केवलज्ञानका उदय कब होता है

उद्देति केवलं जीवे<sup>२</sup> मोह-विद्नावृति-क्षये ।  
भानु-विम्बमिदाकाशे भास्वरं तिमिरात्यये ॥२॥

‘मोह आस्तराय और आवरणोंका क्षय होनेपर जात्मामें केवलज्ञान उसी प्रकार उदयको प्राप्त होता है जिस प्रकार ( रात्रिका घोर ) अन्धकार दूर होनेपर आकाशमें सूर्य विम्ब उदयको प्राप्त होता है ।’

व्याख्या—यहाँ ‘मोह’ शब्दसे समूचा मोहनीय कर्म विवक्षित है, जिसकी मिथ्यात्व तथा कारणादिके रूपमें २८ प्रकृतियाँ हैं; ‘विद्न’ शब्दसे सारा अन्तराय कर्म विवक्षित है, जिसकी दान-लाभ-भोग-जपभोग-श्रीर्थ नामसे ५ प्रकृतियाँ हैं, ‘आवृति’ शब्दसे आवरण विवक्षित है,

१. बन्धहेतुभाव-निर्जरायां कुम्हनकर्म-विप्रमोक्षा मोक्षः । —त० सूक्त १०-२ । २. आ निर्जरायास्व भावतः । ३. आ जीवो ।

जो ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्मके रूपमें दो प्रकारका है। इस तरह जिन चार मूल प्रकृतियों-का यहाँ उल्लेख है उन्हें धाति कर्म प्रकृतियों कहा जाता है। उनके पूर्णतः आय होने पर आत्मा-में केवलज्ञानका उदय उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि रात्रिका और अन्धकार नष्ट होने पर आकाशमें देवीप्यमान सूर्यबिस्तका उदय होता है।

दोषोंसे मलिन आत्मामें केवलज्ञान उदित नहीं होता

न दोषपलिने तश्च प्रादुर्भवति केवलम् ।  
आदर्शे न मलग्रस्ते किञ्चिद्दूर्लभं प्रकाशते ॥३॥

‘आत्माके दोषोंसे मलिन होनेके कारण उसमें केवलज्ञान प्रादुर्भूत नहीं होता ( जैसे ) मलसे अभिभूत दर्पणमें रूप कुछ प्रकाशित नहीं होता ।’

**व्याख्या**—यहाँ पिछली ( केवलज्ञानके उदयकी ) बातको और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो आत्मा दोषोंसे—राग-द्वेष-काम-क्रोधादि मलोंसे—मलिन है उसमें केवलज्ञान उसी प्रकारसे उदयको प्राप्त नहीं होता जिस प्रकार धूल-भूसरित दर्पणमें कुछ भी दिखाई नहीं पढ़ता। रूपके ठीक दिखलाई देनेके चास्ते जिस प्रकार दर्पणका निर्भल होना परमाचश्यक है उसी प्रकार केवलज्ञानके उदयके लिए उस चतुर्थिंश धाति कर्ममलका नष्ट होना परमाचश्यक है। जिसका पिछले पद्ममें उल्लेख है।

मोहादि-दोषोंका नाश शुद्धात्मध्यानके विना नहीं होता

न मोह-प्रभृति-च्छेदः शुद्धात्मध्यानतो विना ।  
कुलिशेन विना यैन भूधरो भिन्थते न हि ॥४॥

‘शुद्ध आत्माके ध्यानके विना मोहादि कर्मोंका छेद उसी प्रकार नहीं बनता जिस प्रकार कि वज्रके विना पर्वत नहीं भेदा जाता ।’

**व्याख्या**—जिन मोहादि चार धातिया कर्मोंके पूर्णतः आय होनेपर केवलज्ञानका उदय अवलम्बित है उनका वह आय शुद्ध आत्माके ध्यानके विना नहीं बनता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि वज्रके विना पर्वतका भेदन नहीं हो सकता। इस तरह यहाँ शुद्ध आत्माके ध्यान-को कर्मरूपी पर्वतोंके विदारणार्थ उपाय रूपमें निर्दिष्ट किया है, जो किसीके अधीन न होकर स्वाधीन है। मोहादिकर्मसमूहको भूधरकी उपमा उसके कठिनतासे विदीर्घ होनेका सूचक है।

ध्यान-वज्रसे कर्मग्रन्थिका छेद अतीवतन्त्रोत्पादक

विभिन्ने सति दुर्भेदकर्म-ग्रन्थि-महीधरे ।  
तीचणेन ध्यानवज्रेण भूरि-संक्लेश-कारिणि ॥५॥  
आनन्दो जायतेऽत्यन्तं तापिकोऽस्प महात्मनः ।  
औषधेनेव सव्याधेव्याधेरभिमवे कुते ॥६॥

‘बहुत भारी संकलेशना कारण और कर्म प्रनिवृत्ति दुर्भेद पर्वत है उसके ध्यानलव्ही तीक्ष्ण वज्रसे छिप-भिज होनेपर इस योगी भगवान्माके अतीव तास्त्विक ( असली ) आनन्द उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि रोगसे वीड़ित रोगोंके औषधसे रोगके दूर हो जानेपर यथेष्ट आनन्द प्राप्त होता है ।’

**ध्यात्वा**—जिस पर्वतके भेदनकी धात विछले पदमें कही गई है, वह उसीही गाँठोंवाला बड़ा ही दुर्भेद और अतीव दुखदायी पर्वत है। उसे शुद्धात्माके ध्यान रूप तीक्ष्ण वशके द्वारा ही भेदन किया जाता है—अन्यके द्वारा उसका आत्मासे पूर्णतः भेदन—विषट्टन नहीं बनता। उस दुर्भेद एवं महादुखदायी कर्म पर्वतका उक्त ध्यानवशसे भेदन—विलोपण हो जानेपर ध्याता महात्माको अत्यन्त वास्तविक आनन्दकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि व्याधिसे पीड़ित रोगीको औषध-द्वारा व्याधिके मूलतः नष्ट हो जानेपर होती है।

किस के बलीको कब धर्म-देशना होती है

साप्तदशीन्द्रियानर्थान् दृष्ट्वा केवलचक्रुपा ।

प्रकृष्ट-पुण्य-सामध्यति प्रातिहार्यसमन्वितः ॥७॥

अवन्ध्य-देशनः श्रीमान् यथाभव्य-नियोगतः ।  
महात्मा केऽली कश्चिव देशनायां प्रवर्तते ॥५॥

‘केवलज्ञान-दर्शनरूप अध्ययन से अतीनिद्रिय पदार्थोंको साजात्, देख-जानकर, प्रकृष्ट पुण्यके सामर्थ्यसे ( अप्र ) प्रातिहार्यसे युक्त धीसम्पन्न अमोघ-देवाना-शक्तिको प्राप्त कोई केवली महात्मा, जैसा भवय जीवोंका नियोग होता है उसके अनुसार, देवानामें—धर्मोपदेशके देसेमें—प्रवृत्त होता है ।’

**व्याख्या**—जो पदार्थ इन्द्रिय-गोचर नहीं थे उन अतीनिदिव पदार्थोंका भी केवलज्ञानी-को केवल नेत्रके द्वारा साक्षात् दर्शन होता है यह बात यहाँ पहले पश्चमे बतलायी गयी है, उसके पश्चात् महात्मा केवलीकी धर्मोपदेशके देनेमें प्रवृत्तिकी दूसरी बात कही गयी है। इस दूसरी खातके प्रखण्डमें केवलीका 'किञ्चित्' विशेषण अपना खास महत्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि सभी केवलज्ञानी धर्मोपदेशके देनेमें प्रबृत्त नहीं होते—उसमें-से कोई महात्मा ही धर्मोपदेशके देनेमें प्रबृत्त होते हैं और वे वही होते हैं जो सातिशय पुण्योदयके प्रभावसे उन प्रातिहायोंको प्राप्त करते हैं, जिनकी संख्या आगममें आठ कही गयी है और वे हैं—१ अशोकवृश्च, २ सुरपुष्पवृश्चि, ३ दिव्यध्वनि, ४ चैत्र, ५ लघ्र, ६ सिंहासन, ७ भासंबल & दुन्दुभि।<sup>१</sup> साथ ही अमोघ देशना शक्तिसे युक्त होते हैं—जिनकी धर्म-देशना कभी निष्फल नहीं जाती; परन्तु वे उस फलकी पथणा (इच्छा) से कभी आतुर नहीं होते।<sup>२</sup> और उनकी उस धर्मदेशनाका निमित्त कारण होता है भव्य जीवोंके भाग्यका उदयादिक, जिसे 'यथा-भव्य-नियोगतः' पदके द्वारा सूचित किया गया है। अन्तरंग कारण तीर्थकर प्रकृतिके उदयको समझना चाहिए; जैसा कि आपरीक्षाके "विना तोर्यकरत्वेन नाम्ना नार्योपदेशता (१६)" इस वाक्यसे जाना जाता है। मोहनीय कर्मका सर्वथा अभाव हो जानेसे केवलज्ञानीमें इच्छा तथा रागका अस्तित्व नहीं बनता अतः विना इच्छा तथा रागके ही अन्तरंग और अहिरंग दोनों कारणोंके मिलनेपर उनकी धर्मदेशनामें स्वतः प्रवृत्ति होती है।

१. आ केषलि वक्षुया । २. अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिदिवमध्वनिश्चामरमासनं च । भासप्तर्लुन्दुभिरात-  
पत्रं सत्प्रातिहार्यणि जिनेश्वरामासु ॥ ३. वाऽपि शासन-फलीषणा तुरः । —समत्वमद् ।

ज्ञान किस प्रकार आत्माका स्वभाव है

विभवसोरिवोष्णत्वं चरिष्णोरिवं चापलम् ।  
शशाङ्कस्येव शीतत्वं स्वरूपं ज्ञानमात्मनः ॥६॥

'ज्ञान आत्माका उसी प्रकारसे स्वभाव है जिस प्रकार कि सूर्यका उषणपना, वायुका चंचलपना और चन्द्रमाका शीतलपना स्वरूप है।'

**व्याख्या**—जिस केवलज्ञानके उद्यक्ता दूसरे पथमें उल्लेख है वह आत्मामें किसी नदी वस्तुका उत्पाद नहीं है किन्तु आत्माका उसी प्रकारसे स्वभाव है जिस प्रकार कि सूर्यका उषणत्व, चन्द्रमाका शीतलत्व और वायुका चंचलत्व स्वभाव है। स्वभावका कभी अभाव नहीं होता—भले ही प्रतिबन्धक कारणोंके बदा उसका तिरोभाव, आकलादन या गोपन हो जाय।

आत्माका चैतन्यरूप क्यों स्वकार्यमें प्रवृत्त नहीं होता

चैतन्यमात्मनो रूपं तत्र ज्ञानमयं विदुः ।  
प्रतिबन्धक-सत्यवृद्धिर्वद्य इत्यर्थे ॥६०॥

'आत्माका रूप चैतन्य है और वह ज्ञानमय कहा गया है, प्रतिबन्धककी सामर्थ्यसे वह अपने कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता।'

**व्याख्या**—चैतन्य भी आत्माका स्वरूप कहा जाता है, उसके विषयको यहाँ स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि वह ज्ञानमय है—ज्ञानसे भिन्न चैतन्य दूसरी कोई वस्तु नहीं है। साथ ही यह भी बतलाया है कि जो ज्ञान या चैतन्य आत्माका पिछले पदानुसार स्वभाव है वह प्रतिबन्धक कारणोंके बलसे अपने कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता। केवलज्ञानके प्रतिबन्धक कारण वे चार धारिया कर्म हैं जिनका दूसरे पथमें उल्लेख है और इसीसे उनके पूर्णतः विनाशपर केवलज्ञानके उद्यक्ती बात कही गयी है।

सत्यमतमें आत्माका स्वरूप चैतन्यमात्र बतलाया गया है और उस चैतन्यको ज्ञान शून्य लिखा है।<sup>३</sup> यहाँ 'तत्त्व ज्ञानमयं' वाक्यके द्वारा उसका प्रतिवाद किया गया है।

प्रतिबन्धकके विना ज्ञानो ज्ञेय-विषयमें अज नहीं रहता

‘ज्ञानी ज्ञेये भवत्यज्ञो नासति प्रतिबन्धके ।  
प्रतिबन्धं विना चहिनं दाष्टेऽदाहकः कदा ॥११॥

'ज्ञेयके होने और उसका कोई प्रतिबन्धक न होनेपर ज्ञानी उस विषयमें अनभिज्ञ नहीं होता—उसे जानकर ही रहता है। ( ठीक है ) अग्नि वाहके योग्य ( सूखे ) इंधनके होते हुए प्रतिबन्धकके अभावमें कभी अबाहक नहीं होती—वह उसको जलाकर ही रहती है।'

१. आ चरणोरिव; आ चरणोरिव । २. ज्ञानशून्यं चैतन्यमात्रमात्मा इति सांहपत्तम्”—इष्टोपदेश-टीकायामाशाधरः । ३. जो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने । दाष्टेऽनिदहिको न स्यादसति प्रतिबन्धने ॥—अष्टसहस्रोंमें उद्धृत पुरातन वाक्य । ४. मु ज्ञेयो ।

**व्याख्या**—जो ज्ञानमय है अथवा ज्ञान जिसका रूप—स्वभाव—है उसको 'ज्ञानी' कहते हैं। ज्ञान और ज्ञानीमें सर्वधा भेद नहीं होता, यह बात छठे अधिकारके ३५वें पदामें बतलायी जा चुकी है और पिछले पदमें यह बतलाया गया है कि प्रतिबन्धकके शलसे ज्ञान अपने कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता। यहाँ उस केवलज्ञानीका उल्लेख है जिसके ज्ञानके समस्त प्रतिबन्धक कारण नष्ट हो चुके हैं और इसलिए वह किसी भी ज्ञेयके—ज्ञानके विषयमूल पदार्थके—ज्ञाननेमें अज्ञानी नहीं होता, यह प्रतिपादन किया गया है। साथ ही एक सुन्दर उदाहरणके द्वारा उसे स्पष्ट किया गया है। वह उद्धाहरण है दाहु और दाहकका, 'दाहक' अग्निको और 'दाहु' त्वरित जलने योग्य सूखे इंधनको कहते हैं। अग्नि और उस इंधनके सम्बन्धमें यदि कोई वावक न हो तो अग्नि उस इंधनको न जलावे यह कभी नहीं होता। इसी तरह केवलज्ञानीके ज्ञान-विषयक जब कोई प्रतिबन्धक—ज्ञाधक कारण—नहीं रहा तब यह किसी ज्ञेयको न जाने यह कभी नहीं हो सकता।

ज्ञानीके देशादिका विप्रकर्ण कोई प्रतिबन्ध नहीं

**प्रतिबन्धो न देशादि-विप्रकर्णोऽस्य पुज्यते ।  
तथानुभव-सिद्धत्वात् सप्तहेतेरिव<sup>१</sup> सुकृदम् ॥१२॥**

'इस केवलज्ञानीके देशादिका विप्रकर्ण—दूरस्थितिरूप प्रतिबन्ध—पुक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा अनुभवसे सिद्ध होता है, सूर्यके समान।'

**व्याख्या**—पिछले पदमें प्रतिबन्धके न होनेकी जो बात कही गयी है उसे न मानकर यदि कोई कहे कि देशादिककी दूरी केवलज्ञानका प्रतिबन्ध है तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि केवलज्ञानीके यह प्रतिबन्ध नहीं बनता, ऐसा अनुभवसे सिद्ध होता है, जो लाखों मीलकी दूरीपर स्थित होनेपर भी पृथ्वीके पदार्थोंको प्रकाशित करता है। पृथ्वी और सूर्यके मध्यकी दूरीमें जितने भी पुद्गल परमाणु स्थित हैं वे सभी सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं तब दूरीका विषय प्रकाशकत्वमें ज्ञाधक नहीं कहा जा सकता। केवलज्ञानीके ज्ञान और उस दूरती के मध्यमें भी जितने पुद्गल परमाणु तथा आकाशादि द्रव्योंके प्रदेशस्थित हैं उन सबको भी केवलज्ञान जब जानता है तब उस दूरती के पदार्थकी दूरी उसके जाननेमें ज्ञाधक कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती।—निकट और दूरती सभी ज्ञेय ज्ञानका विषय होनेसे उनके जाननेमें केवलज्ञानीके ज्ञाधकके लिए कोई स्थान नहीं रहता। इसी तरह कालका कोई अन्तर तथा वस्तुके स्वभावकी सूक्ष्मता भी किसी वस्तुके जाननेमें केवलके लिए ज्ञाधक नहीं होती। सभी ज्ञेय होनेसे उसके ज्ञानके विषय हैं और वह उन्हें साक्षात् रूपमें जानता है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने सूक्ष्म, अन्तरित, और दूरती सभी पदार्थोंको केवलज्ञानी सर्वज्ञके ज्ञानका विषय बतलाया है।'

यदि यह कहा जाय कि एक सूर्य एक समयमें सारे विश्वको प्रकाशित करता हुआ नहीं देखा जाता, एक जगह दिन है तो दूसरी जगह रात्रि है, इससे उसकी शक्ति सीमित ज्ञान पक्षती है अतः सूर्यका दृष्टान्त ठीक घटित नहीं होता, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि दृष्टान्त विषयको समझनेके लिए प्रायः एकदेशी होता है—सर्वदेशी नहीं। रही शक्ति-

१. ब्रह्मेरिव । २. सूक्ष्मान्तरित-दूरार्थः प्रत्यक्षः कर्त्तव्यविषया । अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥ —३८४४ ।

की बात, सूर्यकी शक्ति सीमित जल्द है परन्तु केवलीकी शक्ति वीर्यान्तरणवकर्मका अभाव हो जानेसे सीमित नहीं होती—असीमित तथा अनन्त होती है।

ज्ञानस्व एवं ज्ञान अन्तर उद्दीप-रद्ददली

सामान्यवद् विशेषाणां स्वभावो ज्ञेयभावतः ।  
ज्ञायते स च वा साक्षाद् विना विज्ञायते कथम् ॥१३॥  
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च ततो ज्ञानस्वभावतः ।  
नास्य ज्ञान-स्वभावत्वमन्यथा घटते स्फुटम् ॥१४॥

‘सामान्यकी तरह विशेषोंका स्वभाव ज्ञेय भावसे जाना जाता है और वह स्वभाव प्रत्यक्ष ज्ञानके विना कैसे स्पष्ट जाना जाता है ? नहीं जाना जाता है। अतः ज्ञानस्वभावके कारण ( आत्मा ) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है अन्यथा—यदि सर्वज्ञ और सर्वदर्शी नहीं तो—स्पष्टतः ज्ञान-स्वभावपना भी इस आत्माके घटित नहीं होता ।’

**व्याख्या**—सर्व पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होते हैं। ऐसा कोई भी पदार्थ संसारमें नहीं जो केवल सामान्य रूप हो या केवल विशेष रूप ही हो। सामान्यके साथ विशेषका और विशेषके साथ सामान्यका अविनाभाव-सम्बन्ध है। ऐसी स्थितिमें सामान्यको जो द्रव्यरूपमें होता है, जिस प्रकार ज्ञेय भावसे जाना जाता है उसी प्रकार उसके विशेषों-पर्यायों-के स्वभावको भी ज्ञेय भावसे जाना जाता है। स्वभावका यह परिज्ञान चूंकि विना उस पदार्थको साक्षात् किये—प्रत्यक्ष अनुभवमें लाये—नहीं बन सकता अतः ज्ञानस्वभावके कारण यह आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है, अन्यथा—सर्वज्ञ और सर्वदर्शी न होनेकी हालतमें—इस आत्माके ज्ञान-स्वभाव भी नहीं बनता। यहाँ ज्ञानस्वभावहेतुसे आत्माका सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व सिद्ध किया गया है। जब आत्मा ज्ञानरूप है ( आत्मा ज्ञान ) और सर्वपदार्थ ज्ञेयरूप है तब कोई भी पदार्थ चाहे वह कितनी ही दूरी पर क्यों न स्थित हो और कालके कितने ही अन्तरको छोड़े हुए क्यों न हो, उस केवलज्ञानका विषय होनेसे नहीं बन सकता जो कि सर्वथा ज्ञानात्मरणादि रूप प्रतिवर्णकसे रहित, निर्वाध और असीम ( अनन्त ) है।

केवली शेष किन कर्मोंको कैसे नष्ट कर निर्वृत होता है

वेदायुनीम-गोत्राणि योगपद्मेन केवली ।  
शुक्लध्यान-कुठारेण छिद्वा गच्छति निर्वृतिम् ॥१५॥

‘केवलज्ञानी वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ( इन चार अवातिया ) कर्मोंको शुक्लध्यान-रूपी कुठारसे एक साथ छेदकर मुक्तिको प्राप्त होता है।’

**व्याख्या**—कर्मोंकी आठ मूल प्रकृतियोंमेंसे जिन चार प्रकृतियोंका यहाँ उल्लेख है वे अषाङ्गिया कर्म प्रकृतियाँ कहलाती हैं, जबतक उनका छेद नहीं होता तबतक मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती। केवलज्ञानी उनका किसी क्रमसे छेद नहीं करता किन्तु एक साथ सबका छेद कर डाढ़ता है। जिस शक्तिशाली कुठारसे यह छेद कर्म किया जाता है उसको यहाँ

शुक्लध्यानके नामसे उल्लेखित किया है। शुक्लध्यानके चार भेद आगममें वर्णित हैं, यहाँ 'च्युपरत्रिपानिवृत्ति' नामका अन्तिम (चौथा) शुक्लध्यान ही विवरित जान पड़ता है, जिसके अनन्तर मुक्तिकी प्राप्ति होती है। इसीसे उक्त शुक्लध्यान-द्वारा अधितिया कर्मोंका विच्छेद करके मुक्तिको प्राप्त करना लिखा है। उक्त कर्मोंके विच्छेदसे पूर्व उनकी स्थितिको योग-निरोध-द्वारा आयुकर्मकी स्थितिके तुल्य कर लिया जाता है, तभी शुक्लध्यानके एक ही झटकेमें उन सबका युग्मपत् छेद बनता है।

शुक्लध्यानमें कर्म नहीं छिपता, ऐसा बचन अनुचित

कर्मेत्र भिद्यते नास्य शुक्ल-ध्यान-नियंत्रणतः ।

नासौ विधीयते कस्य नेदं बचनमञ्चितम् ॥१६॥

कर्म-क्षयपत्तमें(मो) राग-द्वेषाद्यनुपपत्तिः ।

आत्मनः संग (ना सह) रागाद्याः न नित्यत्वेन संगताः ॥१७॥

'यदि यह कहा जाय कि इस केवलीके शुक्लध्यानके नियोगसे कर्म सर्वथा भेदको प्राप्त नहीं होता और न किसीके मोक्ष बनता है तो यह बचन ठीक नहीं है; यद्योकि राग-द्वेषादिकी उत्पत्ति न होनेमें कर्मोंका विनाश होता है—नये कर्म बँधते नहीं तथा पूर्व बँधे कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है—और आरम्भके साथ रागादिका कोई शाश्वत सम्बन्ध नहीं है—वे उपजते तथा विनाशते देखते जाते हैं। ऐसी स्थितिमें शुक्लध्यान-द्वारा राग-द्वेषका अभाव होनेसे कर्मोंका अभाव और कर्मोंके अभावसे मोक्षका होना सुनिश्चित है। इसमें शंका तथा आपत्तिके लिए कोई स्थान नहीं।'

**व्याख्या**—यहाँ शंकाकारने अपनी शंकाके समर्थनमें कोई हेतु नहीं दिया; प्रत्युत इसके समाधान रूप प्रतिवादमें एक अच्छे हेतुका प्रयोग किया गया है और वह है राग-द्वेषादिकी अनुपपत्ति। राग-द्वेषादिक रूप परिणाम कर्मोंकी उत्पत्ति स्थिति आदिके कारण हैं और किसी भी राग-द्वेषादिका आत्माके साथ कोई शाश्वत सम्बन्ध नहीं है—वे अपने-अपने निमित्तको जानेसे राग-द्वेषादिकी उत्पत्ति स्थिति आदिका कोई कारण नहीं रहता, राग-द्वेषादिकी उत्पत्ति आदिका पूर्णतः अभाव हो जानेसे कर्मोंका विनाश होना स्वाभाविक है और कर्मोंके सर्वथा विनाश हो जानेपर मोक्षका होना अवश्यस्माची है, उसे किर कोई रोक नहीं सकता।

सुखीभूत निर्वृत जीव किर संसारमें नहीं आता

न निर्वृतः सुखीभूतः पुनरायाति संसूतिम् ।

सुखदं हि पदं हित्वा दुःखदं कः प्रपद्यते ॥१८॥

(इसके सिवाय) सुखीभूत सुखतात्मा पुनः संसारी नहीं बनता। (ठीक है) सुखदायी पदको छोड़कर कौन (स्वेच्छासे) दुःखद पदको प्राप्त होता है?—कोई भी नहीं होता।'

**व्याख्या—**१५वें पद्यके अनुसार निर्वृति ( निर्वाण ) को प्राप्त हुआ केवली क्या फिरसे संसारमें आता है—संसारी बनता है ? यह एक प्रश्न है, त्रिसका उत्तर इस पद्यमें दिया गया है, और वह है नकारात्मक अर्थात् नहीं आता । और उसका कारण यह बतलाया है कि निर्वाणको प्राप्त हुआ जोड़ सुखभूत होता है—अपने स्वाधीन शुद्ध सुखको प्राप्त कर लेता है—सब वह अपने उस सुखको छोड़कर दुःखके प्रहणमें कैसे प्रवृत्त हो सकता है ? नहीं हो सकता; क्योंकि कोई भी स्वाधीन जीव स्वेच्छासे सुखदायी पदको छोड़कर दुःखदायी पद प्रहण नहीं करता, यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है । निर्वाण जिसे निर्वृति, निःश्रेयस तथा मोक्ष भी कहते हैं, वह जन्म, जरा, रोग, मरण, शोक, दुःख और सब आदिसे परिमुक्त, शाश्रत शुद्ध सुखके रूपमें होता है; जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके समीर्चीन-धर्मशास्त्रगत निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

जन्म-जरामय-मरणः शोकैर्वुः लभेयैश्च परिमुक्तम् ।

निर्वाणं शुद्धमुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥१३१॥

ऐसे शुद्ध और सदाके लिए प्राप्त स्वाधीन सुख पदको छोड़कर कोई भी विवेकी जीव बिना किसी परतन्त्रताके सांसारिक दुःख पदको प्रहण करनेमें प्रवृत्त नहीं हो सकता । यदि किसीके विषयमें यह कहा जाता है कि उसने अमुकका उद्धार करने अथवा संसारके अमुक घर्मीय जीवोंका दुःख मिटानेके लिए अवेतार धारण किया है तो समझ लेना चाहिए कि वह मुक्तिको प्राप्त अथवा पूर्णतः सुखी जीव नहीं है—भावसे अभिभूत संसारका ही एक ग्राणी है, चाहे कितने ही सांसारिक ऊँचे पदको प्राप्त कर्यों न हो ।

कर्मका अमाव हो जानेसे पुनः शरीरका प्रहण नहीं बनता

शरीरं न स गृह्णाति भूयः कर्म-व्यपायतः ।

कारणस्यात्पये कार्यं न कुत्रापि प्ररोहति ॥१६॥

‘वह मुक्ततमा कर्मका विनाश हो जानेसे पुनः शरीर प्रहण नहीं करता । ( ठीक है ) कारणका नाश हो जानेपर कहीं भी कार्य उत्पन्न नहीं होता ।’

**व्याख्या—**मुक्त हुआ जीव फिरसे शरीरको प्रहण नहीं करता; क्योंकि संसारावस्थामें शरीरके प्रहणका कारण ‘नाम’ कर्म था वह जब सर्वथा नष्ट हो गया तब कारणके अभावमें कार्यका उत्पाद कैसे हो सकता है ? अतः जिनके मनमें मुक्तिसे पुनरागमनकी अथवा मुक्तात्माके शरीर धारण कर सांसारिक कार्योंको करने-करानेकी वात कहीं गयी वह दो कारणोंसे युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती—एक कारणका पिछले पद्यमें निर्देश है और दूसरेका इस पद्यमें निर्देश किया गया है ।

ज्ञानको प्रकृतिका धर्म मानना असंगत

न ज्ञानं प्राकृतो धर्मो मन्तव्यो मान्य-बुद्धिभिः ।

अवेतनस्य न ज्ञानं कदाचन विलोक्यते ॥२०॥

‘जो मान्य बुद्धि हैं उनके हारा ज्ञान प्रकृतिका धर्म नहीं माना जाना चाहिए; ( क्योंकि ) अवेतन पदार्थके ज्ञान कभी देखा नहीं जाता ।’

**व्याख्या-**—सांख्यमतमें आत्माको ज्ञानशून्य चैतन्य मात्र बतलाया है और ज्ञानको प्रकृतिका धर्म निर्दिष्ट किया है, यहाँ उसका प्रतिपेध करते हुए माननीय बुद्धिके धारकोंसे—  
विवेकशील विद्वानोंसे यह अनुरोध किया है कि उन्हें ऐसा नहीं मानना चाहिए; क्योंकि अचेतनके—प्रकृतिजन्यके—कभी भी ज्ञानका होना देखनेमें नहीं आता। अतः ज्ञानको प्रकृतिजन्य मानना प्रत्यक्षके विरुद्ध है।

ज्ञानादि गुणोंके अभावमें जीवको व्यवस्थिति नहीं बनती

दुरितानीव न ज्ञानं निर्वृतस्यापि गच्छनि ।  
काश्चनस्य मले न ए काश्चनत्वं न नश्यति ॥२१॥  
न ज्ञानादि-गुणाभावे जीवस्यास्ति व्यवस्थितिः ।  
लक्षणापगमे लक्ष्यं न कुत्राप्यविष्टुते ॥२२॥

'मुक्तात्माके कर्मोंकी तरह ज्ञान नष्ट नहीं होता। (ठीक है) सुवर्णका मल नष्ट होनेपर सुवर्ण नष्ट नहीं होता। ज्ञानादि गुणोंका अभाव होनेपर जीवकी व्यवस्थिति नहीं बनती। (ठीक है) लक्षणका अभाव होनेपर लक्ष्य कहीं भी नहीं ठहरता है।

**व्याख्या—**यदि कोई वैशेषिकमतका पक्ष लेकर यह कहे कि मुक्तात्माके जिस प्रकार कर्म नष्ट होते हैं उसी प्रकार ज्ञान भी नष्ट हो जाता है तो यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि सुवर्णका मल नष्ट होनेपर जिस प्रकार सुवर्णत्व नष्ट नहीं होता उसी प्रकार मुक्तात्मा ज्ञानीके ज्ञान-मल नष्ट होनेपर ज्ञान नष्ट नहीं होता। वास्तवमें ज्ञानादि गुणोंका अभाव होनेपर तो जीवकी कोई व्यवस्थिति नहीं बनती; क्योंकि ज्ञान-दर्शन गुण जीवके लक्षण हैं; जैमा कि जीवाधिकारमें बतलाया जा चुका है। लक्षणका अभाव होनेपर लक्ष्यका फिर कोई अस्तित्व नहीं बनता। ऐसी स्थितिमें वैशेषिकोंने बुद्धधारि वैशेषिक गुणोंके उच्चलेवको मौक्ष माना है, यह तर्क-संगत मालूम नहीं होता—उनके यहाँ तय जीवका अस्तित्व भी नहीं बनता। गुणोंका अभाव हो जाय और गुणी बना रहे यह कैसे हो सकता है!—नहीं हो सकता।

विना उपायके बन्धको जानने मात्रसे कोई मुक्त नहीं होता

विविधं बहुधा बन्धं बुद्ध्यमानो न मुच्यते ।  
कर्म-बद्धो विनोपायं गुप्ति-बद्ध इव प्रुवम् ॥२३॥  
विमेदं लक्षणं बुद्ध्या स द्विधा जीव-कर्मणोः ।  
मुमत्कर्मत्त्वस्थो मुच्यते सदुपायवान् ॥२४॥

'कर्मसे बँधा हुआ जीव नामा प्रकारके कर्मबन्धनोंको बहुधा (प्रायः) जानता हुआ भी निष्ठव्यसे विना उपाय किये मुक्त नहीं होता, जैसे कि कारागृहमें पड़ा हुआ बन्दी। जो जीव और कर्मको उनके लक्षणोंसे दो प्रकारके (भिन्न पदार्थ) जानकर कर्मको छोड़ता—कर्मसे उपेक्षा धारण करता—और आत्मतत्त्वमें लोन होता है वह सद उपायवान् है और कर्मसे छूटता है।'

**व्याख्या—**जिस प्रकार बँध जूँड़कर डाला हुआ कोई मनुष्य यह जानते हुए भी कि मुझे अमुकने बँध जूँड़ कर डाला है, अमुक प्रकारकी रसीदी आदिके बन्धनोंमें मैं बँधा हुआ

हूँ और मेरे शरीरके अमुक-अमुक अंगोंपर अमुक प्रकारके बन्धन हैं। अपने इस जानने मात्रसे विना उपाय किये उन बन्धनोंसे छुटकारा नहीं पा सकता; जो ठीक उपाय करता है वह छुटकारा पाता है। उसी प्रकार कर्मसे बँधा हुआ यह संसारी जीव अपनेको कर्मसे बँधा हुआ और कर्मके प्रकारों—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धके रूपसे बन्धके भेदों—आदिको जानता हुआ भी विना उपाय किये उन कर्मबन्धनोंसे छुटकारा नहीं पा सकता, यह बात गहरे गतिमें बँधे पड़े अथवा कारणगृहमें सदाके लिए बन्द किये कैदीके उदाहरण-द्वारा प्रथम पदमें सुझायी गयी और दूसरे पदमें कर्मबन्धनसे छूटनेके समीचीन उपायको प्रदर्शित किया गया है, जो कि अपने आत्मस्वरूप और कर्मस्वरूपको लक्षणोंसे जानकर कर्ममें उपेक्षा धारण रूप विरक्ति और अपने आत्मस्वरूपमें स्थितिके रूपमें है। इस श्रेष्ठ उपायका करनेवाला भव्य भानव अवश्य ही कर्मबन्धनोंसे छुटकर मुक्तिको प्राप्त होता है। इसी बातको श्री कुन्दकुन्दाचार्यने समयसार की निष्ठा खार गाथाओंमें प्रदर्शित किया है :—

इय कर्मबन्धणाणं पादस-ठिह-पयडिमेवमणुभावं ।

जाणतो वि ण मुच्चवइ मुच्चद्व सो खेव अदि सुद्दो ॥२५०॥

जह बंधे चितंतो बंधणबद्दो ण पावइ विमोक्षं ।

तह बंधे चितंतो जीवो वि ण पावइ विमोक्षं ॥२५१॥

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्दो उ पावइ (पदोवहं) :

तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्षं ॥२५२॥

बंधाणं च सहायं वियाणिओ अप्यणो सहायं च ।

बंधेसु जो विरज्जदि सो कर्म-विमोक्षणं कुण्डई ॥२५३॥

इस प्रकार मुक्तिके लिए सञ्चारित्र शून्य ज्ञानको निरर्थक बतलाया गया है।

जोवके शुद्धाशुद्धी अपेक्षा वो भेद

एको जीवो द्विधा प्रोक्तः शुद्धाशुद्ध-व्यपेचया ।

सुवर्णमिव लोकेन व्यवहारमुपेषुषा ॥२५॥

संसारी कर्मणा युक्तो मुक्तस्तेन विवर्जितः ।

अशुद्धस्तत्र संसारी मुक्तः शुद्दोऽपुनर्भवः ॥२६॥

‘एक जोव शुद्ध-अशुद्धकी अपेक्षासे वो प्रकारका कहा गया है, जिस प्रकार व्यवहारीजनके हारा सुवर्ण शुद्ध और अशुद्ध वो प्रकारका कहा जाता है। जो कर्मसे युक्त है वह ‘संसारी’ और जो कर्मसे रहित है वह ‘मुक्त’ जीव है। दोनोंमें संसारी अशुद्ध और मुक्त जीव शुद्ध माना है, जो पुनः भवधारण नहीं करता।’

**व्याख्या**—वस्तुतः देखा जाय तो अपने गुण-स्वभावकी दृष्टिसे सुवर्णधातु एक है, परन्तु लोकव्यवहारमें उसके शुद्ध सुवर्ण और अशुद्ध सुवर्ण ऐसे दो भेद किये जाते हैं। जो सुवर्ण किट्ट-कालिमादि भलसे युक्त है अथवा चाँदी, ताँबा, लोहा आदि अन्य धातुओंके सम्बन्धको प्राप्त उनसे मिश्रित है उसे ‘अशुद्ध सुवर्ण’ कहते हैं और जो सुवर्ण सारे मल तथा परसम्बन्धसे रहित होता है उसे ‘शुद्ध (खालिस) सुवर्ण’ कहा जाता है। इसी प्रकार जीव-द्रव्य वस्तुतः अपने गुण-स्वभावकी दृष्टिसे एक है; परन्तु शुद्ध-अशुद्धकी अपेक्षासे उसके दो भेद किये गये हैं—एक ‘संसारी’ दूसरा ‘मुक्त’। इनमें संसारी जीव कर्ममलसे युक्त होनेके कारण

१. मु शुद्धः पुनर्भवः । २. संसारिणो मुक्ताद्वय-तः सूत्र० २-१० ।

'अगुद्र' और मुक्त जीव कर्ममलसे रहित हो जानेके कारण 'शुद्र' माना गया है, जिसे 'अपुनर्भव' भी कहते हैं।

शुद्र जीवके अपुनर्भव रहनेका है।

भवं वदन्ति संयोगं यतोऽत्रात्म-तदन्ययोः ।

वियोगं तु भवाभावम्‌पुनर्भविक्तं ततः ॥२७॥

'जैकि आत्मा और तद्ब्रह्म ( पुद्गलकर्म ) के संयोगको 'भव' और वियोगको 'भवाभाव' कहते हैं, जो फिरसे उत्पन्न न होनेका ताम है अतः फिरसे उत्पन्न होनेके कारण शुद्र-मुक्त जीवको 'अपुनर्भव' कहा जाता है।

**ध्याणया—**पिछले पद्ममें मुक्त जीवका जो 'अपुनर्भव' नाम दिया है उसीका इस पद्ममें निरन्तर-पृथक् स्पष्टीकरण किया गया है ।—लिखा है कि जीव और जीवसे भिन्न जो पुद्गल-कर्म हैं, उनके संयोगका नाम 'भव' है और दोनोंके वियोगका नाम 'भवाभाव' ( अभव ) है, जिसका फिर कभी संयोग न हो; फिरसे कर्मका संयोग न हो सकतेके कारण मुक्त जीवको 'अपुनर्भव' कहा गया है।

मुक्तिमें आत्मा किस रूपसे रहता है

निरस्तापर-संयोगः स्व-स्वभाव-न्यवस्थितः ।

सर्वत्सुक्यविनिर्मुक्तः स्तमितोदधि-संनिभः ॥२८॥

एकान्त-क्षीण-संक्लेशो निष्ठितार्थो निरञ्जनः ।

निराबाधः सदानन्दो मुक्तादात्माविष्टुते ॥२९॥

'मुक्ति अवस्थामें आत्मा परसंयोगसे रहित, स्वस्वभावमें अवस्थित, निस्तरंग समुद्रके समान, सर्वप्रकारकी उत्सुकतासे मुक्त, सर्वथा क्लेशव्यजित, कृतकृत्य, निष्कलंक, निराबाध और सदा आनन्दरूप लिष्टता है—यही परब्रह्मका रूप है।'

**ध्याणया—**मुक्तिको प्राप्त हुआ जीव किस रूपमें रहता है इसका इन दोनों पद्मोंमें बड़ा ही सुन्दर एवं अच्छा व्यापक स्पष्टीकरण किया गया है और वह यह है कि मुक्तात्मा समस्त पर-सम्बन्धोंसे रहित हुआ अपने ज्ञान-दर्शन स्वभावमें पूर्णतः अवस्थित होता है, निस्तरंग समुद्र-के समान समस्त रागादि विकल्पोंसे शून्य रहता है, किसी भी प्रकारका दुःख-क्लेश कभी उसके पास नहीं आटकता, उसका कोई भी प्रयोगजन सिद्ध होनेके लिए शेष नहीं रहता, द्रव्य-भावादि-रूपसे सर्व प्रकारके मलों एवं चिकारोंसे वह रहित होता है, वह किसीको कोई जाधा नहीं पहुँचाता और न उसे कोई किसी प्रकारकी जाधा पहुँचा सकता है, वह अपने स्वरूपमें मग्न हुआ सदा आनन्दमय बना रहता है; क्योंकि उससे अधिक सुन्दर एवं स्पृहणीय दूसरा कोई भी रूप विद्यमें कही नहीं है—सारा विश्व उसके ज्ञानमें प्रतिविम्बित है।

प्रथम पद्ममें 'निरस्तापरसंयोगः' विद्येषण बड़ा ही महत्वपूर्ण है और इस आत्मको मूर्चित करता है कि जबतक पर-सम्बन्ध बना रहता है तबतक किसीकी भी अपने स्वभावमें

१. मुक्त भवाभावम्‌पुनर्भविक्तं ।

२. निस्तरंगोदधितः ।

व्यष्टिस्थिति नहीं हो पाती; जैसे स्फटिककी उपाधि के संगसे। दूसरे पथमें 'एकान्त-शीण-संकलेशः' विशेषण भी अपना खास महत्व रखता है और उसके द्वारा उन सारे ही दुःखोंके सर्वथा अभाव को सूचित किया गया है जिनकी स्थामी समन्तभद्रने निर्वाण सुखका वर्णन करते हुए 'जन्मजरामयमरणः शोकेऽर्द्धं भैरवैश्च परिमुक्तं' इस वाक्यके द्वारा सूचना की है।'

ध्यामका मुख्य फल और उसमें यत्नकी प्रेरणा

ध्यानस्थेदं फलं मुख्यमैकाभित्कमनुत्तरम् ।  
आत्मगम्यं परं ब्रह्म ब्रह्मविद्विलुदाहृतम् ॥३०॥  
अतोऽश्रैष महान् यत्नस्तत्त्वतः प्रतिपत्तये ।  
प्रेक्षावता सदा कार्ये मुक्त्वा वादादिवासनाम् ॥३१॥

'जो बहुवेता है उन्होंने परंब्रह्मको आत्मगम्य करना यह ध्यानका मुख्य, अध्यमित्रारो और अहितीय फल बताया है। अतः समीक्षकारीके द्वारा बत्तुतः उसकी प्राप्तिके लिए वादादि-की वासनाको छोड़कर सदा इस ध्यानमें ही महान् यत्न किया जाना चाहिए।'

**व्याख्या**—इन दोनों पथमेंसे प्रथम् पथमें ब्रह्मवेत्ताओं-द्वारा निर्दिष्ट ध्यानके उस फलका निर्देश किया गया है जो प्रधान है, कभी अन्यथा नहीं होता तथा जिसकी जोड़का दूसरा कोई फल नहीं है और वह है परंब्रह्मको आत्मगम्य करना—अपने आत्मामें शुद्धात्मा-का साक्षात् दर्शन करना। दूसरे पथमें उस परंब्रह्मको आत्म-गम्य करनेके लिए संपूर्ण वाद-प्रतिवादके संस्कारोंको छोड़कर महान् प्रयत्न करनेकी परीक्षकोंको प्रेरणा की गयी है।

ध्यानसमर्पण योगियोंका हितरूप वदन

ऊचिरे ध्यान-पार्गज्ञा ध्यानोद्भूत-रजश्चयाः ।  
भावि-योगि-हितयेदं ध्यान्त-दीपसमं वचः ॥३२॥  
वादानां प्रतिवादानां भावितारो विनिश्चितम् ।  
नैव गच्छन्ति तत्त्वान्तं गतेरिव विलम्बिनः ॥३३॥

'जिन्होंने ध्यानके द्वारा कर्मलजके समूहको आत्मासे दूर किया उन ध्यान भागके मर्मज्ञ योगियोंने भावी योगियोंके हितार्थे यह अन्धकारध्वंसक दीपकके समान वचन कहा है कि—जो वादों-प्रतिवादोंके चक्करमें पड़े रहते हैं वे निश्चित रूपसे तत्त्वके अस्तको—परंब्रह्म पद्मकी प्राप्ति रूप अन्तिम लक्ष्य ( सोक्ष ) को—प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार जिस प्रकार कि गति-विलम्बी मनुष्य मर्माङ्को तय नहीं कर पाते।'

**व्याख्या**—पिल्ले पथमें जिन वाद-प्रतिवादोंके संस्कारोंको छोड़नेकी बात कहीं गयी है उसीके सम्बन्धमें यहाँ ध्यानके मर्मज्ञ और ध्यानके द्वारा आत्मासे कर्म-मलके समूहको दूर करनेवाले योगियोंके एक अच्छनको उद्भूत किया है जिसे उन पूर्व योगियोंने भावी योगियों के हितके लिए कहा है और जिसे अन्धकारको दूर करनेवाले दीपस्तम्भके समान बतलाया है। वह वचन यह है कि 'वादों-प्रतिवादोंके चक्करमें फँसे रहनेवाले योगी परंब्रह्मकी प्राप्ति

रूप अन्तिम लक्ष्यको प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार जिस प्रकार कि चलनेमें विलम्ब करनेवाले प्रमादी जन इधर-उधरके झगड़े-टोमें फँसकर समयपर रास्ता तय करके मंजिलको पहुँच नहीं पाते ।

परंब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

**विभक्तचेतन-ध्यानमन्त्रोपायै विदुर्जितम् ।  
यतावस्तप्रमादस्य सन्मार्ग-गमनं यथा ॥३४॥**

‘जिनेन्द्रोने—अर्हन्तोने—परंब्रह्मकी प्राप्ति अथवा तत्त्वान्तर्गतिमें विभक्त चेतनके—कर्मोंसे पृथग्भूत विविक्त एवं शुद्ध आत्माके—ध्यानको उपाय बतलाया है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि प्रमादरहितका सन्मार्गगमन—ठीक मार्गपर चलना—अभीष्ट स्थानकी प्राप्तिमें उपाय है ।’

**ध्यानया—**जिस फलका २०वें पद्ममें उल्लेख है उसकी प्राप्तिके उपाय रूपमें यहाँ उस ध्यानका निर्देश किया गया है जो कर्मोंसे पृथक् दूर अन्य सम्पर्कसे रहित विविक्त, शुद्ध एवं खालिस आत्माका ध्यान है । यह ध्यान ही परंब्रह्मकी प्राप्तिमें सहायक होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि अप्रमादीका ठीक मार्गपर चलना अभीष्ट स्थानकी प्राप्तिमें सहायक होता है ।

आत्मा ध्यान-विधिसे कर्मोंका उन्मूलक कैसे ? .

**योज्यमानो यथा मन्त्रो विष्णुं घोरं निषूदते ।  
तथात्मापि विद्वानेन कर्मनिकमवाजितम् ॥३५॥**

‘जिस प्रकार ( ठीक ) मन्त्रको योजना हिते जानेपर घोर विष दूर किया जाता है उसी प्रकार आत्मा भी अनेक भयोंके उपराजित कर्मसमूहसे विविक्तात्म-ध्यानके हारा पृथक् किया जाता है ।’

**ध्यानया—**पिछले पद्ममें जिस शुद्धात्माके ध्यानकी बात कही गयी है उसीको यहाँ एक दूसरे उदाहरण-द्वारा स्पष्ट किया गया है, वह है विषहर मन्त्रका उदाहरण । ठीक योजना किया हुआ ऐसा मन्त्र जिस प्रकार घोर विषको सारे शरीरसे खीचकर दूर कर देता है उसी प्रकार आत्मा भी विविक्त आत्माकी ध्यान विधिसे अनेक भयोंके संचित कर्ममलको दूर कर देता है ।

विविक्तात्माका ध्यान अविन्द्यादि फलता राता

**चिन्त्यं चिन्तामणिर्देशे कल्पितं कल्पपादपः ।  
अविचिन्त्यमसंकल्प्यं विविक्तात्मानुचिन्तितः ॥३६॥**

‘चिन्तामणि चिन्तित पदार्थको, कल्पवृक्ष कल्पनामें स्थित पदार्थको देता है; परन्तु ध्यान किया गया विविक्त आत्मा अविन्तित और अकल्पित फलको प्रदान करता है ।’

**व्याख्या**—यहाँ ध्यान किये गये विविक्तात्माके माहात्म्यको चिन्तामणि और कल्पवृक्षसे भी अधिक व्यक्त किया गया है, क्योंकि वह स्थित अचिन्तित और अकलिप्त पदार्थको प्रदान करता है, जबकि चिन्तामणि चिन्तित और कल्पवृक्ष कलिप्त पदार्थको ही प्रदान करते हैं।

उक्त ध्यानसे कामदेवका सहज हनन

जन्म-मृत्यु-जरा-रोगा हन्यन्ते येन दुर्जयः ।  
मनोभू-हनने तस्य नायासः कोऽपि विद्यते ॥३७॥

‘जिस ध्यानके द्वारा दुर्जय जन्म, जरा, मरण और रोग नाशको प्राप्त होते हैं उसको कामदेवके हननमें कोई भी श्रम करना नहीं पड़ता—वह तो उससे सहज ही विनाशको प्राप्त हो जाता है।’

**व्याख्या**—यदि कोई पूछे कि इया विविक्तात्माका ध्यान कामविकारको दूर करनेमें भी समर्थ होता है तो उसके उत्तरमें कहा गया है कि विविक्तात्माके जिस ध्यानसे जन्म, जरा, मरण और रोग-जैसे दुर्जय विकार नष्ट हो जाते हैं उसको कामविकारके दूर करनेमें कुछ भी श्रम करना नहीं पड़ता—वह तो स्वतः उसके प्रभावसे दूर हो जाता है।

वाद-प्रवादको छोड़कर अध्यात्म-चिन्तनकी प्रेरणा

मुक्त्वा वाद-प्रवादाद्यमध्यात्मं चिन्त्यतां ततः ।  
नाविधृते तमःस्तोमे शेषे ज्ञानं प्रवर्तते ॥३८॥

‘अतः वाव-प्रवाव आदिको छोड़कर अध्यात्मको—आत्माके परमस्फुको—चिन्तित करना चाहिए। अन्यकार समूहके नाश हुए बिना ज्ञान ज्ञेयमें प्रवृत्त नहीं होता।—वाद-प्रवादादि सब अन्यकार हैं, जो कि शुद्धात्माके चिन्तनमें वाधक हैं।’

**व्याख्या**—जिस वाद-प्रतिवादको छोड़नेकी आत पिछले कुछ पर्वों (३१-३३) में कही गयी है उसको यहाँ फिरसे दोहराते हुए उसकी महत्त्वाको व्यक्त किया गया है—यह बतलाया है कि ध्यानके उक्त माहात्म्यको देखते हुए सब वाद-प्रतिवादादिको छोड़कर, जो कि घने अन्यकारके समान है, अपने शुद्धात्माका चिन्तन करना चाहिए; क्योंकि अन्यकारके दूर हुए बिना ज्ञानकी ज्ञेयमें प्रवृत्ति नहीं होती।

विद्वानोंको सिद्धिके लिए सदुपाय करन्त्व

उपेयस्य यतः प्राप्तिजीर्यते सदुपायतः ।  
सदुपाये ततः प्राप्तैर्विद्यात्तव्यो महादरः ॥३९॥

‘चूंकि उपेयकी प्राप्ति समीक्षीन उपायसे होती है अतः विद्वानोंके द्वारा समीक्षीन उपाय करनेमें महान् आदर किया जाना चाहिए।’

**व्याख्या**—उपायके द्वारा जो साध्य अथवा प्राप्य हो उसे ‘उपेय’ कहते हैं और उपेय यहाँ शुद्धात्मा परंपरा विवक्षित है उसकी प्राप्तिके लिए उपायका सच्चा ठीक अथवा अथर्व होना परम आवश्यक है; अन्यथा—मिथ्या उपायके द्वारा—उपेयकी प्राप्ति—शुद्धात्माकी उपलब्धि—नहीं हो सकती। ऐसी स्थितिमें जो विद्वान् हैं उन्हें अपनी आत्मसिद्धिके लिए सदा सच्चे—

समीचीन उपायको महान् आदरके साथ करना चाहिए। यह आचार्य महोदयका अपना कल्याण चाहनेवालोंके लिए हितोपदेश है।

अध्यात्म-ध्यानसे भिन्न सदुपाय नहीं

नाध्यात्म-चिन्तनादन्यः सदुपायस्तु विद्यते ।  
दुरापः स परं जीवैर्मोहिव्यालकदर्थितः ॥४०॥

‘अध्यात्मचिन्तनसे भिन्न दूसरा कोई भी समीचीन उपाय ( परंब्रह्मकी प्राप्तिका ) नहीं है, जो जीव मोह-व्यालसे कदर्थित है—मोहसर्पसे डसे हुए अथवा मोहरूपी हस्तीसे पीड़ित हैं—उनके हारा वह उपाय दुर्लभ है।’

**व्याख्या**—पिछले पद्ममें जिस सच्चे समीचीन उपायके प्रति महान् आदरकी बात कही गयी है वह अल्लात्मचिन्तनके—गुहानामे इत्यानसे—ऐसे दूसरा और कोई नहीं है, यह इस पद्ममें बतलाया है। साथ ही यह भी बतलाया है कि इस समीचीन उपायकी प्राप्ति उन जीवोंको नहीं होती जो मोहसे मूँछित अथवा पीड़ित हैं।

उक्त ध्यानकी बाहु सामग्री

उत्साहो निश्चयो धैर्यं संतोषस्तत्त्वदर्शनम् ।  
जनपदात्ययः षोडा सामग्रीयं बहिर्भवा ॥४१॥

‘( अध्यात्मचिन्तनरूप ध्यानके लिए ) उत्साह, निश्चय ( स्थिर विचार ), धैर्य, संतोष, तत्त्वदर्शन और जनपदात्यय यह छह प्रकारको बाहु सामग्री है।’

**व्याख्या**—जिस ध्यानका पिछले पद्ममें उल्लेख है उसकी सिद्धिके लिए यहाँ बाहु सामग्रीके रूपमें छह बातें बतलायी गयी हैं, जिनमें उत्साहको प्रथम स्थान दिया गया है। यदि उत्साह नहीं तो किसी भी कार्य-सिद्धिके लिए प्रवृत्ति ही नहीं बनती। यदि ध्येयका निश्चय ही नहीं तो सब कुछ अर्थहीन है। यदि धैर्य नहीं तो साधनामें विद्वन्-कष्टादिके उपस्थित होनेपर स्वलित हो जाना अहुत कुछ स्वाभाविक है, इसीसे नीतिकारोंने ‘धैर्यं सर्वार्थं-साधनं’—जैसे वाक्यों-द्वारा धैर्यको सर्व प्रयोजनोंका साधक बतलाया है। चिष्ठ्योंमें लालसाके अभाव-का नाम सन्तोष है, यह सन्तोषभी साधनाकी प्रगतिमें सहायक होता है, यदि सदा असन्तोष बना रहता है तो वह एक बड़ी व्याधिका रूप ले लेता है, इसीसे ‘असन्तोषो महाव्याधिः’—जैसे वाक्योंके द्वारा असन्तोषको महाव्याधि माना गया है। जीवादि तत्त्वोंका यदि भले प्रकार दर्शन—स्वरूपानुभवन न हो तो फिर उत्साह, निश्चय, धैर्य तथा सन्तोषसे भी क्या बन सकता है और ध्यानमें प्रवृत्ति भी कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। अतः ‘तत्त्वदर्शन’ का होना परमावश्यक है, इसीसे इस योग ग्रन्थमें तत्त्वोंका आवश्यक निरूपण किया गया है। अन्तकी छठी सामग्री है ‘जनपदत्याग’, जबतक जनपद और जनसम्पर्कका त्याग नहीं किया जाता तबतक साधनाकी पूर्णता नहीं बनती। जनसम्पर्कसे वाक्प्रवृत्ति, वाक्प्रवृत्तिसे मनका चंचल होना और मनकी चंचलतासे चित्तमें अनेक प्रकारके विकल्प तथा ओम होते हैं, जो सब ध्यानमें बाधक हैं। इसीसे श्री पूज्यपादाचार्यने समाधितन्त्रमें निम्न वाक्य-द्वारा योगीको जनसम्पर्कके त्यागनेकी खास प्रेरणा की है—

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्सविभ्रमाः ।  
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्पष्टेऽ ॥७२॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्यने तो प्रबचनसारमें यहाँतक लिखा है कि जो लौकिकजनोंका संसर्ग नहीं छोड़ता है वह निश्चित सूत्रार्थपद (आगमका हाता), दामितकषाय और तपमें बढ़ा-चढ़ा होते हुए भी संयत-सुनि नहीं रहता । संसर्गके दोषसे अरिनके संसर्गको प्राप्त जलकी तरह अवश्य ही विकारको प्राप्त हो जाता है । अतः ध्यानसिद्धिके लिए नगरोंका बास छोड़-कर प्रायः पर्वतादि निर्जन स्थानोंमें रहनेकी आवश्यकता है ।

बुद्धिके व्रेषा संशोधकको ध्यानकी प्राप्ति

आगमेनानुपानेन ध्यानाभ्यास-रसेन च ।  
व्रेषा विशेषयन् बुद्धि ध्यानमाप्नोति पादनम् ॥४२॥

‘आगमके द्वारा, अनुमानके द्वारा और ध्यानाभ्यास रूप रसके द्वारा तीन प्रकारसे बुद्धिको विशुद्ध करते हुआ ध्यान अधिक ध्यानको प्राप्त होता है ।

**ध्यात्या**—पिछले पदमें ध्यानकी द्वारा सामग्रीका उल्लेख करके यहाँ अन्तर्ग सामग्रीके रूपमें बुद्धिकी अद्वितीयोंको पादन ध्यानका कारण बतलाया है । और उस बुद्धियुद्धिके लिए तीन उपायोंका निर्देश किया है, जो कि आगम, अनुमान तथा ध्यानाभ्यास रसके रूपमें हैं । आगमजन्य श्रुतज्ञानके द्वारा जीवादि तत्त्वोंका स्वरूप जानना ‘आगमोपाय’ है, आगमसे जाने हुए जीवादिके स्वरूपमें अनुमान प्रमाणसे हटता लाना ‘अनुमानोपाय’ है और ध्यानका अभ्यास करते हुए उसमें जो एक प्रकारका रुचिबुद्धिके रूपमें रस-आनन्द उत्पन्न होता है उसे ‘ध्यानाभ्यास रस’ कहते हैं । इन तीनों उपायोंके द्वारा बुद्धिका जो संशोधन होता है और उससे वह शुद्ध आत्मध्यान बनता है जिसमें विविक्त आत्माका साक्षात् दर्शन होता है । श्री पूज्यपादाचार्यने इन्हीं उपायोंसे बुद्धिका संशोधन करते हुए विविक्त आत्माका साक्षात् निरीक्षण किया था और तभी केवलज्ञानके अभिलापियोंके लिए उन्होंने समाधितन्त्रमें विविक्त आत्माके कथनकी प्रतिज्ञाका यह बाक्य कहा है—

भूतेन लिङ्गेन यथास्मशक्तिसमाहृतान्तःकरणेन सम्यक् ।  
समीक्ष्य केवल्य-सुल-स्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधालये ॥३॥

इसमें ‘समीक्ष्य’ पदके द्वारा आत्मदर्शनका उल्लेख है, जो कि उक्त तीनों उपायोंका लक्ष्यभूत एवं ध्येय है । श्री पं० आशाधरजीने अध्यात्म-रहस्यमें इन चारोंका श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टिके रूपमें उल्लेख करते हुए, इन चारों शक्तियोंको क्रमसे सिद्ध करनेवाले योगीका परगामी लिखा है—

शुद्धे भूति-मति-ध्याति-दृष्टयः सदात्मनि क्रमात् ।  
यस्य सद्गुरुतः सिद्धाः स योगी योगपारगः ॥३॥

इन चारोंके सुन्दर वर्णनके लिए अध्यात्म-रहस्यको देखना चाहिए ।

१. निच्छिदसुभूतपदो समिक्षकसाभो तवोधिको चाचि । लोगिगज्ञसंसर्गं ण चयदि जदि संज्ञो ण हृष्टि ॥६८॥ —प्रबचनसार ।

विद्वत्ताका परम कल आत्मध्यान रति

आत्म-ध्यान-रतिज्ञेयं विद्वत्ताथाः परं फलम् ।  
अशेष-शास्त्र-शास्त्रत्वं संसारोऽभावि धीधनैः ॥४३॥

‘विद्वत्ताका उत्कृष्ट कल आत्मध्यानमें रति—लीनता-जानना चाहिए। अशेष शास्त्रोंका शास्त्रोपन बुद्धिधनके धारक महान् विद्वानों-द्वारा ‘संसार’ कहा गया है।’

**व्याख्या**—एक विद्वानकी सफलता ही नहीं किन्तु उंचे दर्जे की सफलता इसीमें है कि उसकी आत्मध्यानमें रति हो—रचिपूर्वक लीनता हो। यदि यह नहीं तो उसका सम्पूर्ण शास्त्रोंका शास्त्रीयना—पठन-पाठन-विवेचनादि कार्य—संसारके सिवा और कुछ नहीं—उसे भी सांसारिक धन्धा अथवा भस्मार-परिव्रग्यणका हो एक अंग समझना चाहिए। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि उस विद्वानने शास्त्रोंका महान् ज्ञान प्राप्त करके भी अपने जीवनमें वास्तविक सफलताकी प्राप्ति नहीं की।

मूढवेतों और अध्यात्मरहित पण्डितोंका संसार क्या ?

संसारः पुत्र-दारादिः पुंसां संमूढचेतसाम् ।  
संसारो विदुषां शास्त्रमध्यात्मरहितात्मनाम् ॥४४॥

‘जो मनुष्य अच्छी तरह मूढचित्त हैं उनका संसार ‘स्त्री-पुत्रादिक’ हैं और जो अध्यात्मसे रहित विद्वान् हैं उनका संसार ‘शास्त्र’ है।

**व्याख्या**—इस पद्ममें पिछले पद्मकी वातको और सप्त करते हुए यह जतलाया है कि किसका कौन संसार है। जो मानव मूढचित्त हैं—शास्त्राभ्यासादिसे रहित अज्ञानी हैं—उनका संसार तो खी-पुत्र-धनादिक हैं—वे दिन-रात उसीके चक्रमें फँसे रहते हैं। और जो शास्त्रोंके अच्छे अध्यात्मी विद्वान् हैं किन्तु अध्यात्मसे रहित हैं—अपने आत्माको जिन्होंने गुद्ध स्वरूपमें नहीं पहचाना—उनका संसार शास्त्र है—वे शास्त्रोंका शास्त्रीयन करते-करते ही अपना जीवन समाप्त कर देते हैं और अपना आत्महित कुछ भी करने नहीं पाते।

ज्ञान-वीजादिको पाकर भी कौन सद्ध्यानकी खेती नहीं करते  
ज्ञान-वीजं परं प्राप्य मनुष्यं कर्मभूमिषु ।  
न सद्ध्यानकृषेवान्तः प्रष्टन्तेऽल्पमेघसः ॥४५॥

‘कर्मभूमियोंमें मनुष्यता और उत्कृष्ट ज्ञान-वीजको पाकर जो प्रशस्त ध्यानरूप खेतीके भोतर प्रवृत्त नहीं होते—ध्यानकी खेती नहीं करते—वे अल्पबुद्धि हैं।

**व्याख्या**—इस पद्ममें उन महाशास्त्राभ्यासी विद्वानोंको ‘अल्पबुद्धि’ ( अविवेकी ) जतलाया है जो कर्मभूमियोंमें मनुष्य जन्म लेकर और उत्कृष्ट ज्ञान-वीजको पाकर भी श्रेष्ठध्यानकी खेती करनेमें प्रवृत्त नहीं होते, और इस तरह अपने ध्यानकृपियोग्य मनुष्य-जन्म और उत्कृष्ट ज्ञान-वीजको लब्धि गैंवाते हैं। ऐसे हीनबुद्धि-अविवेकी जन वे ही होते हैं जो अपनी बुद्धिको पिछले ४२वें पद्ममें वर्णित तीन प्रकारके उपायोंसे संदोधन नहीं करते।

भोगसञ्जिमे ध्यास त्यागी विद्वानोंके मोहको धिक्कार  
 बदिशाप्रिषदच्छेदो दारुणो भोग-शर्मणि ।  
 संकास्त्यजन्ति सदुध्यानं धिगहो ! मोह-तामसम् ॥४६॥

‘भोग सुखमें बंशी संलग्न मांसकी तरह दारुण छेद होता है, (फिर भी) जो भोगोंके सुखमें आसक्त हैं वे प्रशस्त ध्यानका त्याग करते हैं, इस मोह अन्धकारको धिक्कार है, जिससे भोगमें जो दारुण दुःख छिपा है वह दिखाई नहीं पड़ता।’

**व्याख्या**—जिन विद्वानोंको पिछले पदमें अल्पबुद्धि-अविवेकी वत्तलाया है, प्रायः उन्हीं को लक्ष्य करके इस पदमें तथा आगे भी कुल हितकर वातें कही गयी हैं, अथवा सूचनादैं की गयी हैं। यहाँ भोगसुखकी लालसामें उस दारुण सुखकी सूचना की गयी है, जो मछलीको शिकारीकी बंशीमें लगे हुए मासके टुकड़ोंकी खानेकी इच्छासे कण्ठ-छेद-द्वारा प्राप्त होता है। इसी प्रकार इन्द्रिय-भोग सुखमें आसक्त हुए, जो विद्वान् उत्कृष्ट ज्ञान-वीजको पाकर भी सद-ध्यानकी खेती करनेमें उपेक्षा धारण करते हुए उसे त्यागते हैं उनके उस मोहान्धकारको धिक्कार कहा है, जिसके कारण भोगसुखमें छिपा हुआ दारुण दुःख उन्हें दिखलाई नहीं पड़ता।

मोही जीवों-विद्वानों आदिकी स्थिति

आत्म-तश्वमज्ञानाना विषयीस-परायणः ।  
 हिताहित-विवेकान्धाः खिद्यन्ते सांप्रतेक्षणाः ॥४७॥

‘जो आत्मतत्त्वको नहीं जानते, हित-अहितके विवेकमें अन्धे हैं—अपने हित-अहितको नहीं पहचानते—और विपरीताचरणमें चक्षुर हैं वे कर्त्तमान दृष्टि—मौजूदा विषयसुखकी ओर लक्ष्य रखनेवाले—अन्तमें खेदको प्राप्त होते हैं।’

**व्याख्या**—जिनके मोहान्धकारको पिछले पदमें धिक्कार कहा है वे वास्तवमें बहुत कुछ शास्त्राभ्यास कर लेने और ज्ञानकी वातें दूसरोंको सुनाते रहनेपर भी स्वयं आत्मतत्त्वके विषयमें अनज्ञान ( अनभिज्ञ ) होते हैं—अपने हित-अहितके विवेकमें अन्धे बने, रहते हैं, इसीसे विपरीत आचरणमें प्रवृत्त होते हैं। ऐसे मौजूदा सुखकी ओर ध्यान रखनेवाले विद्वानों आदिको यहाँ ‘सांप्रतेक्षण’ ( कर्त्तमान सुख दृष्टि ) कहा गया है, और लिखा है कि वे अन्तमें खेद एवं पश्चात्तापको प्राप्त होते हैं।

आधि-व्याधि-जरा-जाति-मृत्यु-शोकाद्युपद्रवम् ।  
 पश्यन्तोऽपि भवं भीमं नोद्विजन्तोऽपि मोहिनः ॥४८॥

‘जो मोही जीव हैं वे इस संसारको आधियो—भानसिक पीड़ाओं, व्याधियों—ज्ञानोरिक कष्टप्रद-रोगों, जन्म, जरा, मरण और शोकादि उपद्रवोंसे युक्त भयंकर रूपमें देखते हुए, भी उससे विरक्त नहीं होते हैं।—यह मोहका कैसा मादात्म्य है!'

**ध्यालया—**जिस मोहको अन्धकार बतलाते हुए पिछले एक पद्ममें खिकारा गया है उससे व्याप्र मोही जीवोंकी हयनीय एवं विवेक-विकल स्थितिको इस पद्ममें दर्शाते हुए उसपर खेद व्यक्त किया गया है। वास्तवमें संसारको जिन उपद्रवोंके रूपमें यहाँ चर्चित किया गया है वे सब प्रत्यक्ष हैं और उनसे वह भयंकर बना हुआ है। उसकी इस भयंकरताको देखते हुए भी जो उससे विरक्त नहीं होते हैं उन्हें मोहमें अन्धे अथवा विवेक-शून्य न कहा जाय तो और क्या कहा जाय ?

**अङ्गत्यं दुष्पियः कृत्यं कृत्यं चाङ्गत्यमञ्जसा ।**

**अशर्म शर्म मन्यन्ते कच्छु-कण्डूयका इव ॥४६॥**

**‘जो दुर्बुद्धि है—**मोह संस्कारित अथवा विकारभस्ति दुर्द्धिको लिये हुए हैं—**वे वास्तवमें अङ्गत्यको कृत्य—**न करने योग्य कुकर्मको सुकर्म, कृत्यको अङ्गत्य—करने योग्य सुकर्मको कुकर्म, और दुःखको सुख मानते हैं; उसी प्रकार जिस प्रकार दाढ़ खुजानेवाले दाढ़के खुजानेको अच्छा और सुखदायी समझते हैं, जबकि वह ऐसा न होकर दुःखदायी है।

**ध्यालया—**उक्त प्रकारके मोही जीवोंको यहाँ दुर्बुद्धि—दूषित ज्ञानी—बतलाते हुए लिखा है कि वे अकरणीयको नोकरणीय, करणीयको अकरणीय और दुःखको सुख मानते हैं और साथ ही उन्हें दाढ़के खुजानेवालोंकी उपमा दी है जो दाढ़को खुजानेमें सुखका अनुभव करते हुए उसे खूब खुजाकर बढ़ा लेते हैं और किर दुखी होते हैं।

ध्यानके लिए तत्त्वश्रुतिकी उपयोगिता

**ज्ञाराम्भस्त्यागतः लेशे मधुरोऽमृत-योगतः ।**

**प्ररोहति यथा बीजं ध्यानं तत्त्वश्रुतेस्तथा ॥५०॥**

‘जिस प्रकार खेतमें पड़ा हुआ बीज खारे जलके त्यागसे और मीठे जलके योगसे मधुर उत्पन्न होता है उसी प्रकार तत्त्वश्रुतिके योगसे—तत्त्व बारी सुननेके प्रभावसे—उत्तम ध्यान उत्पन्न होता है।’

**ध्यालया—**यहाँ ध्यानकी उत्पत्ति एवं दूद्धिमें तत्त्वोंके शब्दण एवं अतत्त्व शब्दणके परिदृश्यको उसी प्रकारसे उपयोगी बतलाया है जिस प्रकार खेतमें बीजकी उत्पत्ति और दूद्धिके लिए उसे खारे जलसे न सीचकर मीठे जलसे सीचना होता है।

भोगदुद्धि त्याज्य और तत्त्वश्रुति ग्राह्य

**ज्ञाराम्भःसद्गीत्याज्या सर्वदा भोग-शेषुषी ।**

**मधुराम्भोनिभा ग्राह्या यत्त्रात्त्वश्रुतिर्षुषीः ॥५१॥**

‘( ध्यानकी सिद्धिके लिए ) बुधजनोंके हारा भोगदुद्धि, जो खारे जलके समान है, सब त्यागने योग्य है और तत्त्वश्रुति, जो कि मधुर जलके समान है, सदा ग्रहण करने योग्य है।’

**ध्यालया—**पिछले पद्ममें बीजके उगाने-अंकुरित होने आदिके लिए खारे जलके त्याग और मीठे जलसे मिलनकी जो बात कही गयी है उसे यहाँ ४५वें पद्ममें उलिलखित ध्यान-कृषि पर घटित करते हुए भोगदुद्धिको खारे जलके समान त्याज्य और तत्त्वश्रुतिको मीठे जलके

समान ग्राह बतलाया है, और उस त्याग तथा प्रहृणमें यत्न करनेकी खास तौरसे प्रेरणा की है। बिना यत्नके कोरे ज्ञानसे कुछ नहीं बनता।

### ध्यानका शब्द कुतकं त्यज्य

योथरोधः शमापायः श्रद्धाभङ्गोऽभिमानकृत् ।  
कुतकों मानसो व्याधिर्ध्यनश्चनृनेकधा ॥५३॥  
कुतकोऽभिनिवेशोऽतो न युक्तो मुक्तिः काङ्क्षिणाम् ।  
आत्मतत्त्वे पुनर्युक्तः सिद्धिसौध-प्रवेशके ॥५४॥

‘कुतकं ज्ञानको रोकनेवाला, शान्तिका नाशक, श्रद्धाकी भंग करनेवाला और अभिमानको बढ़ानेवाला मानसिक रोग है, जो कि अनेक प्रकारसे ध्यानका शब्द है। अतः मोक्षाभिलाधियोंको कुतकमें अपने मनको लगाना युक्त नहीं, प्रत्युत इसको आत्मतत्त्वमें लगाना चाहय है, जो कि स्वात्मोपलक्षित रूप सिद्धि-सदनमें प्रवेश करानेवाला है।’

**ध्याण्या**—यहाँ कुतकको ध्यानका शब्द बतलाते हुए एक महाव्याधिके रूपमें चित्रित किया गया है, जिसके फल हैं ज्ञानमें रुकावटका होना, शान्तिका विनाश, श्रद्धाका भंग, और अहंकारकी वृत्पत्ति। साथ ही सुमुक्षुओंको यह प्रेरणा की गयी है कि वे कुतकमें अपने मनको न लगाकर आत्मतत्त्वमें संलग्न रहें, जो कि सिद्धिरूप मुक्तिके महलमें प्रवेश करानेवाला है।

यहाँ कुतकका अभिप्राय उसी व्यर्थके बाद-प्रबादसे है जिसका उल्लेख इसी अधिकार के ३१ से ३३ तकके पर्यामें किया जा चुका है और जिसे परत्रष्ठकी प्राप्तिमें वाधक बतलाया है।

### मोक्षतत्त्वका सार

विविक्तमिति चेतनं परम-शुद्ध-चुद्धाशयाः  
विचिन्त्य सततोहतो भवतपास्य दुःखासपदम् ।  
निरन्तरमपुनर्भवं<sup>१</sup> सुखमतीन्द्रियं स्वात्मजं  
समेत्य<sup>२</sup> हतफलमयं निरूपमं सदैवासते<sup>३</sup> ॥५४॥

इति श्रीभद्रमिलगणि-निःसंगवेगिराज-विरचिते योगसारश्रावृते मोक्षाधिकारः सप्तमः ।

‘जो परम शुद्ध-चुद्ध आशापके धारक हैं वे चेतनात्माको विविक्त रूप—कर्मकलंकसे रहित—चिन्तन कर—ध्यानका विषय बनाकर—उसके प्रति आवररूप परिणत हुए दुःखस्थान संसारका त्याग कर उस अपुनर्भवरूप मोक्षको प्राप्त करके सबा तिथते हैं जो कि अपने आत्मासे उत्पन्न कल्पनारहित अतीन्द्रिय, अनुपम और अनन्त सुख स्वरूप है।’

१. मु विरतरमपुनर्भवं । २. जाप्य । ३. तिष्ठन्ति ।

**व्याख्या**—यह सातवें अधिकारका उपसंहार-पद्धति है, जिसमें मोक्षाधिकार का सारा सार खीचकर रखा गया है। मोक्षको 'अनुनर्भव' नामके द्वारा, जो कि आत्माके पुनःभव (जन्म) धारण तथा पुनः कर्म-संयोगका निपेशक है, उल्लेखित करते हुए उसे सुखस्वरूप घटलाया है जो कि अतीन्द्रिय है—इन्द्रियोंसे उत्पन्न नहीं—विना किसीकी सहायताके अपने आत्मासे उत्पन्न सदा स्वाधीन रहनेवाला है, कथायादि मल-दोषसे रहित है, संसारमें जिसकी कोई वपना नहीं और जो कभी नाश तथा हासको प्राप्त नहीं होता। यह मोक्ष भवका—संसारका—जो कि दुःखोंका स्थान है, त्याग करनेपर उन्हें प्राप्त होता है जो कि शुद्ध बुद्ध आश्रयके—निर्मल सविवेक परिणामके—धारक होते हैं और उसकी प्राप्तिका उपाय है अपने आत्माको कर्म-कलंकसे रहित शुद्ध स्वालिस एवं विवित रूपमें ध्याना और उस रूपमें आदरबान बने रहना। इस उपायके द्वारा भवका विनाश करके जो शुद्ध-बुद्धाश्रय मोक्षको प्राप्त करते हैं वे सदाके लिए सिद्धार्थमें उक्त अनुपम सुखरूप होकर तिष्ठते हैं।

इस प्रकार श्री अमितगहि-निःसंग योगिराज-विरचित योगसार-प्राभृतमें मोक्ष अधिकार  
नामका सातवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥३॥

## ६ चारित्राधिकार

मुमुक्षुको जिनलिङ्ग धारण करना योग्य

विमुच्य विदिधारम्भं पारतन्त्र्यकरं गृहम् ।  
मुक्तिं विसासता धार्य जिनलिङ्गं पटीयसा ॥१॥

‘जो मुक्ति प्राप्न करनेका इच्छुक अति निपुण एवं विवेकसम्पन्न मानव है उसे नाना प्रकारके आरम्भोंसे युक्त और पराधीनता-कारक घरको ( गृहस्थको ) त्याग कर जिनलिंगको धारण करना चाहिए।’

**आख्या—**—सात तत्त्वोंके स्वरूपको भले प्रकार जान लेने और समझ लेनेके अनन्तर जिसके अन्तरात्मामें मोक्ष प्राप्त करनेकी सन्दर्भी एवं तीव्र इच्छा जागृत हो उस विवेक-सम्पन्न मुमुक्षुको घर-गृहस्थीका त्याग कर जिनलिंग धारण करना चाहिए—ऐसा मानव ही जिनलिंग धारणके लिए योग्य पात्र होता है, गृह त्यागमें उसकी दृष्टि नाना प्रकारके आरम्भों तथा परतन्त्रताओंके त्यागकी होती है, जो सब मुक्तिकी प्राप्तिमें बाधक हैं।

जिनलिङ्गका स्वरूप

सोपयोगमनारम्भं लुञ्जित-श्वमथुमस्तकम् ।  
निरस्त-तनु-संस्कारं सदा संग-विवर्जितम् ॥२॥  
निराकृत-परापेक्षं निर्विकारमयाचनम् ।  
जातरूपधरं लिङ्गं जैनं निर्वृति-कारणम् ॥३॥

‘जो सदा शान-वशोंन रूप उपयोगसे युक्त है, सावद्यकर्मरूप आरम्भसे रहित है, जिसमें दाढ़ी तथा मस्तकके केशोंका लोंब किया जाता है, ( तेल मर्दनादि रूपमें ) शरीरका संस्कार नहीं किया जाता, जो बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारके वरियहोसे मुक्त, परकी अपेक्षासे रहित, याचना-विहीन, विकार-विवर्जित और नवजात-शिशुके समान बद्धाभ्युषणसे रहित दिग्म्बर रूप को लिये हुए है वह जैन लिंग है, जो कि मुक्तिका कारण है—मोक्षकी प्राप्तिमें सहायक है।’

**आख्या—**जिस जिन-लिंगको धारण करनेकी पिछले पद्यमें सन्दर्भ मुमुक्षुको प्रेरणा की गयी है उसका स्वरूप इन दो पद्योंमें बतलाया गया है, जो अहुत कुछ स्पष्ट हैं। यह नौ मुख्य विशेषणोंसे युक्त जैन लिंग मुक्तिकी प्राप्तिमें सहायक है। ऐसा यहाँ निर्दिष्ट किया गया है और इसीसे मुमुक्षुको उसे धारण करना चाहिए।

१. जघजादरूबजादं उपाडिदके समं सुगं सुदं । रहिदं हिसादीदो अप्यडिकम्भं हृवदि किंगं ॥५॥  
मुच्छारं भक्षिमुवक्तं जुतं उवजोगजोगसुद्दीहि । किंगं ण परावेक्षं अपुणबभवकारणं जेष्हं ॥६॥

जिन-दीक्षा देनेके योग्य गुह और अमण्डलकी प्राप्ति

नाईं भवामि कस्यापि न किंचन ममापरम् ।  
इत्यकिंचनतोपेतं निष्कषायं जितेन्द्रियम् ॥४॥  
नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या जिनमुद्रा-विभूषितः ।  
जायते श्रमणोऽसङ्को विधाय ब्रत-संग्रहम् ॥५॥

'मैं किसीका नहीं हूँ और न दूसरा कोई मेरा है, इस अपरिव्रह भावसे युक्त, कषायमें रहित और जितेन्द्रिय गुरुको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके तथा ब्रतसमूहको धारण करके जो परिव्रहरहित हुआ जिनमुद्रासे विभूषित होता है वह 'अमण' है।

**व्याख्या**—जिनलिंगको धारण करनेके लिए जिस गुरुके पास जाना चाहिए उसका यहाँ प्रथम पद्ममें प्रमुख रूप दिया है और वह तीन बातोंको लिये हुए है—एक तो यह कि 'मैं किसीका नहीं और न दूसरा कोई पर-पद्मर्थ मेरा है' इस अकिंचन भावको वह लिये हुए होना चाहिए, दूसरे कपायोंसे रहित और तीसरे इन्द्रियोंपर चिजय प्राप्त किये हुए होना चाहिए। ये गुण जिसमें नहीं वह जिनलिंगकी दीक्षा देनेके योग्य नहीं और इसलिए ऐसे गुरुसे जिन-दीक्षा नहीं लेनी चाहिए। दूसरे पद्ममें चतुर्थ सुरुको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके (अपने दीक्षा-प्रहणके भावको निवेदन करके) और गुरुके द्वारा उपदिष्ट ब्रतोंको प्रहण करके जिनमुद्रासे विभूषित निःसंग हुआ वह सुमुख 'अमण' होता है। अमण-संबंधके अतिरिक्त उसे चति, मुनि आदि नामोंसे भी बल्लेखित किया जाता है; जैसा कि अगले पद्मोंमें प्रयुक्त 'यते:' 'यतिः' आदि पद्मोंसे जाना जाता है।

#### अमणके कुछ मूलगुण

महाब्रत-समित्यक्षरोधाः स्युः पञ्च चैक्षाः ।  
परमावश्यकं पोटा, लोचोऽस्नानमचेलता ॥६॥  
अदन्तधावनं भूमिशयनं स्थिति-भोजनम् ।  
एकभक्तं च सन्त्येते पाल्या मूलगुणा यतेः ॥७॥

'पांच महाब्रत, पांच समितियाँ, पांच इन्द्रिय निरोध, छह परमावश्यक, केश लोच, अस्नान, अचेलता (नगनता), अदन्त-धावन, भूमिशयन, खड़े भोजन और एक बार भोजन ये योगीकं (अट्टाईस) भूल गुण हैं जो (सदा) पालन किये जानेके योग्य हैं।'

**व्याख्या**—अमण-मुनिके लिए जिस ब्रतसमूहके प्रहणकी सूचना पिछले पद्ममें की गयी है वे सुप्रसिद्ध २८ मूलगुण हैं, जिनका इन दोनों पद्मोंमें उल्लेख है और जिनके विस्तृत स्वरूप लक्ष्य एवं उपयोगितादिके वर्णनसे मूलाचार, भगवती आराधना, अनगारधर्मामृत आदि ग्रन्थ भरे हुए हैं, विशेष जानकारीके लिए उन्हें देखना चाहिए। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, त्रासाचर्य और अपरिव्रह ये पांच महाब्रत हैं। ईर्यो, भाषा, एषणा, आदान-निश्चेषण

१. आ व्यवणो । २. ददसमिदिवियरोधो लोचादरसव्यमचेलमण्डाणं । खिदिव्यणमदंतधावणं डिदिभोयणमेगमतं च ॥८॥ एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरैहि पण्णता ॥९॥ (पूर्वी) —प्रवचनसार अ० चा० । ३. या भूमिन शयनं ।

और प्रतिप्रादन ये पाँच समितियोंके नाम हैं। स्वशैन, रसना, त्राप, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ, जिनका निरोधन-वशीकरण यहाँ विवक्षित है। सामाधिक, स्तब, वन्दना, कार्यात्सर्ग, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान ये छह परमायश्यक हैं, जिनका स्वरूप इस ग्रन्थके पिछले अधिकारमें आ चुका है। ये सब मूलगुण उक्त अमणि लिंगम्बर जैन मुनिके द्वारा अवश्य पालनीय हैं।

इन २८ मूलगुणोंमें महाब्रत मुख्य है, शेष सब उनके परिकर हैं—परंबारके रूपमें स्थित हैं। और ये सब निर्विकल्प सामाधिक संयमके विकल्प होनेसे अमणोंके मूलगुण ही हैं। ऐसा श्री अभूतचन्द्राचार्यने प्रवचनसारकी टीकामें प्रतिपादन किया है।<sup>१</sup>

मूलगुणोंके पालनमें प्रमादी मुनि छेदोपस्थापक

‘निष्प्रमादतया पाल्या योगिना हितमिच्छता ।  
सप्रमादः पुनस्तेषु छेदोपस्थापको यतिः ॥८॥

‘जो योगी प्रमाद हित चाहता है उनके हातों ने मूलगुण लिंगम्बरताके साथ पालनीय हैं। जो इनके पालनमें प्रमादरूप प्रवर्तता है वह योगी ‘छेदोपस्थापक’ होता है।’

**ब्रह्मण्ड—**उक्त मूलगुणोंके पालनमें थोड़ा-सा भी प्रमाद नहीं होना चाहिए, इसीमें योगी-मुनिका हित है, ऐसा यहाँ सूचित किया गया है। साथ ही उस मुनिको ‘छेदोपस्थापक’ बतलाया है जो उक्त गुणोंके पालनमें प्रमादसहित प्रवर्तता अथवा लापरवाही (असावधानी) करता है। और इसलिए जो गुण प्रमाद-बोषके कारण भंग हुआ है उसमें फिरसे अपनेको स्थापित करता है।

अमणोंके दो भेद मूरि और निर्यापक

‘प्रवज्यादायकः सूरिः संयतानां निर्याप्ते ।  
निर्यापिकाः पुनः शेषार्छेदोपस्थापका मताः ॥९॥

‘संयमियोंको बीक्षा देनेवाला ‘सूरि’—गुरु, आचार्य—कहा जाता है, शेष अमण, जो संयममें दोष लगानेपर अपने उपवेश-हारा उस छेद प्राप्त मुनिको संयममें स्थापित करते हैं वे, ‘निर्यापक’ कहे जाते हैं।

**ब्रह्मण्ड—**इस पदमें अमणोंके दो मुख्य भेदोंका उल्लेख है—एक ‘सूरि’ और दूसरा ‘निर्यापक’। मूरि, जिसे ‘आचार्य’ तथा प्रवचनसार-कारके शब्दोंमें ‘गुरु’ भी कहते हैं, जिन-लिंग प्रहणके इच्छुक संयतों—सुमुषुओंको गत्रज्ञा—दीशा देनेवाला होता है। शेष उन सब अमणोंको ‘निर्यापक’ बतलाया है, जो दीशा प्रहणके अनन्तर किसी भी अमणके ब्रत-संयममें

१. सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यातवलक्षणैरुपत्वात् विवरणं हितानुत्स्तेयात्र द्युपरिप्रहितवात्मकं पञ्चतयं बतं तत्परिकारद्वयं पञ्चतयं इन्द्रियरोधो लीचः गदामधावद्याकमच्चलवद्यमतानं ज्ञातिशयनमदन्तधादनं स्थितिभोजनमेव भृत्यच्चवम् एते निविकल्पसामाधिकारो यमनिकल्पत्वात् अमणानां मूलगुणा एव।

२. तेमु पमतो समणो छेदोवद्वावगो होदि ॥ ९ उ० ॥ —प्रवचनसार चा० अ० । ३. लिंगभग्नणे तेसि गुह्यति पञ्चदग्धायगो होदि । छेदेमु अ वद्वाग सेवा णिजंजादगा समणा ॥१०॥

—प्रवचनसार चा० अ० ।

एकदेश या सर्वदेश छेद—भंगके उत्पन्न होनेपर उसे संवेग-वैराग्य जनक परमागमके उपदेश-द्वारा किसे उस संयममें स्थापित करते हैं। ऐसे निर्वाचक गुरुओंको जयसेनाचार्यने 'शिक्षा-गुरु' तथा 'श्रुतगुरु' के नामसे भी उल्लेखित किया है।

'छेद' शब्द अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है, जैसे छिद्र ( मुराख ), खण्डनभेदन ( कर्ण नात्तिकादिक प्रयोग ), विशारद ( तंस्याद्वेद ), विचाह ( धर्मच्छेद, कर्मच्छेद ) विभाग-खण्ड- ( परिच्छेद ), ब्रुटि-दोष, अतिचार, प्रायशिच्चत्तभेद, विवसासादिके परिमाणसे दीक्षा छेद। यहाँ तथा अगले पश्चामें वह ब्रुटि आदि पिछले अर्थोंमें ही प्रयुक्त हुआ है।

चारित्रमें छेदोत्पत्तिपर उसकी प्रतिक्रिया

‘प्रकृष्टं कुर्वतः साधोरशारित्रं कायचेष्या ।  
यदिच्छेदस्तदा कार्या क्रियालोचन-पूर्विका ॥१०॥  
आधित्य व्यवहारङ्गं सूरिमालोच्य भक्तिः ।  
दस्तेन विधातव्यश्छेदश्छेदवता सदा ॥११॥

‘उत्तम चारित्रका अनुष्ठान करते हुए साधुके यदि कायकी चेष्टासे दोष लगे—अन्तरंगसे दोष न बने—तो उसे ( उस दोषके निवारणार्थ ) आलोचन-पूर्वक क्रिया करनी चाहिए। यदि अन्तरंगसे दोष बननेके कारण योगी छेदको प्राप्त सदोष हुआ हो तो उसे किसी व्यवहारशास्त्रज्ञ गुरुके आधियमें जाकार भक्तिपूर्वक अपने दोषकी आलोचना करनी चाहिए और वह जो प्रायशिच्चत दे उसे ग्रहण करना चाहिए।’

ध्यालय—प्रयत्नपूर्वक चारित्रका आन्वरण करते हुए भी यदि मात्र कायकी चेष्टासे ब्रतमें कुछ दोष लगे और अन्तरंग रागादिके परिणमनरूप अशुद्ध न होने पावे तो उसका निराकरण मात्र आलोचनात्मक क्रियासे हो जाता है। परन्तु अन्तरंगके दृष्टिप्रयोग होनेपर किसी अच्छे व्यवहारशास्त्र-कुशल गुरुका आश्रय लेकर अपने दोषकी आलोचना करते हुए प्रायशिच्चतकी याचना करना और उसके दिये हुए प्रायशिच्चतको भक्तिभावसे ग्रहण करके उसका पूरी तौरसे अनुष्ठान करना होता है।

विहारका पात्र समण

‘भूत्वा निराकृतश्छेदशारित्राचरणोदयतः ।  
मुञ्चप्रानो निवृत्थानि यतिविहरतां सदा ॥१२॥

१. “ते शेषाः व्यवहारियपिकाः शिक्षागुरुवदव भवन्तीति ।……निविकल्पकसाधिरूपसाधायिक-स्वैकदेवोत्त व्युत्पत्तिरेकदैश्छेदः, सर्वथा अमुतिः सकलदेशाश्छेद इति देश-सकलभेदेन तिथा छेदः । तयोर्ष्वेष्योर्ये प्रायशिच्चतं दत्ता संवेग-वैराग्य-परमागमवचनेन संवरणं कुर्वन्ति ते नियायिकाः शिक्षागुरुव श्रुतगुरुवश्वेति भ्रण्यन्ते ॥” —प्रवचनसार टीका जयसेनोदय। २. पयदम्भु रसमारदे छेदो समणस कायचेद्विभूति। जयविज यदि तस्य पुणो आलोयण-पुञ्चिया किरिया ॥११॥ छेदप्रत्यक्षी समणी समणं व्रद्वारिणं जिणमद्विभूति। आसेवजालोचिता उवदिद्वुं तेण कायव्यं ॥१२॥ ( जुगल ) —प्रवचनसार अ० ३। ३. अविवासे व विवासे छेदकिंदूणोभवीयसामणे। समणी विहरद्वुं पिच्चं परिहरमणो णि वंशाणि ॥१३॥ —प्रवचनसार अ० ३।

‘दोषरहित होकर चारित्रके अनुशानमें उद्यमी हुआ योगी निवन्धनोंको—परद्रव्य में रागादि भावोंको—छोड़ता हुआ सदा विहार करे ।’

**ध्यालया**—यहाँ योगी ( श्रमण ) में विहारकी पात्रताका उल्लेख करते हुए तीन वार्तोंको आवश्यक बतलाया है—एक तो चारित्रके पालनमें जो दोष लगा हो उससे प्राथमिकतादिके द्वारा वह रहित हो चुका हो, दूसरे आगेके लिए यथार्थ चारित्रके पालनमें पूर्णतः उद्यमी हो और तीसरे परद्रव्योंमें रागादिको छोड़ रहा हो । ये तीनों बातें जश्तक नहीं बनती तबतक योगीमें सम्यक् विहारकी पात्रता नहीं आती ।

किञ्च मीमोके अमण्डाको धूमांसा होता है

**शुद्ध-रत्नत्रयो योगी यत्नं मूलगुणेषु च ।  
विधत्ते सर्वदा पूर्णं श्रामणं तस्य जायते ॥१३॥**

‘( सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप ) शुद्ध रत्नत्रयका धारक जो योगी मूलगुणोंके पालनमें सदा पूरा यत्न करता है उसके पूर्ण श्रमणता होती है ।’

**ध्यालया**—यहाँ श्रमणताकी पूर्णता किस योगीके होती है, इसका उल्लेख किया गया है । जिस योगीकी चर्चा शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप है और जो २८ मूल गुणोंके पालनमें सदा पूर्ण प्रयत्नवान् है उसे पूर्ण श्रमणताकी प्राप्ति होती है । अतः जिस मुनिकी उक्त चर्चामें दोष लगते हैं तथा जिससे मूलगुणोंका पूर्णतः पालन नहीं बनता उसे अपनेको तथा दूसरोंको उसे पूर्ण श्रमण न समझना चाहिए ।

निर्ममत्व-प्राप्त योगी किनमें राग नहीं रखता  
**उपधौ वसतौ सहे विहारे भोजने जने ।  
प्रतिबन्धं न बधानाति निर्ममत्वमधिष्ठितः ॥१४॥**

‘जो योगी निर्ममत्व हो गया है वह उपधि ( परियह ) में, वस्तिका ( आवासस्थान ) में, ( चतुर्विध ) संघमें, विहारमें, भोजनमें, जनसमुदायमें प्रतिबन्धको नहीं बांध सकता है—अनु-रागरूप प्रवृत्त नहीं होता है ।’

**ध्यालया**—जिन निवन्धनोंको छोड़नेकी १२वें पश्चमें सूचना की गयी है उनमें-से छहके नामोंका यहाँ उल्लेख करते हुए लिखा है कि जिस योगीने निर्ममत्वको अधिकृत किया है वह इनमें-से किसीके भी साथ रागका कोई बन्धन नहीं बांधता । वास्तवमें किसी भी पर-वस्तुके साथ ममकारका जो भाव है—उसे मेरी-अपनी समझता है—वही रागरूप बन्धकी उत्पत्तिमें कारण है । अतः योगीके लिए परन्पदार्थोंमें ममत्वका छोड़ना परमावश्यक है, तभी उसकी योगसाधनामें ठीक गति हो सकती । ममकार और अहंकार ये दोनों ही परम शत्रु हैं, जिनलिंग धारणके लक्ष्यको चिगाड़नेवाले और संसार-परिभ्रमण करनेवाले हैं ।

१. चरदि णिक्को णिक्क एवं समनो णाणस्मि दंसण-मुहमिम । पयदो मूलगुणेषु य जो सो विद्युण-सामण्डो ॥१४॥ ।—प्रवचनसार, अ० ३ । २. आ आवश्ये । ३. मते व खमणे वा आवस्थे वा पुणी विहारे वा । उविष्मिति वा णिक्क णिक्क एवं समनस्मिति विक्षमिति ॥१५॥ —प्रवचनसार अ० ३ ।

अशनादिमें प्रमादचारी साधुके निरन्तर हिंसा

'अशने 'शयने स्थाने गमे चहूङ्कमणे ग्रहे' ।  
प्रमादचारिणो हिंसा साधीः सान्ततिकीरिता ॥१५॥

'जो साधु खाने-पीनेमें, लेटने-सोनेमें, उठने-बैठनेमें, चलने-फिरनेमें, हस्त-पादादिकके पसारनेमें, किसी चर्तुको पकड़नेमें, छोड़ने या उठाने-घरनेमें प्रमाद करता है—यत्ताचारसे प्रवृत्त नहीं होता—उसके निरन्तर हिंसा कही गयी है—भले ही वैसा करनेमें कोई जीव मरे या न मरे ।'

ध्याल्या—चारितमें तथा २८ शूल गुणोंमें हिंसाकी पूर्णतः निवृत्तिरूप जिस अहिंसा महाव्रतकी प्रधानता है उसको हातिरिमें रखते हुए यहाँ उस साधुको निरन्तर हिंसाका भागी बतलाया है जो भोजन-शयनादि रूप उक्त क्रियाओंमें प्रमादसे बतेता है—चाहे उन क्रियाओंकि करनेमें कोई जीव मरे या न मरे । इसीसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यने प्रबन्धनसारमें कहा है 'मरदु व जियदु व जीवो अपवाचारस्त णिचिछुदा हिंसा' कोई जीव मरे या न मरे, जो यत्ताचारसे प्रवृत्त नहीं होता ऐसे प्रमादीके निश्चित रूपसे बराबर हिंसा होतो रहती है । अतः हिंसामें प्रधान कारण प्रमादचर्या है—जीवधात नहीं । जीवधातके न होनेपर भी प्रमादीको हिंसाका रौप लगता है ।

यत्ताचारीकी क्रियाएँ गुणकारी, प्रमादीकी दोषकारी  
गुणायेदं सयत्नस्य दोषायेदं प्रमादिनः ।  
सुखाय ज्वरहीनस्य दुःखाय 'ज्वरिणो चृतम् ॥१६॥

'जो यत्ताचारसे प्रवृत्त होता है उसके यह सब आचरण गुणकारी हैं और जो प्रमादी है उसके यह सब आचरण दुःखकारी हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि ज्वररहितके घृतका सेवन सुखकारी है और ज्वरवालेको दुःखका कारण है ।'

ध्याल्या—पिछले पदमें अशन-शयनादिके रूपमें जिस आचरणका उल्लेख है उस सयत्नाचारीके लिए यहाँ गुणकारी और प्रमादचारीके लिए दोषकारी बतलाया है साथमें घृतका उदाहरण देकर उसको समझ किया है, जो कि ज्वरहीनके लिए सुखकारी और ज्वरवानके लिए दुःखकारी होता है । इस तरह एक ही वस्तु आश्रय भेदसे मिन्न फलको फलती है ।

पर पीड़क साधुमें ज्ञानके होते हुए भी चारित्र मलिन  
ज्ञानवत्यपि चारित्रं मलिनं पर-पीडके ।  
काजलं मलिनं दीपे स प्रकाशोऽपि तापके ॥१७॥

'परको पीड़क पहुँचानेवाले ( साधु ) में ( सम्यक् ) ज्ञानके होनेपर भी चारित्र मलिन होता है । ( ठीक है ) तापकारी दीपकमें प्रकाशके होते हुए भी काजल मलिन ( काला ) होता है—प्रकाशके समान उज्ज्वल नहीं होता ।'

१. आश्रता चा चरिया सश्यासणाडाणर्तकमादीमु । समणस्त सञ्चकाले हिंसा सा संततिय ति मदा ॥१६-१७॥ —प्रबन्धनसार । २. द्वा आशने । ३. आ गृहे । ४. मु ज्वरिणे ।

**व्याख्या—**यहाँ उस साधुको मलिनचारित्री बतलाया है जो ज्ञानी होनेपर भी पर-पीडक बना हुआ है और उसे उस दीपककी उपमा दी है जो प्रकाशसे युक्त होनेपर भी तापक बना हुआ है—अनेक कीट-पतंगोंको जला-भुनाकर पीड़ा पहुँचाता है—और इसलिए उससे जो काला काजल प्रसूत होता है वह उसके मलिनाचारका घोतक है।

### भवाभिनन्दनी मुनियोंका कष

**भवाभिनन्दनः केचित् सन्दिव संज्ञा-वशीकृताः ।  
कुर्वन्तोऽपि परं धर्मं लोक-पक्षिकृतादराः ॥१८॥**

‘कुछ मुनि परम धर्मका अनुष्ठान करते हुए भी भवाभिनन्दनी—संसारका अभिनन्दन करनेवाले अनन्त संसारी तक—होते हैं, जो कि संज्ञाओंके-आहार, भय, मैथुन और परिग्रह नामकी चार संज्ञाओं—अभिलाषाओंके—वशीभूत हैं और लोकपक्षितमें आदर किये रहते हैं—लोगोंके आराधने-रिहाने आदिमें हचि रखते हुए प्रबृत्त होते हैं।’

**व्याख्या—**यथा पि जिनलिंगको—निर्ग्रन्थ जैनमुनि-सुद्राको—धारण करनेके पात्र अति निषुण एवं विवेक-सम्पन्न मानव ही होते हैं<sup>१</sup> फिर भी जिनवीक्षा लेनेवाले साधुओंमें कुछ ऐसे भी निकलते हैं जो बाध्यमें परम धर्मका अनुष्ठान करते हुए भी अन्तरंगसे संसारका अभिनन्दन करनेवाले होते हैं। ऐसे साधु-मुनियोंकी पहचान एक लो यह है कि ये आहारादि चार संज्ञाओंके अथवा उनमेंसे किसीके भी वशीभूत होते हैं; दूसरे लोकपक्षियों-लौकिकजनों-जैसी क्रियाओंके करनेमें-उनकी रुचि बनी रहती है और वे उसे अच्छा समझकर करते भी हैं। आहार-संज्ञाके वशीभूत मुनि बहुधा ऐसे घरोंमें भोजन करते हैं जहाँ अच्छे रुचिकर एवं गरिष्ठ-स्वाविष्ट भोजनके मिलनेकी अधिक सम्भावना होती है, उच्छिष्ट भोजनके त्याग-की—आगमोक्त दोषोंके परिचर्जनकी—कोई परवाह नहीं करते, भोजन करते समय अनेक बाधा क्षेत्रोंसे आया हुआ भोजन भी ले लेते हैं, जो स्पष्ट आगमाङ्काके विरुद्ध होता है। भय-संज्ञाके वशीभूत मुनि अनेक प्रकारके भयोंसे आक्रान्त रहते हैं, परीष्वोंके सहनसे घबराते रथा बनवाससे डरते हैं; जबकि सम्यग्दृष्टि सम प्रकारके भयोंसे रहित होता है। मैथुनसंज्ञाके वशीभूत मुनि ब्रह्मचर्य महाप्रतको धारण करते हुए भी गुप्त रूपसे उसमें दोष लगाते हैं। और परिग्रह-संज्ञावाले साधु अनेक प्रकारके परिग्रहोंकी इच्छाको धारण किये रहते हैं, पैसा जमा करते हैं, पैसेका ठहराव करके भोजन करते हैं, अपने इच्छजनोंको पैसा विलाते हैं, पुस्तकें छपा-छपाकर बिक्री करते-कराते रुपया जोड़ते हैं, तालाबन्द बोक्स रखते हैं, बोक्सकी ताली कम्पड़लु आदिमें रखते हैं, पीछीमें नोट छिपाकर रखते हैं, अपनी पूजाएं बनवा-कर छपयाते हैं और अस्त्री जन्मगाँड़का उत्सव मनाते हैं। ये सब लक्षण उक्त भवाभिनन्दियोंके हैं, जो पवके ‘संज्ञावशीकृताः’ और ‘लोकपक्षिकृतादराः’ इन दोनों विशेषणोंसे फलित होते हैं और आजकल अनेक मुनियोंमें लक्षित भी होते हैं।

१. आहार-भय-परिग्रह-मेत्रण-सञ्ज्ञाहि मोहितोसि कुर्मं। भविजो संसारवने आणाइकालं आणपदसौ ॥११०॥ —कुन्दकुन्द, भावपादुः ।      २. मूकिं वियावता धर्मं जिगलिङ्गं पटोयसा ।  
—यो० प्रा०, ८-१।

मूढा लोभपराः क्रूरा भीरवोऽस्यकाः शठाः ।  
भवाभिनन्दिनः सन्ति निष्फलारम्भकारिणः ॥१६॥

‘जो मूढ—हृष्टिविकारको लिये हुए मिथ्याहृष्टि—लोभमें तत्पर, क्रूर, भीर ( ढरपोक ), हृष्टिवालु और विवेक-विहीन हैं वे निष्फल-आरम्भकारी—निरर्थक धर्मानुष्ठान करनेवाले—भवाभिनन्दी हैं ।’

**अथात्**—यहाँ भवाभिनन्दियोंके लिए जिन चिशेषणोंका प्रयोग किया गया है वे उनकी प्रकृतिके द्वारा होते हैं । ऐसे चिशेषण-विशिष्ट मुनि ही प्रायः उक्त मंज्ञाओंके वशीभूत होते हैं, उनके सारे धर्मानुष्ठानको यहाँ निष्फल—अन्तःसार-विहीन—घोषित किया गया है । अगले पक्षमें उस लोकपंक्तिका स्वरूप दिया है, जिसमें भवाभिनन्दियोंका सदा आदर दबा रहता है ।

भवाभिनन्दियोःद्वारा आदृत लोकपंक्तिका स्वरूप

आराधनाय लोकानां मलिनेनान्तरात्मना ।  
क्रियते या क्रिया पालैलोकपञ्चक्तिरसौ मतां ॥२०॥

‘अविवेकी साधुओंके द्वारा मलिन अन्तरात्मासे युक्त होकर लोगोंके आराधन—अनुरंजन अथवा अपनी ओर आकर्षणके लिए जो धर्म-क्रिया की जाती है वह ‘लोक-पंक्ति’ कहलाती है ।’

**अथात्**—यहाँ लौकिकजनों-जैसी उस क्रियाका नाम ‘लोकपंक्ति’ है जिसे अविवेकीजन दूषित-मनोशृङ्खितिके द्वारा लोकाराधनके लिए करते हैं अर्थात् जिस लोकाराधनमें ख्यातिभास-पूजादि-जैसा अपना कोई लौकिक स्वार्थ सन्निहित होता है । इसीसे जिस लोकाराधनरूप क्रियामें ऐसा कोई लौकिक स्वार्थ सन्निहित नहीं होता और जो विवेकी विद्वानोंके द्वारा केवल धर्मार्थ की जाती है वह लोकपंक्ति नहीं होती, तब क्या होता है उसे अगले पक्षमें दर्शाया है ।

धर्मार्थ लोकपंक्ति और लोकपंक्तिके लिए धर्म

धर्मार्थ क्रियमाणा सा कल्याणाङ्गं मनोषिणाम् ।  
दमिमितः पुनर्धर्मः पापाय दत्तचेतसाम् ॥२१॥

‘जो विवेकशील विद्वान् साधु हैं उनको धर्मार्थ की गयी उक्त लोकाराधनरूप क्रिया कल्याण-करतिरणी होती है और जो मूढ़चित अविवेकी हैं, उन साधुओंका लोकाराधनके निमित्त—लोगों-को अपनी ओर आकर्षित करनेके लिए—क्रिया गया धर्म पापबन्धका कारण होता है ।’

**अथात्**—यहाँ विवेकी जनोंके द्वारा धर्मके अर्थ—धर्मकी वृद्धि प्रसूति रक्षा और प्रभावनाके लिए—जो लोकाराधन-क्रिया की जाती है उसे तो कल्याणकारिणी बतलाया है परन्तु लोकाराधनके लक्ष्यको लेकर जो धर्म क्रिया जाता है उसे पापबन्धका कारण बतलाया है । इस तरह धर्मके लिए लोकाराधन और लोकाराधनके लिए धर्मसाधन इन दोनोंमें परस्पर बहु अन्तर है—एक पुण्यरूप है, दूसरा पापरूप है । इससे यह भी फलित हुआ कि धर्मसाधन पुण्यबन्ध ही नहीं, कभी-कभी हृष्टिभेदके कारण पापबन्धका भी कारण होता है । भवाभिनन्दियोंका धर्मानुष्ठान प्रायः इसी कोटिमें आता है ।

मुक्तिमार्गपर तत्पर होते हुए भी सभीको मुक्ति नहीं।  
**मुक्तिमार्गपरं चेतः कर्मशुद्धि-निवन्धनम् ।**  
**मुक्तिरासश्चभव्येन न कदाचित्पुनः परम् ॥२२॥**

‘जो चित्त मुक्तिमार्गपर तत्पर है वह कर्ममलको हटाकर आसमशुद्धिका कारण है। परन्तु मुक्तिकी प्राप्ति आसश्चभव्यको होती है और दूसरेको कदाचित् (कर्म) नहीं।’

व्याख्या—मुक्तिमार्गपर तत्पर होते हुए भी सभीको मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती; मुक्तिकी प्राप्तिके लिए निकटभव्यताकी योग्यताका हाँना साध्यमें आवश्यक है, यह यहाँपर दर्शाया है।

भवाभिनन्दियोंका मुक्तिके प्रति विदेष  
**कल्पष-क्षयतो मुक्तिर्भोग-सङ्गम(वि)विजिनाम् ।**  
**भवाभिनन्दिनामस्यां विदेषो मुग्धचेतसाम् ॥२३॥**

‘जो भोगोंके सम्पर्कसे रहित है, अथवा हन्त्रिय विषय भोग और परिग्रहसे विवर्जित है—पूर्णतः विरक्त हैं—उन (महात्माओं) के कर्मोंके क्षयसे मुक्ति होती है। जो मूढ़चित्त भवाभिनन्दी हैं उनका इस मुक्तिमें विवेषतः द्वेषभाव रहता है।’

व्याख्या—मिथुले पद्मर्भं यह बतलाया है कि मुक्ति आसश्चभव्योंको होती है—दूसरोंको नहीं। इस पद्ममें एक तो उन आसश्चभव्योंको ‘भोगसंगविवर्जित’ विशेषणके द्वारा स्पष्ट किया गया है—छिसा है कि जो भोगों और परिग्रहोंसे सर्वथा अथवा ‘पूर्णतः विरक्त हैं। दूसरे मुक्तिके हेतुका निर्देश किया है और वह है कर्मोंका सर्वथा विनाश। तीसरे यह उल्लेख किया है कि जो भवाभिनन्दी मुनि होते हैं उन विवेकठून्य मूढ़-मानसोंका इस मुक्तिमें अतिद्वेषभाव रहता है—संसारका अभिजनन करनेवाले दीर्घ संसारी होनेसे उन्हें मुक्तिकी बात नहीं सुहाती—नहीं रुचती—और इसलिए वे उससे प्रायः किमुख बने रहते हैं—उनसे मुक्तिकी साधनाका कोई भी योग्य प्रयत्न बन नहीं पाता; सब लुँछ कियाकाण्ड ल्यरी और कोरा लुमायशी ही रहता है।

मुक्तिसे द्वेष रखनेका कारण यह दृष्टिविकार है जिसे ‘मिथ्यादर्शन’ कहते हैं और जिसे आचार्य महोदयने अगले पद्ममें ही ‘भववीज’ रूपसे उल्लेखित किया है।

जिनके मुक्तिके प्रति विदेष नहीं वे धन्य  
**नास्ति येषामयं तत्र भववीज-वियोगतः ।**  
**तेऽपि धन्या महात्मानः कल्याण-फल-भागिनः ॥२४॥**

‘जिनके भववीजका—मिथ्यादर्शनका—वियोग हो जानेसे मुक्तिमें वह द्वेषभाव नहीं है वे महात्मा भी धन्य हैं—प्रशंसनीय हैं—और कल्याणरूप फलके भागी हैं।’

व्याख्या—यहाँ उन महात्माओंका उल्लेख है और उन्हें धन्य तथा कल्याणफलका भागी बतलाया है जो मुक्तिमें द्वेषभाव नहीं रखते, और द्वेषभाव न रखनेका कारण भववीज जो मिथ्यादर्शन वसका उनके वियोग सूचित किया है।

निःसम्भेद संसारका मूल कारण 'मिथ्यादर्शन' है, मिथ्यादर्शनके सम्बन्धसे ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्यानाचारित्र होता है, तीनोंको भवपद्धति—संसार मार्गके रूपमें उल्लेखित किया जाता है, जो कि मुक्तिमार्गके 'विपरीत' है। यह दृष्टिविकार ही चर्तु तत्त्व-को उसके असली रूपमें देखने नहीं देता, इसीसे जो अभिनन्दनीय नहीं है उसका तो अभिनन्दन किया जाता है और जो अभिनन्दनीय है उससे द्वेष रखा जाता है। इस पद्ममें जिन्हें धन्य, महात्मा और कल्याणफलभागी बतलाया है उनमें अविरत-सम्यग्दृष्टि तकका समावेश है।

स्वामी समन्तभद्रने सम्यग्दर्शनसे सम्भज चाण्डाळ-पुत्रको भी 'देव' लिखा है—आराध्य बतलाया है; और श्री कुम्दकुन्दाचार्यने सम्यग्दर्शनसे भ्रष्टको भ्रष्ट ही निर्दिष्ट किया है, उसे निर्वाणकी<sup>१</sup>—सिद्धि-मुक्तिकी—प्राप्ति नहीं होती।

इस सब कथनसे यह साफ़ फलित होता है कि मुक्तिद्वेषी मिथ्यादृष्टि भवाभिनन्दी-मुनियोंकी अपेक्षा देशत्रिती श्रावक और अविरत-सम्यग्दृष्टि गृहस्थ तक धन्य हैं, प्रशंसनीय हैं तथा कल्याणके भागी हैं। स्वामी समन्तभद्रने ऐसे ही सम्यग्दर्शन-सम्भज सदृगृहस्थोंके विषयमें लिखा है—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो, नैव मोहवान् ।

अनगारो, गृही श्रेष्ठान् निर्मोहो, मोहिनो मुनेः ॥

'मोह ( मिथ्यादर्शन )' रहित गृहस्थ मोक्षमार्गी है। मोहसहित ( मिथ्या-दर्शन-युक्त ) गृहिनि मोक्षमार्गी नहीं हैं। ( और इसलिए ) मोही-मिथ्यादृष्टिमुनिसे निर्मोही—सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ हैं।'

इससे यह स्पष्ट होता है कि मुनिभावका दर्जा गृहस्थसे ऊँचा नहीं है, मुनियोंमें मोही और निर्मोही दो प्रकारके मुनि होते हैं। मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थका दर्जा ऊँचा है—यह उससे श्रेष्ठ है। इसमें मैं इतना और जोड़ देना चाहता हूँ कि अविवेकी मुनिसे विवेकी गृहस्थ भी श्रेष्ठ है और इसलिए उसका दर्जा अविवेकी मुनिसे ऊँचा है।

जो भवाभिनन्दीमुनि मुक्तिसे अन्तरंगमें द्वेष रखते हैं वे जैन मुनि अथवा अमण कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते। जैन मुनियोंका तो प्रधान लक्ष्य ही मुक्ति प्राप्त करना होता है। उसी लक्ष्यको लेकर जिमुद्रा धारणकी सार्थकता मानी गयी है।<sup>२</sup> यदि वह लक्ष्य नहीं तो जैन मुनिपना भी नहीं; जो मुनि उस लक्ष्यसे भ्रष्ट है उन्हें जैनमुनि नहीं कह सकते—वे भेषी-दोंगी गुनि अथवा अमणाभास हैं।

श्री कुम्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसारके तृतीय चारित्राधिकारमें ऐसे मुनियोंको 'लौकिक-मुनि' तथा 'लौकिकजन' लिखा है। लौकिकमुनि-लक्षणात्मक उनकी वह गाथा इस प्रकार है:—

णिरांथो पञ्चद्वयो बद्वदि जदि एहिगेहि कम्मेहि ।

सो लोगिगो लि भणिगो संजम-तव-संजुदो चावि ॥६९॥

इस गाथामें बतलाया है कि 'जो निर्मन्थरूपसे प्रब्रजित हुआ है—जिसने निर्मन्थ दिग्मन्त्रर जैन मुनिकी दीक्षा धारण की है—वह यदि इस लोक-सम्बन्धी सांसारिक दुनियादारीके कार्यमें प्रवृत्त होता है तो तप-संथमसे युक्त होते हुए भी उसे 'लौकिक' कहा गया है।' वह पारमार्थिक मुनि न होकर एक प्रकारका सांसारिक हुनियादार प्राणी है। उसके लौकिक

१. सदृष्टिज्ञानवृत्तानि घर्म धर्मेश्वरा विदुः। यदोऽप्रत्यनीकामि भवनित भवपद्धतिः ॥—समन्तभद्र ।

२. दंसणमट्टा भट्टादंसणभट्टस्म एतिथं णिष्वाण ।—दंसणमट्ट । ३. मोही मिथ्यादर्शनमृच्यते—रामसेन, तत्त्वानुशासन । ४. मुक्ति विवासता धार्य जिनलिङ्गे पदीयसा । —योगसारप्रा० ८-१ ।

कायोंमें प्रवर्तनका आशय मुनिपदको आजीविकाका साधन बनाना, ख्याति-लाभ-पूजादिके लिए सब कुछ क्रियाकाण्ड करना, वैद्यक-ज्योतिष-मन्त्र-तन्त्रादिका व्यापार करना, पैसा बढ़ो-रना, लोगोंके शरण-टण्ट्रमें फँसना, पाटीबन्दी करना, साम्राज्यादिकताको उभारना और दूसरे ऐसे कृत्य करने-जैसा हो सकता है जो समतामें बाधक अथवा योगीजनोंके योग्य न हो।

एक महसूबकी बात इससे पूर्वकी गाथामें आचार्य महोदयने और कही है और वह यह है कि 'जिसने आगम और उसके द्वारा प्रक्रियादित लौकिक पदार्थोंना निष्ठाय कर लिया है, क्षायोंको शान्त किया है और जो तपस्यामें भी बढ़ा-चढ़ा है, ऐसा मुनि भी यदि लौकिक-मुनियों सथा लौकिक-जनोंका संसर्ग नहीं त्यागता तो वह संयमी मुनि नहीं होता अथवा नहीं रह पाता है—संसर्गके दोषसे, अग्निके संसर्गसे जलकी तरह, अवश्य ही चिकारको प्राप्त हो जाता है :—

णिच्छद्वलुत्तथ्यपदो समिवकसाओ तवोधिगो चावि ।  
लोगिगजन-संसर्गं ण चयदि जवि संजदो ण हववि ॥६८॥

इससे लौकिक-मुनि ही नहीं किन्तु लौकिक-मुनियोंकी अथवा लौकिक-जनोंकी संगति न छोड़नेवाले भी जैन मुनि नहीं होते, इतना और सष्टु हो जाता है; क्योंकि इन सबकी प्रवृत्ति प्रायः लौकिकी होती है, जबकि जैन मुनियोंकी प्रवृत्ति लौकिकी न होकर अलौकिकी हुआ करती है; जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

अनुसरता पदमेतत् करम्बिताचार-नित्य-निरभिमुखा ।  
एकान्त-विरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥१३॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

इसमें अलौकिकी वृत्तिके दो विशेषण दिये गये हैं—एक तो करम्बित ( मिलायटी-बनाचटी-दूषित ) आचारसे सब्दा विसुख रहनेवाली; दूसरे एकान्ततः ( सर्वथा ) विरतिरूपा—किसी भी परन्यदार्थमें आसक्ति न रहनेवाली। यह अलौकिकी वृत्ति ही जैन मुनियोंकी जान-प्राण और उसके मुनि-जीवनकी शान होती है। जिन इसके सब कुछ कीका और निःसार हैं।

इस सब कथनका सार यह निकला कि निर्घन्य रूपसे प्रब्रजित-दीक्षित जिनमुद्राके धारक विगम्बर मुनि दो प्रकारके हैं—एक वे जो निर्भीही—सम्यग्दृष्टि हैं, मुगुष्म-मोक्षाभिलाषी हैं, सच्चे मोक्षमार्गी हैं, अलौकिकी वृत्तिके धारक संयत हैं और इसलिए असली जैन मुनि हैं। दूसरे वे, जो मोहके उद्यवश हृषि-चिकारको लिये हुए मिथ्यादृष्टि हैं, अन्तरंगसे मुक्तिद्वेषी हैं, बाहरसे दूसरी मोक्षमार्गी हैं, लोकाराधनके लिए धर्मक्रिया करनेवाले भवाभिनन्दी हैं, संसारार्थत्यर्ती हैं, कलतः असंयत हैं, और इसलिए असली जैनमुनि न होकर नकली मुनि अथवा भ्रमणाभास हैं। दोनोंकी कुछ बातेक्रियाएँ तथा वेष सामान्य होते हुए भी दोनोंको एक नहीं कहा जा सकता; दोनोंमें वस्तुतः जमीन-आसमानका-सा अन्तर है। एक कुरुक्ष संसार-ध्रमण करने-करनेवाला है तो दूसरा सुगुह संसार-वन्धनसे छूटने-छुड़ानेवाला है। इसीसे आगममें एकको वन्दनीय और दूसरेको अवन्दनीय बतलाया है। संसारके मोही प्राणी अपनी सासारिक इच्छाओंकी पूर्तिके लिए भले ही किसी परमार्थतः अवन्दनीयकी वन्दना-विनाशादि करें—कुरुक्षोंसुगुह मान लें—परन्तु एक शुद्ध सम्यग्दृष्टि ऐसा नहीं करेगा। भव, आशा, स्नेह और लोभमेंसे किसीके भी वश होकर उसके लिए वैसा करनेका निषेध है।<sup>१</sup>

१. भद्राशास्नेहलोभाच्च कुरुक्षगमलिङ्गिनाम् । प्रणामं विनर्य चैव त कुरुः शुद्धदृष्टयः ॥

—स्वामी समन्तभद्र

मुक्तिमार्गको मलिनवित्त मलिन करते हैं

संज्ञानादिरूपायो यो निष्ठृतेवर्णितो जिनैः ।  
मलिनीकरणे तस्य प्रवर्तन्ते मलीमसाः ॥२५॥

‘जिनेन्द्र देवोंने मुक्तिका जो उपाय सम्यग्ज्ञानादिरूप बर्णन किया है उसको मलिनवित्त-साधु तथा गृहस्थ विद्वान्—मलिन करनेमें प्रवृत्त होते हैं।’

**ब्यालया**—मुक्तिका जो मार्ग सम्यग्ज्ञानादिरूप रत्नव्याप्ति जिनेन्द्रदेव-द्वारा वर्णित हुआ है उसे मलिन करनेमें वही प्रवृत्त होते हैं जो मलिनहृदय होते हैं। इसीसे लोकपर्तिमें प्रवृत्त होनेवाले भवाभिनन्दी मुनिको ‘मलिन अन्तरात्मा’ (२०) लिखा है।

मुक्तिमार्गके आराधन तथा विराधनका फल

आराधने थथा तस्य कलमुक्तमनुकारम् ।  
मलिनीकरणे तस्य तथानर्थं वहुव्यथः ॥२६॥

‘जिस प्रकार सम्यग्ज्ञानादिरूप मुक्तिमार्गकी आराधना-साधना करनेपर उसका फल अलि उत्तम भोक्ता सुख कहा गया है उसी प्रकार उस मार्गके भलिन करनेपर उसका फल बहुत अनर्थ तथा दुःखस्थ कहा गया है।’

**ब्यालया**—जिस मोक्षमार्गका पिछले पद्ममें उल्लेख है उसके आराधनका फल जहाँ परमोक्षम सुखकी आभिरूप होता है वहाँ उसके विराधन अथवा मलिनीकरणका फल बहुत दुःख तथा अनर्थके रूपमें होता है, ऐसा यहाँ विधान किया गया है।

मार्गकी मलिनतासे होनेवाले अनर्थका सूचन

तुग्गारोहणतः पातो यथा त्रिपिर्विषाभ्रतः ।  
यथानर्थोऽवबोधादि-मलिनीकरणे तथा ॥२७॥

‘जिस प्रकार ऊँची सीढ़ीपरसे गिरना तथा विषमिश्रित भोजनसे त्रिपिका होना अनर्थकारी है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानादिको मलिन-वृष्टि करना अनर्थकारी है।’

**ब्यालया**--मुक्तिमार्गको मलिन करनेपर जिस अनर्थकी बात पिछले पद्ममें कही गयी है उसका यहाँ दो उदाहरणोंके द्वारा कुछ आभास कराया गया है—एक है तुग्गारोहणसे पतन, जितना कोई अधिक ऊँचा चढ़कर गिरेगा उतना ही वह अधिक दुःखका पात्र होगा। दूसरा उदाहरण है विष-मिश्रित अब्रके भोजनसे त्रिपिका—ऐसे विषाक्त भोजनसे जितनी किसीको अधिक त्रिपि होगी उतनी ही अधिक उसे बेदना उठानी पड़ेगी। यही दुःख तथा अनर्थकी स्थिति निम्नल सम्यग्ज्ञानादिको मलिन करनेपर होती है।

हिंसा पापका बन्धु किसको और किसकी नहीं

'अयत्नचारिणो हिंसा मृते जीवेऽमृतेऽपि च ।  
प्रयत्नचारिणो वैष्णवः प्रमितस्य वधेऽपि नो ॥२८॥

'जो यत्नाचाररहित ( प्रमादी ) है उसके जीवके मरने तथा न मरनेपर भी हिंसा होती है और जो ईर्ष्यावि समितियोंसे धुक्त हुआ यत्नाचारी है उसके जीवका घात होनेपर भी ( हिंसा कर्मका ) बन्धु नहीं होता ।'

बधाइया—मोक्षमार्गके अंगमूल सम्बन्धकारित्रमें हिंसाकी पृणतः निवृत्तिरूप अहिंसा महाब्रतकी प्रधानता है, उस अहिंसा महाब्रतकी मदिनताका विचार करते हुए यहाँ सिद्धान्तरूपमें एक बड़े ही महसूबकी सूचना की गयी है और वह यह कि हिंसा-अहिंसाका सम्बन्ध किसी जीवके मरने-न-मरने ( जनि ) पर अवलभित नहीं है, कोई जीव न मरे परन्तु जो अयत्नाचारी-प्रमादी है उसको हिंसाका दोष लगाकर महाब्रत मदिन होता ही है और जो प्रयत्नपूर्वक भार्ग शोधता हुआ सावधानीसे चलता है, फिर भी उसके शरीरसे किसी जीवका घात हो जाता है तो उस जीव घातका उसको कोई दोष नहीं लगता और इससे उसका अहिंसा महाब्रत मदिन नहीं होता । सारांश यह निकला कि हमारा अहिंसाब्रत हमारी प्रमादचर्यासे मदिन होता है किसी जीवकी मात्र हिंसा हो जानेसे नहीं । अतः साधुको अपने ब्रतकी रक्षाके लिए सदा प्रमादके त्यागपूर्वक यत्नाचारसे प्रबृत्त होना चाहिए । इस विषयमें श्री अमृतचन्द्र सूरिके निम्न हेतु-पुराणर-त्राक्ष्य सदा ध्यानमें रखने चाहिए :—

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।  
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणदेव ॥४५॥  
व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तयाम् ।  
मियतां जीवो मा वा घावत्यये ध्रुवे हिंसा ॥४६॥  
यस्मात्सक्षात्यः सन् युत्थात्मा प्रथमभात्मनात्मानम् ।  
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राणव्यतराणां तु ॥४७॥

—पुरुषार्थसिद्धच्युपाय

इनमें बतलाया है कि 'जो साधु यत्नाचारसे प्रबृत्त हो रहा है उसके रागादिके आवेशका अभाव होनेसे किसीका प्राणव्यपरोपण हो जानेपर भी कभी हिंसा नहीं होती । रागादिके वश प्रबृत्त होनेवाली प्रमादोवस्थामें वो कोई जीव मरे या न मरे हिंसा आगे-आगे दीड़ती हुई जलती है—निश्चित रूपसे हिंसा होती ही है । क्योंकि जो जीव कषायरूप प्रबृत्त होता है वह पहले अपने द्वारा अपना ही घात करता है पश्चात् दूसरे जीवोंका घात हो या न हो—यह उसके भवित्यसे सम्बन्ध रखता है ।

१. मरदु व जियदु व जीवो अयशाचारस्य णिचिदा हिंसा । पवदस्य णत्य वंशोः हिंसामेतेण सनिदत्तस्य ॥३-१७॥ —प्रवचनसार ।

पूर्व कथनका स्पष्टोकरण

पादसुत्तिष्ठपतः साधोरीयासमिति-भागिनः ।  
यद्यपि प्रियते सूक्ष्मः शरीरो पाद-योगतः ॥२९॥  
तथापि तस्य तत्रोक्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि नागमे ।  
प्रमाद-त्यागिनो यद्वश्चिर्मूच्छेस्य परिप्रहः ॥३०॥

‘दद्यपि ईर्यासमितिसे युक्त—भले प्रकार देखभालकर सावधानीसे चलते हुए—योगीके पैरको उठाकर रखते समय ( कभी-कभी ) सूक्ष्म जगत् पैरतले आकर मर जाता है तथापि जिनागममें उस प्रमादत्यागी योगीके उस जीवधातसे सूक्ष्म भी बन्धका होना नहीं कहा गया है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि सूच्छा—ममतारहितके परिप्रह नहीं कहा गया ।’

बाल्या—पिछले पथमें जो कुछ कहा गया है उसीको इन दोनों पथोंमें उदाहरणके साथ स्पष्ट करके बतलाया गया है। एक साधु ईर्यासमितिसे चार हाथ आगे तकछी भूमिको देखता—ज्ञेयता हुआ इस सावधानीके साथ मन्दगतिसे चला जा रहा है कि किसी जीवके ऊपर उसका पैर न पढ़ जाये, फिर भी कोई सूक्ष्म जीव पैरको उठाते समय अचानक इधर-उधरसे आकर पैरके नीचे आ जाता और मर जाता है तो उस जीवके बन्धका सूक्ष्म भी पापत्रन्ध जैनागमकी लक्षणे उस प्रमादरहित साधुको नहीं होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि मूच्छा ( ममत्वपरिणाम ) से रहितके परिप्रहका ‘दोष नहीं लगता; क्योंकि ‘मूच्छा परिप्रहः’ परिप्रहका लक्षण ही मूच्छा कहा गया है और ‘मूच्छा तु ममत्व-परिणामः’ इस लक्षणके अनुसार मूच्छा ममत्व-परिणामका नाम है। इसीसे समवसरण-जैसे महाविभूतिके होते हुए भी ममत्व-परिणामके जनक मोहनीय कर्मका अभाव हो जानेसे तीर्थकर परमदेव परिप्रहके शेषमे अलिङ्ग रहते हैं।

अन्तर्ग परिप्रहको न छोड़कर बाह्यको छोड़नेवाला प्रमादी

प्रमादी त्यजति ग्रन्थं बाह्यं सुकृत्वापि नान्तरम् ।  
हित्वा पि कञ्जुकं सर्पो गरलं न हि मुश्तते ॥३१॥

‘जो प्रमादी ( मुनि ) है वह अन्तर्ग परिप्रहको न छोड़ते हुए भी बाह्य परिप्रहको छोड़ता है। ( ठीक है ) सर्प कंचलीको छोड़कर भी विषको नहीं छोड़ता ।’

बाल्या—जो राग-द्वेष-काम-कोद्यादि अन्तर्ग-परिप्रहोंका त्याग न करके बस्त्रादि बाह्य परिप्रहोंका त्याग करता है उस निर्वन्ध साधुको यहाँ ‘प्रमादी’ बतलाया है, वह गरल ( विष ) को न छोड़कर कौचली छोड़नेवाले सर्पके समान होता है। ऐसे ही निर्वन्ध मुनियों-को लक्ष्य करके श्री मलिलपेणाचार्यने सज्जनचिन्तावल्लभमें लिखा है :

कि बस्त्र-त्यजनेन भो मुनिरसावेतावता जायते  
इवेष्टेन च्युतपश्चगो गतविषः कि जातवान् भूतले ॥

१. उच्चालित्यस्मिह पाए इरियासमिदस्स णिगमत्याए। आवायेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥१८॥१॥ ॥ य हि तस्य तप्तिमित्तो बंधो मुहुमो यदेसिद्वो समये । मूच्छापरिप्रहो विषय अज्ञाप्यपरिप्रहो दिहु ॥१८॥२॥ —प्रवचनसार अ० ३ । २. आद्वि तत्रोक्तम् ।

इसमें बनलाया है कि हे सुनि ! यस्त्रको त्यागने मात्रसे ही कथा कोई मुनि हो जाता है, कथा इस भूतलपर काँचलाके छोड़नेसे कोई सर्व निविष्ट हुआ है ?

अन्तशुद्धिके बिना बाह्यशुद्धि अविद्वसनीय

अन्तशुद्धि बिना बाह्य न साश्वासकरी मता ।  
धबलोऽपि वको बासे हन्ति मीनाननेकशः ॥३२॥

‘अन्तरंगकी शुद्धिके बिना बाह्यशुद्धि विश्वासके योग्य नहीं होती । बगुला आह्यमें धबल-उज्ज्वल होनेपर भी ( अन्तरंग शुद्धिके अभावमें ) अनेक मछलियोंको मारता रहता है ।’

**व्याख्या—**अन्तशुद्धिके बिना बाह्यशुद्धि विश्वासका कारण नहीं होती, इस बातको स्पष्ट करते हुए यहाँ बगुलेका हम्मान्त दिया गया है जो बाह्यमें रवच्छ धबल होते हुए भी अन्तरंगमें मलिनताके कारण अनेक मछलियोंको मारा करता है । उसकी इस अन्तशुद्धि-विहीन कपट वृत्तिको लेकर ही किसी कविने कहा है—

‘उज्ज्वल वर्ण अधीन गति एक चरण दो ध्यान ।  
मैं जाना कोई साधु है, निरी कपट की खान ॥’

इसीसे जिन साधुओंका अन्तरंग शुद्ध नहीं होता उन्हें ‘बगुला भगत’ कहा जाता है । उनका विश्वास नहीं किया जाता, जो भूलसे विश्वास कर बैठता है वह ठगाया जाता है हानि डाला है ।

प्रमादो तथा निष्प्रमादो योगीकी स्थिति

‘योगी पट्टस्वपि<sup>१</sup> कायेषु सप्रमादः प्रवृद्ध्यते ।  
सरोजमिव तोयेषु निष्प्रमादो न लिप्यते ॥३३॥

‘जो योगी षट्कायके जीवोंमें प्रमादसे प्रवृत्त होता है वह कमोंसे बैधता है और जो प्रमादसे प्रवृत्त नहीं होता वह कमोंसे उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार जलमें कमल ।’

**व्याख्या—**संसारी जीव त्रस-स्थावरके भेदसे दो प्रकारके होते हुए भी कायकी हातिसे छह प्रकारके हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, चायु तथा बनस्पतिके शरीरको धारण करनेवाले-पौच्छ प्रकारके एक इन्द्रिय स्थावर जीव होते हैं और दो हन्दियादि रूप त्रस शरीरको धारण करनेवाले त्रस जीव कहलाते हैं । इन छहों प्रकारके देहधारी जीवोंके प्रति जो योगी प्रमादसे प्रवृत्त होता है वह हिंसाके दोपका भागी होकर कर्मके बन्धनको प्राप्त होता है और जिसकी प्रवृत्ति प्रमादरूप न होकर यत्नाचारको लिये हुए होती है वह जलमें कमलके समान निलेप रहता है—कर्मदन्धको आप्त नहीं होता ।

१. अयदाचारो गमणो छम्यु वि कायेषु बवकरी ति सदो । षट्प्रिं वहं जदि णिच्वं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥३-१८॥ —प्रवृत्तनगार । २. का प्रदपि ।

जीव घात होनेपर बन्ध हो न भी हो, परिग्रहसे उसका होना निश्चित

**'साधुर्यतोऽङ्गिधातेऽपि कर्ममिर्दध्यते न वा ।  
उपधिम्योऽध्रुवो बन्धस्त्याज्यास्तैः सर्वथा ततः ॥३४॥**

‘जीकि कायचेष्टाके द्वारा जीवका घात होनेपर भी साधु ( कभी तो प्रमादरूप अशुद्ध उपयोगके कारण ) कर्मोंसे बंधता है और कभी ( अप्रमादरूप शुद्ध उपयोगके कारण ) नहीं भी बंधता; परन्तु परिग्रहके द्वारा तो निश्चित बन्ध होता है—इसलिए साधुओंके द्वारा परिग्रह सर्वथा त्याज्य है ।’

**व्याख्या**—कायचेष्टासे जीवका घात होनेपर तो ‘बन्धके’ विषयमें अनेकान्त है, वह कभी होता है और कभी नहीं भी होता । अन्तरंगमें यदि प्रमादरूप अशुद्ध उपयोगका सद्भाव है तो होता है और सद्भाव नहीं किन्तु अभाव है तो बन्ध नहीं होता, परन्तु परिग्रहके विषयमें बन्धका अनेकान्त नहीं किन्तु एकान्त है—वह अवश्य ही होता है । इसीसे सच्चे मुमुक्षु साधु परिग्रहोंका सर्वथा त्याग करते हैं—किसीमें भी अपना ममत्व नहीं रखते ।

एक भी परिग्रहके न त्यागमेका परिणाम

**'एकत्राप्यपरित्यक्ते चित्तशुद्धिं विद्यते ।  
चित्तशुद्धिं विना साधोः कुतस्त्या कर्म-विच्युतिः ॥३५॥**

‘एक भी परिग्रहके न त्यागे जानेपर ( पूर्णतः ) चित्तशुद्धि नहीं बनती और चित्तशुद्धिके बिना साधुके कर्मोंसे मुक्ति कैसी?’

**व्याख्या**—भूमि, भवन, धन-धान्यादिके भेदसे वास्तु परिग्रह दस प्रकारका और मिश्यात्म, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्यादिके भेदसे अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकारका कहा गया है । इन चौबीस प्रकारके परिग्रहोंमें से यदि एकका भी त्याग नहीं किया जाता तो चित्तशुद्धि पूरी नहीं बनती और जश्तक चित्तशुद्धि पूरी नहीं बनती तबतक कर्मोंसे मुक्ति भी पूर्णतः नहीं हो पाती । अतः मुक्तिके इच्छुक साधुको सभी परिग्रहोंका त्याग कर अपने उपयोगको शुद्ध करना चाहिए । इसीसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यने परिग्रहके त्यागको निरपेक्ष अतलाया है । यदि वह निरपेक्ष न होकर तिलतुष मात्र थोड़े-से भी परिग्रहकी अपेक्षा रखता है तो उससे साधुके शुद्धोपयोग नहीं बनता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि वास्तुमें जश्तक तुषका सम्बन्ध रहता है तबतक चावलमें जो ललाईरूप मल है वह दूर होनेमें नहीं आता । जिस साधुके शुद्धोपयोग नहीं बनता उसके कर्मोंसे मुक्ति भी नहीं होती—राग-द्वेषकी अवृत्तिमें शुभाशुभ कर्म बंधते ही रहते हैं ।

१. हृष्वदि व ण हृष्वदि बंधो मदम्हि जीवेऽव कायचेष्टुमि । बंधो धुवमूवधीदो इदि समणा छहिया सर्वं ॥३-१९॥—प्रवचनसार । २. मु उपाधिम्यो । ३. ण हि जिरवेष्टो चागो ण हृष्वदि निक्षेपस्य आसयदिसुहो । अविसुद्धस्य य चित्ते कहं णु कर्मकालओ विहिषो ॥३-२०॥—प्रवचनसार ।

चेलखण्डका वारक साधु निरालम्ब-निरारम्भ नहीं हो पाता

‘सूत्रोक्त’मिति गृहानश्चेलखण्डमिति स्फुटम् ।  
निरालम्बो निरारम्भः संयतो जायते कदा ॥३६॥

‘जो संयमी-मुनि ‘आगममें कहा है’ ऐसा कहकर वस्त्रखण्ड ( लंगोटी आदि ) को स्पष्टतया धारण करता है वह निरालम्ब और निरारम्भ कब होता है ?—कभी भी नहीं हो पाता ।’

**व्याख्या**—यदि साधुके लिए वस्त्रखण्ड आदिका रखना शास्त्र-सम्मत माना जाय तो वह साधु कभी भी आलम्बनरहित—परकी अपेक्षा-अधीनतासे बर्जित—और निरारम्भ—स्व-पर-वातसे शून्य—नहीं हो सकेगा । सदा पराधीन तथा हिंसक वना रहेगा और इसलिए स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि एवं मुक्तिको प्राप्त नहीं कर सकेगा ।

वस्त्र-नाशयाही योगीके प्राणवात और वित्तविक्षेप अनिवार्य

‘अलादु-भाजनं वस्त्रं गृह्णतोऽन्यदपि ध्रुवम् ।  
प्राणारम्भो यतेश्चेतोव्यातेपो वायते कथम् ॥३७॥

‘तुम्हीं पात्र, वस्त्र तथा और भी परिध्रुको निष्ठित रूपसे ग्रहण करनेवाले साधुके प्राण-वध और चित्तका विक्षेप कैसे निवारण किया जा सकता है ?—नहीं किया जा सकता ।

**व्याख्या**—पिछले पश्चमें प्रयुक्त ‘चेलखण्ड’ पद यद्यपि ‘वस्त्रखण्डमात्र’का वाचक है, परन्तु उपलक्षणसे उसमें भाजन आदि भी शामिल हैं, इसी आतको यहाँ ‘वस्त्र’ पदके साथ ‘अलादु-भाजन’ और ‘अन्यदपि’ पदोंके द्वारा स्पष्ट किया गया है, ‘अन्यत्’ शब्द कम्बल तथा सुधु शब्द्यादिका वाचक—सूचक है और इसलिए इन्हें भी ‘सूत्रोक्त’ परिध्रुकी छोटिमें लेना चाहिए । इन पर-पदार्थोंके प्रयोगमें प्रवृत्त योगीके प्राणवात और चित्तके विक्षेपका निराकरण नहीं किया जा सकता, शुद्धोपयोगके न बननेसे वे दोनों बराबर होते ही रहते हैं । ‘अलादु-भाजन, और प्रवचनसारका ‘द्रविधका भाजन’ दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं ।

विक्षेपकी अनिवार्यता और सिद्धिका अभाव

‘स्थापनं चालनं रचां चालनं शोषणं यतेः ।  
कुर्वतो वस्त्रपात्रादेव्यज्ञिषो न निवर्तते ॥३८॥  
‘आरम्भोऽसंयमो मूच्छा कथं तप्र निषिद्धते ।  
पर-द्रव्य-रत्स्यास्ति स्वात्म-सिद्धिः कुतस्तनी ॥३९॥

१. गेहृदि व चेलखण्ड भायणमत्य त्ति भणिदमिह मुते । जदि सो चलालंबो हृवदि कहं वा जणारंभो ॥२१॥ (क)—प्रवचनसार अ० ३ । २. वस्त्रखण्डं दुहियभायणमत्यं च गेहृदि गियदं । विज्जदि पाणारंभो विक्षेपो तस्स चित्तमिम ॥२१॥ (ख)—प्रवचनसार अ० ३ । ३. गेहृदि विधुणह घोवद् सोसेह जवं तु आदते खिता । परमं च चेलखण्डं विभेदिपरदी य पालयदि ॥३-२१ (ग) ॥  
—प्रवचनसार । ४. किय तमिह यत्ति मूच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स । तथ परश्वमिम  
रदो कथमप्याणं पसाधयदि ॥३-२१॥ —प्रवचनसार ।

‘जो थोगी वस्त्र-पात्रादिका रथमा अरना, उत्तरवान्-रहा करुणा, योग्य-सुखाता करता है उसके चित्तका विक्षेप नहीं मिटता। उनको करते हुए आरम्भ, असंयम तथा ममताका निषेध (अभाव) कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता और इस तरह परद्रव्यमें आसक्त साधुके स्वात्म-सिद्धि कैसी?—वह नहीं बन सकती।’

**ध्यात्मा**—वस्त्र-पात्रादि-परिग्रहोंको रखकर जो कार्य साधुको करने पड़ते हैं उनका संक्षेपमें उल्लेख करके यहाँ चित्तके विक्षेपको स्पष्ट किया गया है। साथ ही यह बताया है कि उक्त कार्योंको करते हुए प्राणवधका, असंयमका और ममत्व-परिणामका अभाव कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता और इन अभावोंके न बन सकनेसे परद्रव्यमें रतिके कारण स्वात्मसिद्धि कैसे हो सकती है? वह किसी प्रकार भी नहीं बन सकती, और इसलिए स्वात्म-साधनाका मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। अतः उक्त परिग्रहोंका रखना सर्वथा उचित नहीं कहा जा सकता।

जिसका ग्रहण-त्याग करते कोई दोष न लगे उसमें प्रवृत्तिकी व्यवस्था

‘न यत्र विद्यते छ्नेदः कुर्वतो ग्रह-मोक्षणे ।  
द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय साधुस्तत्र प्रवर्तताम् ॥४०॥

‘जिस (बाहु) परिग्रहको ग्रहण-मोक्षन करते हुए साधुके दोष नहीं, लगता—प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं होती—उसमें द्रव्य-क्षेत्रको भले प्रकार जानकर साधु प्रवृत्त होवे।’

**ध्यात्मा**—यहाँ अपवाद मार्गकी हृषिको लेकर कथन किया गया है। उत्सर्ग मार्गमें नूँकि आत्माके अपने शुद्धात्मभावके सिवाय दूसरे परद्रव्य—पुद्गलका कोई भाव नहीं होता इसीलिए उसमें सभी परिग्रहोंका पूर्णतः त्याग विहित है। अपवाद मार्ग उससे कुछ भिन्न है, उसमें द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी हृषिको लेकर अशक्तिके कारण कुछ बाहु परिग्रहका ग्रहण किया जाता है, उसी परिग्रहके संस्कृत्यमें यहाँ कुछ व्यवस्था की गयी है और यह यह है कि जिस परिग्रहके ग्रहण-त्यागमें उसके सेवन करनेवालेको छेद—दोष न लगे—शुद्धोपयोग रूप संयमका बात न हो—उस परिग्रहको यह साधु अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावको जानकर ग्रहण कर सकता है। यहाँ प्रयुक्त हुए ‘द्रव्यं क्षेत्रं’ वह उपलक्षणसे काल और भावके भी सूचक हैं। प्रवचनसारमें यहाँ ‘कालं’ ‘खेतं’ पदोंका प्रयोग है यहाँ इस पथमें ‘द्रव्यं’ ‘क्षेत्रं’ पदोंका प्रयोग है, जो कि उपलक्षणसे स्थामी समन्वयभद्रकी हृषिके अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारोंके थोतक जान पड़ते हैं, यही इसमें प्रवचनसारके कथनसे विशेषता पायी जाती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारोंके परिज्ञानसे ही वस्तुका ठीक परिज्ञान होता है और इसीसे अपनी शक्तिको तोलकर अपवादमार्गको ग्रहण किया जाता है। यहाँ वही अपवाद मार्ग आहा है जिसमें छेदके लिए स्थान न हो—ऐसा कोई बाहु परिग्रह ग्रहण न किया जाय जो अपने शुद्धोपयोगरूप संयमका धातक हो।

१. छेदो जेण ण विज्ञदि ग्रहण-विसर्गेसु सेवमाणस्स। समणो तेणिह वद्वदु कालं खंतं विषाणिता ॥३-२२॥ —प्रवचनसार।

कौन पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए

संयमो हन्यते येन प्रार्थ्यते वदसंयतैः ।  
येन संपद्यते मूच्छी तत्र प्राप्तं हितोद्यतैः ॥४१॥

‘जो अपने हितकी साधनामें उद्यमो साधु हैं उनके द्वारा वह पदार्थ ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए जिससे संयमकी हानि हो, ममत्व परिणामकी उत्थति हो अथवा जो असंयमियोंके द्वारा प्रार्थित हो—असंयमी लोग जिसे निरन्तर चाहते हैं।’

**व्याख्या**—अपवादमार्गमें जिस परिप्रहको ग्रहण नहीं करना चाहिए उसका यहाँपर प्रायः स्वष्टीकरण किया गया है और उसमें सुल्यतः तीन बातोंका समावेश किया गया है—एक तो जिससे संयमका हनन होता हो, दूसरे जो असंयमी जनोंकी प्रार्थनाका विषय हो और तीसरे जो ममत्व-परिणामका कारण हो, इन तीन दोषोंमें-से किसी भी दोषका जो कारण हो उस परिप्रहको यहाँ निषिद्ध बतलाया है। अतः जो परिप्रह इन दोषोंमें-से किसीका कारण नहीं उसे अप्रतिषिद्ध समझना चाहिए। प्रबचनसारमें अप्रतिषिद्धरूपसे ही ऐसे परिप्रहका उपधि—उपकरके रूपमें वर्णन करके उसके अन्यरूपमें ग्रहणकी प्रेरणा की है, जैसा कि पादटिष्ठणीमें उद्घृत तुलनात्मक गाथा २३ से प्रकट है।

कायसे भी निष्पृह मुमुक्षु कुछ नहीं ग्रहण करते

‘मोक्षाभिलाषिणां येषामस्ति कायेऽपि निष्पृहा ।  
त वस्त्वकिञ्चनाः किञ्चित् ते गृह्णन्ति कदाचन ॥४२॥

‘जिन मोक्षाभिलाषियोंको अपने शरीरमें भी विरक्ति है वे निजिञ्चन साधु कदाचित् कोई वस्तु ग्रहण नहीं करते।’

**व्याख्या**—यहाँ उन उत्कट मोक्षाभिलाषियोंका उल्लेख है जो उस प्राकृतिक रूपसे ग्रहीत हुए शरीरमें भी निष्पृहताके साथ वर्तते हैं जो कि मुनिपर्यायका सहकारी कारण होनेके कारण निषिद्ध नहीं है। वे उसे परद्रव्य होनेसे परिप्रह समझते हैं, अनुप्रहका विषय न मानकर उपेक्ष्य मानते हैं और इसलिए उसके प्रतिकारमें—इलाज-उपचारमें—प्रवृत्त नहीं होते। ऐसे महात्र उत्सर्गमार्गी अकिञ्चन—निष्परिप्रह मुनि कभी कोई वस्तु ग्रहण नहीं करते हैं। ऐसे उत्सर्गमार्गी मुनिके शरीरमें भिन्न अन्य परिप्रह तो भला कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता। शरीर भी निर्ममत्वके कारण पूर्णतः परिप्रहभावको प्राप्त नहीं होता।

स्त्रियोंका जिनलिङ्ग-ग्रहण सव्यपेक्ष क्यों?

‘यत्र लोकद्वयापेक्षा जिनधर्मे न विद्यते ।  
तत्र लिङ्गं कथं स्त्रीणां सव्यपेक्षमुदाहृतम् ॥४३॥

१. अप्पहिकुद्दे उवाचि अपत्यणित्यं असंज्ञजणेति । मुच्छादिजणरहिदं गेष्ठदु समणो जदि वि अप्य ॥३-२३॥ —प्रबचनसार । २. कि किवण ति तथकं अपुणम्भवकामिणोऽथ देहे वि । संग लि जिणवरिदा गिष्ठिकमत्तमुहिद्वा । ३-२४॥ —प्रबचनसार । ३. वेच्छादि ण हि इह लोर्ग परं च समणिद देसिदो धम्मो । धम्ममिह तम्हि कम्हा दियप्तियं लिगमित्थीण ॥३-२५(क)॥ —प्रबचनसार ।

‘जिस जिनेग्रन्द-देशित धर्ममें दोनों लोकोंकी अपेक्षा नहीं पायी जाती—इस लोक तथा परलोकको लक्ष्य करके वर्त्म नहीं किया जाता—उसमें स्त्रियोंके लिंगको अपेक्षा-सहित—वस्त्र-प्राचरणकी अपेक्षा रखनेवाला—क्यों कहा गया?’

व्याख्या—यह पश्च प्रश्नात्मक है। इसमें लोक-परलोककी अपेक्षा न रखनेवाले जिन-धर्ममें स्त्रियोंके जिनलिंग-प्राचरणको ‘सत्यपेक्ष’ क्यों कहा गया है? यह एक प्रश्न उपस्थित हुआ है, अराले लुक पर्वोंमें इसका उत्तर दिया गया है।

पूर्व प्रश्नका उत्तर : स्त्री पर्यायसे मुक्ति न होना आदि

‘नामुना अन्मना स्त्रीणां सिद्धिनिश्चयतो यतः ।  
अनुरूपं ततस्तासां लिङ्गं लिङ्गविदो विदुः ॥४४॥

‘चैकि स्त्रियोंके अपने उस अन्मसे—स्त्री पर्यायसे—स्वात्मोपलक्षित लिंगकी (मुक्तिकी) प्राप्ति नहीं होती अतः लिंगके जानकारोंने उनके अनुरूप लिंगकी देशना की है।’

व्याख्या—पिछले पश्चमें जो प्रश्न किया गया है उसका उत्तर इस पश्चमें यह दिया है कि स्त्रीजनोंको स्त्रीपर्यायसे मुक्तिकी प्राप्ति निश्चित रूपसे न हो सकनेके कारण लिंगके विशेषज्ञोंने उनके लिए उनके अनुकूल लिंगकी—वस्त्रादि सहित वेषकी—व्यवस्था का है।

प्रमाद-मय-मूर्तीनां प्रमादोऽतो यतः सदा ।  
प्रमदास्तास्ततः प्रोक्ताः प्रमाद-बहुलत्वतः ॥४५॥  
चिवादः प्रमदो मूर्च्छा गुणप्लास्तसरो भयम् ।  
चित्ते चित्रायते माया ततस्तासां न निर्वृतिः ॥४६॥

‘चैकि प्रमाद-मय-मूर्तीयों, स्त्रियोंके सदा प्रमाद बना रहता है अतः प्रमादकी बहुलताके कारण उन्हें ‘प्रमदा’ कहा गया है। और चैकि उनके चित्तमें प्रमद, चिवाद, ममता, न्ळानि, ईर्ष्या, भय तथा माया चित्रित रहती है इससे उनकी ( स्त्रीपर्यायसे ) मुक्ति नहीं होती।

व्याख्या—यहाँ स्त्रीजनोंको स्त्रीपर्यायसे मुक्तिकी प्राप्ति क्यों नहीं होती? इस पिछले पश्चमें-से उठनेवाले प्रश्नका समाधान किया गया है और उसमें कुछ ऐसे दोषोंको दर्शाया गया है जो मुक्तिमें बाधक होते हैं और जिनमें स्वभावसे अथवा प्रायः बहुलतासे पाये जाते हैं। उसमें प्रमादको सबसे पहले लिया गया है, जिसकी बहुलताके कारण जिन्योंको ‘प्रमदा’ कहा जाता है और उन्हें यहाँ ‘प्रमाद-मय-मूर्ति’के नामसे भी उल्लेखित किया गया है। ‘प्रमाद’ इन्द्र, मात्र आलस्य तथा असावधानीका बाधक नहीं, बल्कि उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय, रुदी, राज, भोजन तथा चोर ये चार प्रकारकी विकथाएँ राग, निद्रा और पाँचों इन्द्रियोंके पाँच विषय ये १५ बार्ते शामिल हैं। आम तौरसे जिन्योंमें इनकी

१. जिच्छयदो इत्थीण । सद्गो णहि तेण नम्मणदिट्टा । तम्हा तप्पिणिर्वं विद्यपिण्यं लिंगमित्थीण ॥३-२५ ( व ) —प्रवचनसार । २. पयडो पमादमया एवानि वित्ति भासिया पमदा । तम्हा ताभी पमदा पमादबहुले त्ति जिदिट्टा ॥३-२५ ( य ) ॥ ३. संति धुवं पमदाणं मोइ पदोसा भयं दुर्गुण्या य । चित्ते चित्रायते माया तम्हा तासि य जिव्याण ॥ ३. २५ ( च ) ॥ —प्रवचनसार ।

स्वाभाविक प्रवृत्ति अथवा बहुलता पायी जाती है। इस प्रमादके अनन्तर विपाद, ममता, ग़लानि, ईश्या, भय और उस सायाचार दोषको गिनाया गया है, जो प्रयत्न-पूर्वक न होकर स्वाभाविक होता है। ये सब दोष मुक्तिकी प्राप्तिमें बाधक हैं। अतः जियोंको अपनी उस पर्यायसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती।

‘न दोषेण विना नार्ये यतः सन्ति कदाचन ।  
गात्रं च संबृतं तासा संबृतिर्विहितः ततः ॥४७॥

‘चूँकि स्त्रियों ( पूर्वोक्त दोषोंमें-से किसी एक ) दोषके विना कदाचित् भी नहीं होतीं और गात्र उनका स्पष्टतः संबृत ( ढका हुआ ) नहीं होता, इससे उनके वस्त्रावरणकी व्यवस्था को गयी है।’

**व्याख्या**—पिछले पदोंमें जिन दोषोंका उल्लेख है वे सब यदि एकत्र न भी होवें तो भी उनमें-से कोई-न-कोई एक दोष जियोंमें ज़खर होता है, ऐसा यहीं नियम किया गया है और वह एक दोष भी शुद्धान्मस्वभावके विपरीत होनेके कारण मुक्तिकी प्राप्तिमें बाधक होता है। मुक्तिकी प्राप्तिमें बाधक दोषके कारण और जियोंका गात्र स्वर्यं संबृत-आच्छादित न होनेके कारण उसके वस्त्रावरणसे आच्छादनकी व्यवस्था की गयी है।

‘शैत्यित्यमार्तवं चेतश्चलनं श्रासा(स्त्री)वर्णं तथा ।  
तासां शूद्धम-मनुष्याणामुत्पादोऽपि यदुस्तनौ ॥४८॥  
कक्षा-श्रोणि-स्तनाद्येषु देह-देशेषु जायते ।  
उत्पत्तिः शूद्धम-जीवानां यसो, नो संयमस्तदः ॥४९॥

‘चूँकि स्त्रियोंकी शरीरमें शिथिलता, ऋतुकाल ( रक्तोत्पाद ), रक्ताव, चित्तकी चंचलता, लिंग अपर्याप्त सूक्ष्म मनुष्योंका बहुत उत्पाद और कांक्ष-योनि-स्तनादिक शरीरके अंगोंमें सूक्ष्म जीवोंकी बहुत उत्पत्ति होती है इसलिए उनके ( सकल ) संबृत नहीं बनता।’

**व्याख्या**—यहीं जियोंमें पाये जानेवाले दूसरे कुछ ऐसे दोषोंको उल्लेखित किया है जो प्रायः शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं और जिनके कारण जियोंके पूर्णतः संयमका पालन नहीं बनता। पूर्णतः संयमका न पालन भी मुक्तिकी प्राप्तिमें बाधक है। जब जियोंके स्वभावतः कुछ शारीरिक तथा मानसिक दोषोंके कारण पूर्णतः संयम नहीं बनता और इसलिए मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती तब उनके शरीरको बिलकुल नभ्न दिगम्बर रूपमें रखनेकी आवश्यकता नहीं और इसलिए यससे उसके आच्छादनकी व्यवस्था की गयी है।

१. ण दिग्या बटुदि जारी एकं वा तेसु ओवलोगमिह । ण हि संवर्डं च गतं तम्हा तासि च संवरण ॥ ३-२५ ( इ ) —प्रवचनसार । २. चित्तस्वादो तासि सित्यिलं बत्तवं च पक्षवलणं । लिङ्गदि सहसा तासु अ उप्पादी सुहममण्डाण ॥ ३-२५ ( च ) ॥ लिगमिह य इत्यीणं अणंतरे णाहिन्कक्ष-देसेसु । भणिदो सुहमप्पादो तासि कह संजमो होति ॥ ३-२५ ( छ ) ॥ —प्रवचनसार । लिङ्गमिह य इत्यीणं अणंतरे णाहिन्कक्ष-देसेसु । भणिदो सुहमो कओ तासि कह होइ पञ्चमा ॥ २४४ चित्तासोहि ण तेसि डिलं भावं तहा सहावेण । विज्ञदि मात्रा तेसि इत्यीमुण्डमेक्या इण ॥ २६॥ —सुत्तवाहुच ।

शशाङ्कामल-सम्यक्त्वाः समाचार-परायणाः ।  
सचेलास्ताः<sup>१</sup> स्थिता लिङ्गे तपस्यन्ति विशुद्धये ॥५०॥

‘जो स्त्रियां चन्द्रमाके समान निर्मल सम्यक्त्वसे युक्त हैं और समीक्षीन आचारमें प्रवीण हैं वे जिनलिंगमें सबस्त्र रूपसे स्थित हुई आत्मविशुद्धिके लिए तपश्चरण करती हैं ।’

**व्याख्या**—यहाँ उन ऊंचे दर्जेकी साधियोंके लिए भी सचेल ( ब्रह्मसहित ) रहनेका विधान किया है, जो अति निर्मल सम्यक्त्वकी धारिका हैं और समाचारमें—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके अनुरूपानमें—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप और वीर्य रूप फंचाचारके पालनमें—समताकी सावनामें अथवा उस समाचारकी आराधनामें, जिसका मूलाचारमें एक अधिकार ( न० ४ ) ही अलगसे दिया गया है, प्रवीण हैं। ऐसी साध्वी स्त्रियाँ सबस्त्र रहकर अपनी आत्मशुद्धिके लिए तपश्चरण करती हैं।

कौन पुरुष जिनलिंग ग्रहणके योग्य

शान्तसंतपः<sup>२</sup> वृमोऽङ्गुत्सो वर्णेष्वेकदमस्तिष्ठु ।  
कल्पाणाङ्गो नरो योग्यो लिङ्गस्य ग्रहणे मतः ॥५१॥

‘जो मनुष्य शान्त है, तपश्चरणमें समर्थ है, दोषरहित है, तीन वर्ण ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-मेंसे किसी एक वर्णका धारक है और कल्पाणरूप सुन्दर शरीरके अंगोंसे युक्त है वह जिनलिंगके ग्रहणमें योग्य माना गया है ।’

**व्याख्या**—जिस जिनलिंगका रूप इस अधिकारके आरम्भमें दिया गया है उसको धारण करनेका पात्र कौन है उसकी यहाँ देशना की गयी है। वह एक तो स्वभावसे शान्त होना चाहिए, दूसरे तपश्चरण-सम्बन्धी कष्टोंके सद्बन्धकी उसमें सामर्थ्य होनी चाहिए—अति बाल, तथा अति दृढ़ अवस्थाको लिये हुए न होना चाहिए—तीसरे वह कुत्सारहित होना चाहिए—लोकमें किसी तुराचारादिके कारण बदनाम न होना चाहिए, चौथे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य इन तीन वर्णमेंसे किसी भी एक वर्णका धारक पुरुष होना चाहिए—खीं नहीं, और पाँचवें शरीरसे नीरोग होना चाहिए। ये बातें यदि नहीं हैं तो जिनदीक्षाका पात्र नहीं है।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है और वह यह कि श्री जयसेनाचार्यने प्रबन्धनसारकी ‘वर्णेसु तीसु एकको’ इस गाथाकी दीका में “एवंगुणविशिष्टो पुरुषो जिनदीकाप्रहृणे योग्यो भवति” लिखकर यह भी लिखा है कि “वथायोग्यं सञ्जूलाद्यपि” जिसका आशय है कि योग्यताके अनुसार सन् शूद्र और आदि शब्दसे स्लेच्छ भी जिनदीक्षाका पात्र हो सकता है। ‘वथा योग्यं’ पदमें उसकी दृष्टि संनिहित है और वह इस बातको सूचित करती है कि सब सन् शूद्रादिक नहीं किन्तु कुछ खास योग्यता प्राप्त शूद्रादिक, जैसे स्लेच्छ खण्डोंसे, जहाँ कोई वर्णव्यवस्था नहीं, तथा हिंसामें रति और मासभक्षणमें प्रीति आदि दुराचार चलता है,

१. आ सचेलताः । २. वर्णेसु तीसु एकको कल्पाणंगो तबोसहो वयसा । सुमहों कुंआरहिदो लिंगग्रहणे हृषदि जीणो ॥३-२५॥ (३) —प्रबन्धनसार ।

अक्षवर्तकि साथ आये हुए कुछ म्लेच्छ राजादिक, जिन्हें जिनदीक्षा के योग्य बतलाया गया है ।<sup>१</sup>

जिनलिंग-प्रहणमें वाधक अङ्ग

कुल-जाति-वयो-देह-कृत्य-बुद्धि-कुंभादयः ।  
नरस्य कुत्सिता व्यञ्जास्तदन्ये लिङ्गयोग्यता ॥५२॥

‘( जिनलिंगके प्रहणमें ) कुकुल, कुजाति, कुवय, कुरेह, कुकृत्य, कुबुद्धि और कुक्लोधादिक, ये मनुष्यके जिनलिंग-प्रहणमें अर्थग हैं, भंग हैं अथवा वाधक हैं । इनसे भिन्न सुकलादिक लिंग प्रहणकी योग्यताको लिये हुए हैं ।’

**व्याख्या**—यहाँ जिनलिंगके प्रहणमें अयोग्यताके द्वारक कारणोंको व्यंगके रूपमें उल्लेखित किया गया है, जिसके लिए प्राकृतमें ‘भंग’ शब्दका प्रयोग पाया जाता है । ‘कुत्सितताः’ विशेषण कुल, जाति, वय, देह, कृत्य, बुद्धि और क्रधादिक सबके लिए लागू किया गया है, जो खोटे, खुरे, निन्दनीय तथा अप्रशस्त अर्थका वाचक है और इसलिए उसको यथायोग्य सबपर लगा लेना चाहिए । जो कुल जाति आदि उक्त विशेषणोंके पात्र हैं उनमें जिनलिंगके प्रहणकी योग्यता नहीं है । इसके विपरीत अकुत्सित विशेषणके जो पात्र हैं उन सबमें जिनलिंगके प्रहणकी योग्यता समझनी चाहिए । अतः दीक्षाचार्यको इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर जो जिन-दीक्षाका पात्र समझा जाय उसे ही जिनदीक्षा देनी चाहिए—अपनी कुलबुद्धि या मोह-लोभादिकके बश होकर नहीं ।

व्यंगका वास्तविक रूप

‘येन रत्नत्रयं साधीनार्थ्यते’ मूक्तिकारणम् ।  
स व्यञ्जो भृष्टे नान्यस्तत्वतः सिद्धिसाधने ॥५३॥

‘वास्तवमें जिसके कारण साधुका मोक्षमें कारणीभूत रत्नत्रय घर्म नाशको प्राप्त होता है वह व्यंग ( भंग ) कहा गया है, अन्य कोई सिद्धिके साधनमें वाधक नहीं है ।’

**व्याख्या**—यहाँ सारलयमें अथवा निश्चयनयकी दृष्टिसे व्यंग ( भंग ) का कथन किया गया है और उसे ही वास्तवमें व्यंग बतलाया है, जिससे साधुके सिद्धि—मुक्तिके साधनभूत रत्नत्रय ( सम्यग्दर्ढन-आन-चारित्र ) का नाश होता हो अथवा ठीक पालन न बनता हो । दूसरा और कोई व्यंग इस विषयमें बस्तुतः नहीं है । सम्भव है इसी दृष्टिको लेकर जयसेना-चार्यने यथा योग्य सत् शूद्रादिको भी जिन-दीक्षाका पात्र लिखा हो ।

१ म्लेच्छभूमिजयनुष्याणां सकलसंवयप्रहणे कर्यं भवतीति नाशदिकतत्वम् । दिग्बिदयकाले चक्रवर्तिना सह द्वार्यस्त्रिमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिप्रियः सह जातवेषाहिकसम्बन्धाभानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात् । अथवा तत्कृत्यानां चक्रवर्त्यादिप्रियीकानां गर्भेषुदद्वय सात्रूपकापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथा जातीयदीक्षाहृत्ये प्रतिवेषामावात् ॥”—लघ्वसार ठीक गाथा १९३ । २. जो रथ्यत्वणासो दो भंगो जिष्ठवरेहि णिहिटो । हेतुं मंगेण पुणो य होदि सल्लेहणा अरिहो ॥३-२५॥ —प्रबन्धनसार । ३. आ नश्यते, आहि नाशयते ।

व्यावहारिक व्यंग सल्लेखनाके समय अव्यंग नहीं होता

'यो व्यावहारिको व्यङ्गो' मतो रत्नत्रय-ग्रहे ।

न सोऽपि जायतेऽव्यङ्गः साधुः (धोः) सल्लेखना-कृतौ ॥५४॥

'जो रत्नत्रय ( जिनलिंग ) के ग्रहणमें व्यावहारिक व्यंग माना गया है वह सल्लेखनाके अवसरपर साधुके अव्यंग नहीं हो जाता ।'

**व्याख्या**—यहाँ सल्लेखनाके अवसरपर साधु बननेवालेके विषयमें व्यावहारिक व्यंगकी आतको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो रत्नत्रयरूप जिनलिंगके ग्रहणमें व्यावहारिक व्यंग पद्म न० ५२ के अनुसार माना गया है वह सल्लेखनाके अवसरपर अव्यंग नहीं हो जाता—व्यंग ही रहता है । अर्थात् सल्लेखनाके अवसरपर जो साधु-मुनि बनना चाहे और उक्त प्रकारके व्यंगोंमें किसी व्यंगको लिये हुए हो तो वह मुनिदीक्षाको प्राप्त नहीं हो सकता—उसे दिगम्बर भुनिवीक्षा नहीं दी जा सकती ।

'यस्यैहूं लौकिकी नास्ति नापेक्षा पारलौकिकी ।  
युक्ताद्वारविद्वारोऽसौ श्रमणः सममानसः ॥५५॥

'जिसके इस लोकको और परलोककी अपेक्षा नहीं है, जो योग्य आहार-विहारसे युक्त है और समचित्तका धारक है वह 'श्रमण' है ।'

**व्याख्या**—जिसके धर्मसाधनमें इस लोककी तथा परलोककी अपेक्षा ( दृष्टि ) नहीं रहती—जो सब कुछ आत्मीय कर्तव्य समझकर करता है; लोक-दिखावा, लोकाराधन, लौकिक कार्यसिद्धि अथवा परलोकमें स्थगादिकी प्राप्तिके लिए कुछ नहीं करता—और अपने चित्तको सम—राग-द्वेषसे रहित—रखता हुआ योग्य आहार-विहार किया करता है उस साधुको 'श्रमण' कहते हैं, जिसका मूल प्राकृतरूप 'समण' है और जो अपने उस रूपमें 'सम-मानस' का वाचक है । सम-मानस, समचित्त, समाशय-जैसे शब्द एक ही अर्थके द्योतक हैं । 'युक्ता द्वार-विहार'का आशय यहाँ आगमके अनुकूल उद्ग्राम-उत्पादनादि दोषोंसे रहित, भोजन तथा विहरनकी प्रवृत्तिसे है, जिसकी विशेष जानकारी मूलाचार, भगवती आराधनादि-जैसे प्रन्थोंसे प्राप्त की जा सकती है ।

कौन श्रमण बनाहार कहे जाते हैं  
कथाय-विकथा-निद्रा-प्रेमाद्वार्थ-पराढ़-मुखाः ।  
जीविते मरणे तुल्याः शश्री मित्रे सुखेऽसुखे ॥५६॥  
‘आत्मनोऽन्वेषणा येषां भिज्ञा येषामणेषणा ।  
संयता सन्त्यनाहारास्ते सर्वथा समाशयाः ॥५७॥

१. सेवं भग्नेण पुणो ण होदि सल्लेखणा अरिहो ॥३-२५॥ —प्रबन्धसार । २. व्या विगाः ।

३. इहलोगणिरावेक्षो अप्यविद्वां परम्परा लोकमिद्दि । जुताहारविहारो रहिदक्षामो हवे सम्प्ती ॥३-२६॥ —प्रबन्धसार । ४. आ व्या यस्येह । ५. जस्त सर्वेषां सं पि तत्रो हप्यविज्ञेया समणा । अप्यं भिक्षमणेऽप्यनुष्ठ ते समणा अणाहारा ॥३-२७॥ —प्रबन्धसार ।

‘जो कषाय, विकाय, निद्रा, राग और हन्त्रियविषयोंसे बिसूख हैं, जीवन-मरण, शत्रु-मिश्र और सुख-दुःखमें समता आरण करते हैं; आत्माको जिनके अन्वेषणा—खोज बनी रहती है, भिक्षा जिनकी एषणा—इच्छासे रहित है और सर्वत्र समचित्त रहते हैं ऐसे शमण साधु ‘अनाहार’ कहे गये हैं।’

**व्याख्या**—कोध-मान-भाया-लोभ ये चार कषायें; छो, राज, भोजन, चोर ये चार प्रकार-की विकायें, निद्रा, प्रेम ( वेद-राग ) और पाँच हन्त्रिय विषय, इन पन्द्रह प्रमाणोंसे जो मुनि मुख मोड़े रहते हैं; जीवन-मरण, शत्रु-मिश्र और सुख-दुःख उपस्थित होनेपर जिनकी समता बनी रहती है—राग-द्वेषकी उत्पत्ति नहीं होती, जो सदा आत्माकी। **चिन्ता**—अन्वेषण-आराधनामें लीन रहते और यह समझते हैं कि आत्मा आहार-रूपमें कभी कोई पुद्गल-परमाणु ग्रहण नहीं करता—स्वभावसे निराहार हैं वे यदि देहकी स्थिति आदिकी है एसे कभी आहार लेते भी हैं तो भी उन्हें ‘अनाहार’ कहा गया है, जिसके दो मूल कारण हैं—१. आत्माको स्वभावसे अनाहार समझना, २. आहारमें कोई खास इच्छा तथा आसक्ति न रखकर उसे लेना।

#### केवल देह साधुका रूप

‘यः स्वशक्तिमनाच्छाद्य सदा तपसि वर्तते ।

साधुः केवलदेहोऽसौ निष्ठतीकार-विग्रहः ॥५८॥

‘जो शरीरका प्रतिकार नहीं करता और अपनी शक्तिको न छिपाकर सदा तपश्चरणमें प्रवृत्त रहता है वह केवल देह—देहमात्र परिप्रहका धारक—साधु ( शमण ) होता है।’

**व्याख्या**—जो साधु देहको भी परिप्रह समझता हुआ उसमें समता-रहित होकर वर्तता है वह रोग-उपसर्गादिके आनेपर शरीरका कोई प्रतिकार नहीं करता और अपनी शक्तिको न छिपाकर सदा तपश्चर्यामें लीन रहता है, उसे ‘केवल देह’—देहमात्र परिप्रहका धारक—साधु कहते हैं।

#### केवल देह-साधुकी भिक्षावयका रूप

‘एका सनोदरा भुक्तिमास-मध्यादिव जिता ।

यथालब्धेन भैक्षण नीरसा परवेशमनि ॥५९॥

उस केवल-देह शमण साधुकी आहार चर्या पराये घरपर व्यालव्य भिक्षाके द्वारा, एक बार, उनोदरके रूपमें, मास-मधु आदि सदोष पदार्थोंसे रहित, मधुरादि रसोंमेंसे किसीकी अपेक्षा न रखनेवाली अथवा ( प्रायः ) नीरस होती है—रसास्वादको लिये हुए नहीं होती।’

**व्याख्या**—यहीं ‘मधु’ और ‘बजिता’ शब्दोंके भावमें प्रयुक्त हुआ ‘आदि’ शब्द उन अन्वेषणीय कन्द-भूलादिका बाचक है जिनका कुछ उल्लेख एवं सूचन आगे ६३वें पदमें किया गया है। और भिक्षाका ‘यथालब्ध’ विशेषण इस बातका सूचक है कि वह बिना किसी प्रेरण-

१. केवलदेही समणों देहे वि समतरहितपरिकम्मो । आजुत्तो तं तपसा अणिगृहिय अप्यणो प्रति ॥३-२८॥ —प्रवचनसार । २. एकं खलु तं मतं अप्यदिपुणोदरं जहालदं । चरणं भिक्षेण दिवा ण रसावेष्ट्वं ण मधुमंसं ॥३-२९॥ —प्रवचनसार ।

प्रार्थना तथा संकेतके प्राप्त होनी चाहिए। यदि थाल आदिमें रखे हुए किसी भोजनको देनेके लिए अंगुलीका डारारा भी किया जाता है तो उस भोजनका ग्रहण यथालब्ध मिश्राकी कोटि से निकल जाता है। इसी तरह जो साधु भोजनके आगमविरुद्ध निर्दोष होनेपर भी उसे अपनो पसन्द तथा हचिका न होने आदिके कारण नहीं लेता। वह भी यथालब्ध मिश्राका भोजी नहीं रहता।

## वर्जित मांस-दोष

'एक्वेऽपक्वे सदा मांसे पच्यमाने च संभवः ।  
तज्जातीनां निगोदानां' कथ्यते ब्रिनपुङ्गवैः ॥६०॥  
मांसे पक्वमपक्वं वा स्थूश्यते येन भक्षयते ।  
अनेकाः कोट्यस्तेन हन्यन्ते किल जन्मिनाम् ॥६१॥

'मांस चाहे कच्चा हो, पक्का हो या पक रहा हो उसमें जिनेन्द्रोने तज्जातीय निगोदिया जीवोंका (निरन्तर) उत्पाद कहा है (अतः) जिसके द्वारा कच्चा या पक्का मांस छुआ जाता है, खाया जाता है उसके द्वारा निश्चित रूपसे अनेक कोटि—करोड़ों जीवोंका घात होता है।'

व्याख्या—भोजनमें जिस मांसके ग्रहणका पिण्डले पवार्षमें निषेध है और जो द्विनिदियादि-त्रस जीवोंके रस-रक्तादि-मिश्रित कलेवरसे निष्पत्र होता है; उसमें कथा दोष है उसे इन दोनों पवार्षमें स्पष्ट करते हुए यह सूचित किया गया है कि जिनेन्द्र देवोंके कथनानुसार मांस चाहे किसी भी अवस्थामें क्यों न हो उसमें तज्जातीय निगोदिया जीवोंका (जो एक स्वर्णसमें अठारह बार जन्म-मरण करते रहते हैं) वरावर उत्पाद बना रहता है और इसलिए जो कोई भी मांसको छूता या खाता है वह बहुतर सूक्ष्म जीवोंकी हत्याका भागी होता है।

## मांस-दोष तथा अन्य अनेषणीय पदार्थ

नहुजीव-प्रधातोत्थं यहु-जीवोङ्गवास्पदम् ।  
असंयम-विभीतेन त्रेधा मध्यपि वज्यते ॥६२॥  
कन्दो मूलं फलं पत्रं नंवनीतमगृष्णुभिः ।  
अनेषणीयमग्राहमन्यदपि त्रिधा ॥६३॥

'जो असंयमसे भयभीत है उस साधुके द्वारा मन-वचन-कापसे वह साधु त्यागा जाता है जो बहुजीवोंके घातसे उत्पन्न हुआ और बहुत जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान है। जो भोजनमें लालसा रहित साधु हैं उनके द्वारा वह कन्द, मूल, फल, पत्र, मधुबन जो अनेषणीय (अमक्ष्य) हैं और दूसरा (उद्गमादि दोषोंके कारण<sup>१</sup>) अग्राह्य अन्न (भोजन) भी मन-वचन-कापसे और कृत-कारित-अनुसोदनसे त्यागा जाता है।'

१. पक्केसु अ आमेसु अ दिपचवमाणासु मंसरेसोसु । संततियमुवचादौ तज्जातीयं निगोदानं ॥६३-२९॥ (क) को पक्करूपपक्के वा पेसी मंसस्त लादि कासदि वा । सो किल निहणदि पिंड जीवाण्मणेगकोडीणं ॥६३-२९॥ (ख) —प्रवचनसार । २. आ तज्जातीनां । ३. आ व्या निगोतानां । ४. आ व्या अन्यिनां किल । ५. उद्गम-उत्पादनादि जीवोंका स्वरूप जाननेके लिए मूलाचार आदि ग्रन्थोंकी देखना चाहिए ।

**व्याख्या**—यहाँ प्रथम पद्ममें मधुके दोषोंको दर्शाया है और दूसरे पद्ममें अन्य अमाद्य पदार्थोंकी कुछ सूचना की गयी है। मधु वर्जनीय बतलाते हुए उसके दो विशेषणोंका उल्लेख किया गया है—एक तो यह कि वह बहुत जीवोंके घातसे उत्पन्न होता है, दूसरा यह कि वह बहुत जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान है—बहुत जीव उसमें उत्पन्न होते रहते हैं। अपने इन दोनों गुणोंके कारण मधुका सेवन असंयमका जनक है और इसलिए जो साधु संयमका भंग होने से भय रखते हैं वे मन-वचन-कायसे तथा कृत-कारित-अनुमोदनासे मधुका त्याग करते हैं।

मधु, जिसका त्याग यहाँ विचारित है, वह पदार्थ है जिसे मधुमक्खियों पुरुषोंसे लाकर अपने छत्तोंमें संचय करती हैं और जो बादमें प्रायः छत्तोंको तोड़-मरोड़ कर मनुष्योंके खानेके लिए प्रस्तुत किया जाता है और जिसके इस प्रस्तुतीकरणमें मधुमक्खियोंकी भारी बाधा पहुँचती है, उनका तथा उनके अण्डे-बच्चोंका रजाविक भी निरुद्धकर उसमें शामिल हो जाता है और इस तरह जो एक वृणित पदार्थ बन जाता है। ‘कीर्ति’ संज्ञा भी उसे प्रायः इस प्रक्रियाकी हृषिसे ही प्राप्त है। इस प्रक्रियासे उत्पन्न हुआ मधु अपने प्रथम विशेषण ‘बहुजीवप्रधातोर्थ’ जो सार्थक करता है और इस प्रकारसे उत्पन्न हुआ वृणित मधु स्वभावसे ही बहुत-से जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान होनेके कारण उसपर दूसरा विशेषण भी सहज बटित हो जाता है। परन्तु जो मधु उक्त प्रक्रियासे—मधुमक्खियोंके छत्तोंको तोड़-मरोड़-निचोड़कर—उत्पन्न नहीं होता किन्तु सहज स्वभावसे टपकता हुआ ग्रहण किया जाता है अथवा आजकल मधुमक्खियोंके पालनकी जो प्रथा प्रचलित हुई है उसके अनुसार मधु-मक्खियों तथा उनके अण्डे-बच्चोंको कोई कष्ट पहुँचाये बिना तथा उनके भोजनकी पूरी ल्लयस्था रखकर जो मधु उनके छत्तोंसे बत्तपूर्वक ग्रहण किया जाता है उसपर प्रथम विशेषण लागू नहीं होता; तब दूसरा विशेषण लागू होता है या नहीं, यह विचारणीय है। इस विषयकी छान-बीन करनेपर श्री अमृतचन्द्राचार्यका निम्नवाक्य उसके समाधान रूपमें पाया जाता है—

इयमेव विगलितं पो गृहीयाहा छलेन मधु-गोलात् ।

तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रय-प्राणिनां घातात् ॥७०॥ —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

इसमें बतलाया है कि जो मधु मधुछत्तोंसे स्वयं शरता हो अथवा जिसे छत्तेसे छलपूर्वक ग्रहण किया गया हो उसके सेवनसे भी तदाश्रित जीवोंका घात होनेके कारण हिंसाका दोष लगता है। इससे मालूम होता है कि मधुके आश्रयमें सूक्ष्म जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है इसीसे उसको यहाँ ‘बहुजीवोद्भवात्पद्म’ विशेषण दिया गया है। अपनेमें बहुत-से जीवोंकी उत्पत्तिको लिये हुए होनेसे मधु खानेके योग्य नहीं—खानेसे उन जीवोंकी हिंसा होती है और इसलिए प्रथम विशेषणके अभावमें भी उसका खाना निषिद्ध है।

जिन कन्द-मूलाविका यहाँ निषेध किया गया है उनका ‘अनेषणीय’ विशेषण खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है। इसका तथा इसके प्रतिपक्षी ‘एषणीय’ विशेषणका अन्तर्रा खुलासा मूलाचारकी निम्न दो गाथाओं और उनकी बसुनन्दी आचार्यकृत टीकासे हो जाता है—

फलकंदमूलजीयं अणिगपदकं सु आमयं किञ्चि ।

णञ्च अणेषणीयं ण विष पद्मज्ञांति ते धीरा ॥९-५९॥

**टीका**—फलानि कन्द-मूलानि दीजानि चान्निपदवानि न भवन्ति यानि अन्यदिरि आमकं यर्त्किञ्चिद्वनशनीयं झात्वा नैव प्रतीच्छन्ति नाभ्युपगच्छन्ति ते धीराः।

अं हृष्टदि अणाष्ठीयं णिविद्वियं फासुयकर्यं चेष्ट ।

प्रात् ३ एतस्यार्थं द्विष्टव्यं मुण्डो दक्षिण्डंति ॥६३-६४॥

**टीका**—यद्भूषत्प्रबोजं निर्बीजं निर्वैतियं निर्गतमध्यसारं प्रासुकहृतं चेष्ट शास्त्राशनीयं तदभैर्व्यं मुनयः ग्रतोष्ठलन्तीति ॥

इन दोनों गाथाओंमें से पहलीमें लिखा है कि 'जो फल कन्द-मूल तथा बीज अग्निसे पके हुए नहीं हैं तथा और भी जो कुछ कच्चे पदार्थ हैं उन सबको 'अनशनीय' ( अभक्ष्य ) समझकर धीरबीर मुनि भोजनके लिए प्रहृण नहीं करते हैं ।' दूसरी गाथामें यह बतलाया है कि 'जो बीजरहित हैं, जिसका मध्यसार ( जलभाग ) निकल गया है अथवा जो प्रासुक किया गया है ऐसे सब बनस्पतिकाय पदार्थोंको अशनीय ( भक्ष्य ) समझकर मुनिजन भिक्षामें प्रहृण करते हैं ।'

मूलाचारके इस कथनसे यह स्पष्ट है और अनशनीय कन्द-मूलोंका 'अनग्रिपक्व' विशेषण इस बातको साफ बतला रहा है कि जैन मुनि कच्चे कन्द-मूल नहीं खाते, परन्तु अग्निमें पकाकर शाक-भाजी आदिके रूपमें प्रत्युत किये हुए पदार्थोंको भी भोजनमें प्रहृण कर लेनेका उनके लिए शिधान है । यद्यपि अनग्निपक्व भी प्रासुक होते हैं, परन्तु प्रासुककी सीमा उससे कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है । उसमें सुखाये, तपाये, खटाई-नमक मिलाये और यन्त्रादिकसे छिन्न-भिन्न किये हुए सचित्त पदार्थ भी शामिल होते हैं; जैसा कि निम्नलिखित शास्त्र प्रसिद्ध गाथासे प्रकट है—

सुवकं पवकं तत्त्वं अविल-लब्धेण मिस्तियं दद्यते ।

जं जंतेष छिण्णं तं सध्यं फासुयं भणियं ॥

प्रासुकके इस लक्षणानुसारे जैन मुनि अग्रिपक्वके अतिरिक्त दूसरी अवस्थाओं-द्वारा प्रासुक हुए कन्द-मूलोंको भी खा सकते हैं; क्योंकि वे 'अनेषणीय'की कोटिसे निकलकर 'देषणीय' की कोटिमें आ जाते हैं ।

हस्तगत पिण्ड दूसरेको देकर भोजन करनेवाला धति दोषका भागी

'पिण्डः पाणि-गतोऽन्यस्मै दातुं योग्यो न युज्यते ।

दीयते चेन् न भोक्तव्यं शुड् क्ते चेद् दोषभाग् यतिः ॥६४॥

'साधुके हाथमें पड़ा हुआ आहार दूसरेको देनेके योग्य नहीं होता ( और इसलिए नहीं दिया जाता ) यदि दिया जाता है तो साधुको फिर भोजन नहीं लेना चाहिए, यदि वह साधु अन्य भोजन करता है तो दोषका भागी होता है ।'

**व्याख्या**—साधुके हाथमें पड़ा हुआ आगमसे अविहृद्य योग्य आहार ( भोजनका ग्रास ) किसी दूसरेको देनेके योग्य नहीं होता । यदि यह साधु अपनी हचि तथा पसन्दका न होनेके कारण उसे स्वयं न खाकर किसीको देता है—या किसी अन्यको खानेके लिमित्त कहीं रख देता है—तो उस साधुको फिर और भोजन नहीं करना चाहिए, यदि वह दूसरा भोजन करता है तो दोषका भागी होता है—सम्भवतः 'यथालक्ष्य' शुद्ध भोजन न लेने आदिका उसे दोष लगता है ।

१. यथा शुष्क-पवक-ज्वस्ताम्ललब्धेणसंमिथ-दरघादिद्व्यं प्रासुकं इति । —गोमटसारटीकायाम् ।

२. अप्यहिकुद्वृं पिण्डं पाणिगर्यं णेव देयमण्णस्त । इता भोक्तुभजीभां भुत्तो वा होदि पदिकुद्वृ ॥३-३० ( क ) ॥ —ग्रन्थसार ।

बाल-वृद्धादि यतियोंको आरित्रावरणमें दिशा बोध

‘बालो वृद्धस्तपोऽलानस्तीव्याधि-निपीडितः ।  
तथा चरतु चारित्रं मूलच्छेदो यथास्ति नो ॥५५॥

‘जो साधु बालक हो, वृद्ध हो, महोपवासाधिक अनुष्ठान करनेवाला तपस्वी हो, रोगादिक्षे कृश शरीर अथवा किसी तीव्र घटाधिसे पीड़ित हो उसे आरित्रको उस प्रकारसे पालन करना चाहिए जिससे मूलगुणोंका विच्छेद अथवा आरित्रका मूलतः विनाश न होने पावे ।’

**व्याख्या**—युक्त, नीरोग तथा अशान्त साधुकी बातको छोड़कर जो साधु बाल-वृद्ध-रोगादिकी अवस्थाओंको लिये हुए हों उनके विषयमें यहाँ यह नियम किया गया है कि वे चारित्रके अनुष्ठानमें उस प्रकारसे प्रवृत्त हों जिससे मूल गुणहृप संयमकी विराधना न होने पावे—उसकी रक्षा करते हुए अपनी कमजोरीके कारण वे और जो चाहें रिआयतें प्राप्त कर सकते हैं। मूल चारित्रका यदि भंग होगा तब तो वे पुनः दीक्षाके योग्य ठहरेंगे ।

स्वल्पलेपी यति कव द्वीपा है

‘आहारमुपर्धि शृद्धां देशं कालं बलं श्रमम् ।  
वर्तते यदि विज्ञाय ‘स्वल्पलेपो’ यतिस्तदा ॥५६॥

‘यदि साधु आहार, परिप्रह ( उपकरण )’ इयन, देश, काल, बल और श्रमको भले प्रकार जानकर प्रवृत्त होता है तो वह अल्पलेपी होता है—थोड़ा कर्मबन्ध करता है ।

**व्याख्या**—यहाँ ‘उपर्धि’ शब्द बाल-वृद्ध-आन्तर्गत-ग्रान्तसम्बन्धी शरीर मात्र परिप्रहका वाचक है, और ‘आहार’ भिक्षामें आमतौरपर मिलनेवाले भोजनको समझना चाहिए। जो बाल-वृद्धादि साधु अपने आहार, शरीर, शृद्धा-संस्तर, देश, काल, बल और श्रमकी स्थितिको भले प्रकार जानकर तदनुकूल भद्र आचरणको अपनाता है वह अल्प कर्मबन्धका कर्ता होता है ।

तपस्वीको किस प्रकारके काम नहीं करने  
संयमो हीयते येन येन लोको विराङ्यते ।  
ज्ञायते येन संक्लेशस्तन्न कृत्यं तपस्विभिः ॥५७॥

‘जिसके द्वारा संयमकी हानि हो, जिसके द्वारा लोकको पीड़ा पहुँचती हो तथा जिसके द्वारा संक्लेश मालूम पड़े वह काम तपस्वियों—साधुओंको नहीं करना चाहिए ।’

- 
- १. बालो वा वृद्धो वा समभिहवो वा पुणो गिलाणो वा । चरित्रं चरदु सज्जोगं मूलच्छेदो जपा ए हवदि ॥३-३०॥—प्रवचनसार । २. महोपवासाध्यनुष्ठायी तपस्वी ( सर्वार्थसि० ) ।
  - ३. आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उद्यमि । जाणिता ते समणो वृद्धि जदि अप्यलेवी सो ॥३-३१॥—प्रवचनसार । ४. बाल-वृद्ध-आन्तर्गत-सम्बन्धिनं शरीरमात्रोपर्धि परिप्रहमिति । —प्रवचनसार टीका जयसेनोया ।

**व्याख्या**—साधु तपस्वीको कौन काम नहीं करने चाहिए उनकी यहाँ संक्षेपमें सूचना की गयी है। वे तीन काम हैं—एक तो जिससे संयमको—मूलगुणोंके अनुष्टुप्तको—हानि पहुँचे, दूसरा वह जिससे लोककी विराघना हो—लौकिक जनोंको पीड़ा पहुँचे और तीसरा वह जिससे अपनेको संक्लेश सालूम पड़े—अपने परिणामोंमें संक्षिप्तता आती हो। ऐसे सब कार्य पापबन्धके कारण होते हैं।

आगमकी उपयोगिता और उसमें साक्षर प्रवृत्तिकी प्रेरणा

'एकाग्रमनसः साधोः पदार्थेषु विनिश्चयः ।  
यस्मादागमतस्तस्मात् तस्मिन्नादियतो तराम् ॥६८॥

'एकाग्रचित्तके धारक साधुके चूंकि आगमसे पदार्थोंमें निश्चय होता है अतः आगममें विशेष आदरसे प्रवृत्त होना चाहिए।'

**व्याख्या**—आत्मा अथवा मुक्तिका साधन करनेवाले श्रमण—साधुका यहाँ 'एकाग्रमन' विशेषण दिया है, जो बहुत ही युक्तियुक्त है, क्योंकि भनको एकाग्रताके बिना साधना नहीं बनती और साधनाके बिना साधुता नाममात्रकी ही रह जाती है। भनकी एकाग्रता पदार्थोंके निश्चयपर अबलम्बित है। जिस साधुको अपने शुद्ध आत्मस्वरूपका, पर-पदार्थोंके संयोग-वियोग हेतुओंका, कर्मपुद्गतों तथा उनकी शक्तिका और इस विद्यके रूपका ठीक निश्चय नहीं उसका चित्त डावाँडोल होनेके कारण स्थिरताको प्राप्त नहीं होता। पदार्थोंके निश्चयकी प्राप्ति आगमसे—सर्वज्ञदेशनानुसारी शास्त्रोंसे—होती है अतः आगम-शास्त्रोंके प्रति विशेषतः आदरमात्र रखनेकी यहाँ साधुओंको प्रेरणा की गयी है।

परलोकविधौ शास्त्रं प्रमाणं प्रायशः परम् ।  
यतोऽत्रासम्भभ्यानामादरः परमस्ततः ॥६९॥

'चूंकि परलोकके सम्बन्धमें शास्त्र प्रायः उल्लृष्ट परमप्रमाण हैं, इसलिए जो निकट भव्य हैं उनका शास्त्रमें परम आदर होता है और उसका कारण यह है कि परलोकके विषयमें अथवा अतीन्द्रिय सूक्ष्म पदार्थोंके सम्बन्धमें प्रायः शास्त्र ही प्रमाणभूत है; क्योंकि वह धातिया कर्मोंके अयस्से समुद्भूत हुए अनन्त झानादि चतुष्टयके धारक सर्वज्ञके द्वारा देशित ( कथित ) होता है। ऐसा सर्वज्ञ के थतप्रमाण ही यहाँ तथा आगेके पदोंमें विवरित है।'

**व्याख्या**—यहाँ यह बतलाया है कि जो निकट भव्य साधु होते हैं उनका आगममें परम आदर होता है और उसका कारण यह है कि परलोकके विषयमें अथवा अतीन्द्रिय सूक्ष्म पदार्थोंके सम्बन्धमें प्रायः शास्त्र ही प्रमाणभूत है; क्योंकि वह धातिया कर्मोंके अयस्से समुद्भूत हुए अनन्त झानादि चतुष्टयके धारक सर्वज्ञके द्वारा देशित ( कथित ) होता है। ऐसा सर्वज्ञ के थतप्रमाण ही यहाँ तथा आगेके पदोंमें विवरित है।

उपदेशं विनाप्यह्नी पटीयानर्थकामयोः ।  
धर्मे तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः ॥७०॥

१. एयगगतो समग्रो एयमा णिच्छिवर्स अत्येतु। णिच्छित्तो आगमदो आगमबृता तदो जेत्वा ॥३-३२॥ —प्रश्नवाचार ।

‘यह प्राणी अर्थ और काम ( पुरुषार्थ ) के साधनमें विना उपदेशके भी नियुक्त होता है—स्वतः प्रवृत्ति करता है—परन्तु धर्म ( पुरुषार्थ ) के साधनमें विना शास्त्रोंके—शास्त्रोपदेशके अभावमें—प्रबृत्त नहीं होता, इसलिए शास्त्रमें आवरका होना हितकारी है।’

**ध्याल्या**—यहाँ शास्त्रमें आदर और उसकी आवश्यकताकी बातको यह कहकर और पुष्ट किया गया है कि संसारी प्राणी अर्थोंपार्जन और कामसेवन इन दो पुरुषार्थोंमें तो विना किसीके उपदेशके स्वतः प्रबीण होता तथा प्रबृत्ति करता है परन्तु धर्माचरणमें विना शास्त्रके नहीं प्रबत्तता अतः आगमशास्त्रमें आदर करना फिरारूप है।

अर्थकामाविधानेन तदभावः परं नृणाम् ।  
धर्माविधानतोऽनर्थस्तदभावरच जायते ॥७१॥

‘अर्थ और कामके साधनमें प्रबृत्ति न करनेसे उनका अभाव ही होता है। परन्तु धर्मके साधनमें प्रबृत्ति न करनेसे धर्मका अभाव ही नहीं किन्तु अनर्थ भी घटित होता है।

**ध्याल्या**—पिछले पदमें जिन तीन पुरुषार्थोंका उल्लेख है उनमें प्रबृत्तिके न होनेसे जो दोष आता है उसे इस पदमें बतलाते हुए लिखा है कि अर्थ-कामको न करनेसे तो मनुष्योंके उनका अभाव ही घटित होता है, परन्तु धर्मका अनुष्ठान न करनेसे धर्मका अभाव ही नहीं किन्तु दूसरा अनर्थ भी घटित होता है जिसे पापाचार प्रवृत्तिके रूपमें समझना चाहिए और इस तरह मुनियोंको धर्मके साधनभूत आगममें सादर प्रवृत्त होनेके लिए प्रेरित किया है।

तस्माद्धर्मार्थिभिः शश्वस्त्रास्त्रे यत्नो विशीयते ।  
मोहान्धकारिते लोके शास्त्रलोक-प्रकाशकम् ॥७२॥

‘अतः जो धर्मके अभिलाषी हैं उनके हारा सदा शास्त्रमें—शास्त्रोपदेशकी प्राप्तिमें—यस्त किया जाता है। मोहरूपी अन्धकारसे व्याप्त लोकमें शास्त्र ( ही ) लोकका प्रकाशक है—लोकको यथार्थस्वरूपमें दिखानेवाला है।’

**ध्याल्या**—धर्मसाधनाके लिए आगम-शास्त्रकी उक्त आवश्यकताको देखते हुए धर्मार्थों साधुओंका यह स्पष्ट कर्तव्य है कि वे सदा आगम-शास्त्रके अध्ययन, अवण तथा मननका बलन करें। वस्तुतः मोहान्धकारसे व्याप्त लोकमें शास्त्र ही लोकके स्वरूपका सन्तान प्रकाशक है।

यहाँ पीछे तथा आगे जिस शास्त्र ( आगम ) का उल्लेख है वह वही है जिसका स्वरूप स्वामी समन्तभट्टने समीचीन धर्मशास्त्र ( रत्नकरण ) के निम्न पदमें दिया है—

आप्नोपज्ञमनुललहृथ्यमवृष्ट्विरोधकम् ।

तस्मोपदेशकृत्स्वर्वं शास्त्रं कापय-घट्टनम् ॥५॥

**अर्थात्**—‘जो आप्नोपज्ञ हो—आपके हारा प्रथमतः ज्ञान होकर वपदिष्ट हुआ हो—अनुललहृ—उल्लंघनीय अथवा खण्डनीय न होकर प्राप्त हो, दृष्ट ( प्रत्यक्ष ) और इष्ट ( अनुमानादि-विषयक स्वसम्भव सिद्धान्त ) का विरोधक न हो—प्रत्यक्षादि प्रभाणोंसे जिसमें कोई आशा न आती हो और न पूर्वापरका कोई विरोध ही पाया जाता हो, तत्पोपदेशका कर्ता हो—वस्तुके यथार्थस्वरूपका प्रतिपादक हो, सबके लिए हितरूप हो और कुमारोंका निराकरण करनेवाला हो, उसे ‘शास्त्र’—परमार्थ आगम—कहते हैं।’

इसकी विशेष व्याख्याके लिए समीचीन धर्मशास्त्र पृष्ठ ४३, ४४ देखना चाहिए।

मायामयोषधं शास्त्रं शास्त्रं पुण्यनिवन्धनम् ।  
चहुः सर्वं गतं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधकम् ॥७३॥

‘मायामय रोगकी बबा शास्त्र, पुण्यका कारण शास्त्र, सर्वपदार्थोंको देखनेवाला नेत्र शास्त्र और सर्वप्रयोजनोंका साधक शास्त्र है।’

व्याख्या—यहाँ आगम-शास्त्रको महिमाका वर्णन करते हुए उसे मायाचार रूप रोग-की ओषधि, सर्वव्यापी नेत्र, पुण्यके उपार्जनमें सहायक और सर्वप्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाला साधक बतलाया है।

न भक्तिर्यस्य तत्रास्ति तस्य अर्थ-क्रियाखिला ।  
अन्धलोकक्रियातुल्या कर्मदोषादसत्फला ॥७४॥

‘जिसकी आगम-शास्त्रमें भक्ति नहीं उसकी सारी अर्थक्रिया कर्मदोषके कारण अन्धे अवस्थितकी क्रियाके समान होती है, और वह क्रिया दूषित होनेके कारण सत्फलको—उत्तम अथवा यथेष्ट कलको—नहीं फलती।’

व्याख्या—वह आगम-शास्त्रके प्रति जिसकी भक्ति नहीं—आदरभाव नहीं उस साधुका सब क्रियाको—सारे धर्माचरणको—यहाँ अन्धपुरुषकी क्रियाके समान बतलाया है; क्योंकि वह क्रिया विनेक-विहीन दूषित होनेके कारण सत्फलको नहीं फलती।

यथोदकेन वस्त्रस्य मलिनस्य विशोधनम् ।  
रागादि-दोष-दुष्टस्य शास्त्रेण मनसस्तथा ॥७५॥

‘जिस प्रकार मलिन वस्त्रका जलसे शोधन होता है उसी प्रकार रागादि दोषसे दूषित हुए मनका संकोषन शास्त्रसे होता है।’

व्याख्या—यहाँ भी शास्त्रके महत्त्वको एक उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रागादिक दोषोंसे दूषित हुआ साधुका मन शास्त्रके अध्ययनादिसे उसी प्रकार चिशुद्धिको प्राप्त होता है जिस प्रकार कि मलसे मलिन वस्त्र जलसे धुलनेपर शुद्ध तथा साफ होता है।

आगमे शाश्वती बुद्धिर्मुक्तिस्त्री-शंकली यतः ।  
ततः सा यत्कर्ता कार्या भवेन भवभीरुणा ॥७६॥

‘वृंकि आगम—शास्त्रमें निरन्तर लगी हुई बुद्धि मुक्तिस्त्रीको प्राप्त करनेमें दूतीके समान है—मुक्तिको प्राप्त कराती है—इसलिए जो संसारसे—संसारके दुःखोंसे—भयभीत भव्य है उसे यत्नपूर्वक बुद्धिको शास्त्रमें—शास्त्रके अध्ययन-श्रवण-मननादिमें—लगाना चाहिए।’

व्याख्या—यहाँ अलंकारकी भाषामें आगममें निरन्तर लगी रहनेवाली साधुकी बुद्धिको मुक्तिस्त्रीसे मिलानेवाली दूतीके समान बतलाया है और इसलिए संसारसे भयभीत भव्य साधुको सदा यत्कर्ता कार्योंको आगमके अध्ययनादिमें प्रशृत करना चाहिए—इससे उसको मुक्तिमार्गकी प्राप्ति होगी।

कान्तारे पतितो दुर्गे गर्तायथारहारतः ।  
 यथाऽन्धो नाशन्तुते मार्गमिष्टस्थान-प्रवेशकम् ॥७७॥  
 पतितो भव-कान्तारे कुमार्गपरिहारतः ।  
 तथा नाप्नोत्यशास्त्रज्ञो मार्गं सूक्तिप्रवेशकम् ॥७८॥

‘जिस प्रकार दुर्गम वनमें पड़ा हुआ अन्धा मनुष्य खड़े आदिका परित्याग न कर सकनेसे इष्टस्थानमें प्रवेश करनेवाले मार्गको नहीं पाता है उसी प्रकार संसार-वनमें पड़ा हुआ अशास्त्रज्ञ प्राणी कुमार्गका परित्याग न कर सकनेसे मुक्तिप्रवेशक मार्गको प्राप्त नहीं होता—उस सन्मार्गपर नहीं लगता है जिसपर चलनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है।’

व्याख्या—यहाँ आगम-शास्त्रकी उपयोगिता, आवश्यकता तथा महिमाका उपरांहार करते हुए उसे दुर्गम-वनमें अकेले पड़े हुए अन्ध पुरुषके उदाहरण-द्वारा कुछ और स्पष्ट करके बतलाया गया है। दुर्गम वनमें अकेला पड़ा हुआ अन्धा जिस प्रकार चलते समय गढ़ड़, खड़ तथा कूप-द्वारा आदिका परिहार न कर सकनेसे उनमें गिर जाता है, पड़ा-पड़ा कट भोगता है और अपने इष्टस्थानको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार संसार-वनमें पड़ा हुआ शास्त्रज्ञानसे विहीन अन्धा साधु-चर्या करते समय कुमार्गका परिहार न कर सकनेसे कुमार्गमें फँसकर अपने इष्टस्थान—मुक्तिको प्राप्त करनेवाले सन्मार्गको प्राप्त करनेमें असमर्थ होता है।

इस प्रकार ११ पद्योंमें साधुके लिए आगम-शास्त्रकी भारी उपयोगितादिका यहाँ वर्णन किया गया है, जिसके द्वारा प्राप्त ज्ञानसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

समान अनुष्ठानके होनेपर भी परिणामादिसे फलभेद

यतः समेऽप्यनुष्ठाने फलभेदोऽभिसन्धितः ।  
 स ततः परमस्तत्र ज्ञेयो नीरं कृषाविव ॥७९॥  
 यद्युधा भिद्यते सोऽपि रागद्वेषादिभेदतः ।  
 नानाफलोपभोक्तृणां नृणां युद्धादिभेदतः ॥८०॥

‘चैकि समान अनुष्ठानके होनेपर भी परिणामसे फलमें भेद होता है इसलिए फलग्राहिमें परिणामको उत्कृष्ट स्थान प्राप्त है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि खेतीमें ( जोतने-बोने आदि स्वयं समान अनुष्ठानके होनेपर भी ) जलको विशेष स्थान प्राप्त है—ठीक समवयपर यथेष्ट मात्रामें यदि खेतीको जल दिया जाता है तो वह उत्तम होती है। और वह परिणाम ( अभिप्राय ) भी राग-द्वेषादिके भेदसे तथा फलका उपभोग करनेवाले विविध मनुष्योंकी बुद्धि आविके भेदसे यद्युधा भेद रूप है।’

व्याख्या—इन दोनों पद्योंमें चारित्रका अनुष्ठान समान होनेपर भी उसके फलभेदकी बात कही गयी है। फलभेदमें भावकी प्रधानताको बतलाते हुए खेतीमें जलके उदाहरण-द्वारा उसे स्पष्ट किया गया है, शुभराग तथा अशुभराग और द्वेष-मोहादिककी तर-तमताके भेदसे

भी फलमें भेद होता है। इसके अतिरिक्त फल भोगनेवालोंकी बुद्धि आदिके भेदसे भी फलमें भेद होता है, यह बात यहाँ खास तौरसे सूचित की गयी है।

बुद्धि, ज्ञान और असम्मोहके भेदसे सारे कर्म भेदरूप

**बुद्धिज्ञानप्रसंमोहस्थिविधः प्रक्रमः स्मृतः ।  
सर्वकर्माणि पियन्ते तद्वेदाच्च शरीरिणाम् ॥८१॥**

‘बुद्धि, ज्ञान और असम्मोह ऐसे तीन प्रकारका प्रक्रम—कार्यमें प्रवर्तनरूप उद्यम—है और इसके भेदसे देहधारियोंके सब कार्य भेदको प्राप्त होते हैं—कोई बुद्धिपूर्वक, कोई ज्ञानपूर्वक और कोई असम्मोहरूप होते हैं।

**व्याख्या**—जिस बुद्धि आदिके भेदसे पद्यमें फलभेदकी बात कही गयी है उसे यहाँ बुद्धि, ज्ञान और असम्मोहके भेदसे तीन प्रकार प्रक्रम—उद्यम बतलाया है—एक बुद्धिपूर्वक, दूसरा ज्ञानपूर्वक और तीसरा असम्मोहहेतुक। इन तीनोंका स्पष्टीकरण अगले कुछ पद्योंमें किया गया है। यहाँ इतनी ही सूचना की गयी है कि इन तीनोंके भेदसे देहधारियोंके सारे कार्य भेदको प्राप्त होते हैं।

बुद्धि, ज्ञान और असम्मोहका स्वरूप

**बुद्धिमत्ताश्रयां तत्र ज्ञानमागमपूर्वकम् ।  
तदेव सदनुष्ठानमसंमोहं विदो विदुः ॥८२॥**

‘विज्ञ पुरुष उन बुद्धि आदि तीन भेदोंमें इन्द्रियाधितको ‘बुद्धि’ आगमपूर्वकको ‘ज्ञान’ और आगमपूर्वक ज्ञान ही जब सत्य अनुष्ठानको—अन्धान्तरूपसे स्थिरताको—प्राप्त होता है तब उसे ‘असम्मोह’ कहते हैं।’

**व्याख्या**—इस पद्यमें बुद्धिको इन्द्रियाधित और ज्ञानको आगमपूर्वक बतलाकर दोनोंके भेदको स्पष्ट किया गया है, अन्यथा बुद्धि और ज्ञानमें साधारणतया कोई भेद मालूम नहीं होता—एकके स्थानपर दूसरेका प्रयोग पाया जाता है; जैसे ज्ञानको प्रमाण कहा जाता है वैसे ‘प्रमाणं बुद्धिलक्षणम्’ वाक्यके द्वारा स्वामी समन्वयने स्वयम्भूस्तोत्र (६३) में उस ज्ञानको ही ‘बुद्धि’ शब्दके द्वारा उल्लेखित किया है। साथ ही जो आगमपूर्वक ज्ञान सदनुष्ठानको प्राप्त हो—अन्धान्तरूपसे स्थिर हो—उसे ‘असम्मोह’ बतलाया है।

बुद्धिर्विद्यादि पूर्वक कार्योंके कलनेदकी विद्यासूचना

**चारित्रदर्शनज्ञानतत्स्थीकारो यथाक्रमम् ।  
तत्रोदाद्वरणं ज्ञेयं बुद्धियादीनां प्रसिद्धये ॥८३॥**

‘चारित्र-दर्शन-ज्ञानका जो यथाक्रम—दर्शन-ज्ञान-चारित्रके क्रमसे—स्थीकार है—जो चारित्र दर्शन-ज्ञान-पूर्वक है—उसमें बुद्धि आविकी प्रसिद्धिके लिए यहाँ उदाहरणरूपसे भेदको ज्ञानना चाहिए।’

**व्याख्या**—बुद्धि आविकी विशेषताको दर्शानेके लिए यहाँ जिस फलभेदके उद्घारणकी बात कही गयी है उसे संक्षेपतः अगले कुछ पर्योगमें बतलाया गया है।

बुद्धिपूर्वक सब कार्य संसार-फलके दाता

**बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि समस्तानि तन्मृताम् ।  
संसारफलदायीनि विपाकविरसत्वतः ॥८४॥**

‘विहृथारी जीवोकि जो बुद्धिपूर्वक कार्य हैं वे सब संसारफलके देनेवाले हैं, क्योंकि वे विपाकमें विरस होते हैं।’

**व्याख्या**—यहाँ संसारी जीवोंके जितने भी बुद्धिपूर्वक कार्य हैं उन सबको सांसारिक फल अथवा संसार-परिभ्रमणरूप फलके देनेवाले लिखा है और उसका हेतु यह दिया है कि वे विपाककालमें विरस होते हैं। जो विपाककालमें रसरहित अथवा विकृत रस हो जाते हैं उन इन्द्रियाश्रित बुद्धिपूर्वक कार्योंकी ऐसी ही स्थिति है कि वे संसार-फलको ही देनेवाले होते हैं।

ज्ञानपूर्वक कार्य मुक्तिहेतु  
तन्येव ज्ञान-पूर्वाणि जायन्ते मुक्तिहेतवे ।  
अनुबन्धः फलत्वेन श्रुतशक्तिनिवेशितः ॥८५॥

‘वे ही कार्य जब ज्ञान-पूर्वक होते हैं तो वे मुक्तिके हेतु होते हैं; क्योंकि श्रुतशक्तिको लिये हुए जो अनुराग है वह ( कमशः ) मुक्तिके फलको फलता है।

**व्याख्या**—जो कार्य इन्द्रियाश्रित बुद्धिपूर्वक किये जाते हैं वे ही कार्य जब आगमा-श्रित ज्ञानपूर्वक किये जाते हैं तो वे बन्धके फलको न फलकर क्रमसे मुक्तिके फलको फलते हैं। इससे यह साफ ध्वनित होता है कि इन्द्रियाश्रित बुद्धि अज्ञानरूपा है और आगमाश्रित बुद्धि ज्ञानरूपा है। इसीसे अज्ञानीके भोगोंको बन्धका और ज्ञानीके भोगोंको निर्जनका कारण बतलाया जाता है।

असम्मोह-पूर्वक कार्य निवाणि सुखके प्रदाता  
सन्त्वसंमोहहेतुनि कर्मण्यत्यन्तशुद्धितः ।  
निवाणशर्मदायीनि भवातीताध्वगामिनाम् ॥८६॥

‘जो कार्य असम्मोहपूर्वक होते हैं वे भवातीत मार्गपर चलनेवालोंको अत्यन्त शुद्धिके कारण निवाणसुखके प्रदाता होते हैं।’

**व्याख्या**—यहाँ तीसरे असम्मोह हेतु कार्योंके फलकी बातको लिया गया है, जिनके स्वामी भवातीत मार्गगमी होते हैं—भवामिनन्दी नहीं—और उन्हें मुक्ति-सुखका दाता लिखा है; क्योंकि वे चित्तकी अत्यन्त शुद्धिके लिये हुए होते हैं।

भवातीत मार्गगामियोंका स्वरूप

भावेषु कर्मजातेषु भनो येषां निरुद्यमम् ।  
भव-सोग-विरक्तास्ते भवातीतश्चगामिनः ॥८७॥

‘कर्मजनित पदार्थोंमें जिनका भन उद्यमरहित है वे भवभोगसे विरक्त ( थोगी ) ‘भवातीतमार्गगामी’ होते हैं ।’

**व्याख्या**—जिन भवातीतमार्गगामियोंका पिछले पद्ममें उल्लेख है उनका इस पद्ममें संक्षिप्त रूप दिया गया है—यह बतलाया है कि जिनका भन कर्मोद्यजनित पदार्थोंमें निरुद्यम रहता है—अतुरकि आदिके रूपमें कोई प्रशृति नहीं करता—और जो संसारके भोगोंसे सदा विरक्त रहते हैं उन्हें ‘भवातीतमार्गगामी’ कहते हैं । ऐसे मुनियोंकी प्रशृति भवाभिनन्दी मुनियोंसे बिलकुल विपरीत ‘अलौकिकी’ होती है ।

भवातीतमार्गगामियोंका मार्ग सामान्यकी तरह एक है

एक एव सदा तेषां पन्थः सम्यक्त्वचारिणाम् ।  
व्यक्तीनामिच सामान्यं दशामेदेऽपि जायते ॥८८॥

‘जो भवातीतमार्गगामी सम्यक् धारिणी है उनका मार्ग वकाका कुछ भेद होनेपर भी एक ही है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि व्यक्तियोंमें अवस्थाका कुछ भेद होनेपर भी समानता-योग्यता एक ही होता है ।’

**व्याख्या**—जिन भवातीतमार्गगामियोंका पिछले पद्ममें उल्लेख है उनके विश्वयमें यहाँ दो बातें खासतीरसे कही गयी हैं—एक तो यह कि वे सब सम्यक्त्वारिणी होते हैं, दूसरे यह कि उनमें परस्पर पन्थभेद नहीं होता—सबका पन्थ एक ही रहता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि व्यक्तियोंमें—विशेषोंमें—अवस्थाका कुछ भेद होनेपर भी सामान्य सदा एक ही रहता है ।

शब्दभेदके होनेपर निर्वाणवत्त्व एक ही है

निर्वाणसंक्षितं तत्त्वं संसारातीतलक्षणम् ।  
एकमेवावबोद्धव्यं शब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥८९॥

‘संसारातीत लक्षणको लिये हुए जो निर्वाण—संक्षा प्राप्त ( मोक्ष ) तत्त्व है उसे शब्द-भेदके होनेपर भी वस्तुतः एक ही जानना चाहिए ।’

**व्याख्या**—निर्वाण नामका तत्त्व, जिसे सात तत्त्वोंमें ‘मोक्ष’ नामसे गिनाया गया है और जिसका लक्षण संसारनेका अभाव है—अर्थात् जिसमें भव-परिवर्तन नहीं, जन्म-मरण नहीं, शरीर नहीं, इन्द्रियाँ नहीं, इन्द्रियों-द्वारा विषयग्रहण नहीं, राग-द्वेष-मोह नहीं, क्रोध-मान-माया-लोभ नहीं, हास्य-रति-अरति-शोक-भग-जुगुसा नहीं, कामसेवा नहीं, किसी प्रकारकी इच्छा नहीं, त्रुष्णा नहीं, अर्हकार-ममकार नहीं, संयोग-वियोग नहीं, इष्टवियोग-

१. सु सम्परायिणी । २. सु दशामेदी ।

अनिष्ट योग-जन्य कोई कष्ट नहीं, रोग नहीं, जरा नहीं, बाल-युवा-वृद्धावस्था नहीं, भूख-प्यास नहीं, खाना-पीना-सोना-जागना नहीं, कहीं जला-आना नहीं, किसीसे कोई बातीलाप नहीं, कोई धन्धा-व्यापार नहीं, किसी प्रकारकी साधना-आराधना नहीं, मिठी-इट-पत्थर-चूने आदिके मकानोंमें रहना नहीं, संसारका कोई सुख-दुःख नहीं, अनित्यता-क्षणभंगुर नहीं; और न किसी प्रकारका कोई विभाव परिणमन है, उस स्व-स्वभाव-स्थित निर्विकार शुद्ध शाश्वत ज्ञानानन्द स्वरूपको 'संसारातीत लक्षण' कहते हैं। इस लक्षणसे युक्त 'निर्वाण' तत्त्व वस्तुतः एक ही है; मोक्ष, मुक्ति, निर्वृति, सिद्धि आदि शब्दभेद अथवा संक्षा ( नाम ) भेदके कारण भेद होनेपर भी अर्थका कोई भेद नहीं है—सब नाम तात्त्विक हृषिसे एक ही अर्थके बाचक हैं।

यहाँ मोक्ष ( निर्वाण ) का जो लक्षण 'संसारातीत' अर्थात् 'भव-विपरीत' दिया है वह अपनी खास विशेषता रखता है और उसे सबकी समझमें आने योग्य बना देता है। यद्यपि वह उस लक्षणसे जो मोक्षाधिकारके प्रारम्भमें 'अभावो बन्धहेतूना' इत्यादि रूपसे दिया है, प्रकटरूपमें भिन्न जान पड़ता है परन्तु वस्तुतः भिन्न नहीं है—उसीका फलितार्थ है। वह दार्शनिकोंकी—शास्त्रियोंकी समझमें आने योग्य बड़ा ही गूढ़-गम्भीर तथा, जैचानुला लक्षण है और यह सर्वसाधारणकी सहज समझमें आने योग्य खुला एवं सीधा-सादा लक्षण है। बन्ध और बन्धका कार्य जो 'संसार' उससे मोक्ष विपरीत है। संसाररूप सबके सामने है, जिसे संक्षेपमें ऊपर प्रदर्शित किया गया है, जबकि बन्धके द्वेष और सर्व कर्म सामने नहीं हैं, इससे सांसारिक सभी प्रवृत्तियोंके अभावरूप मोक्षको आसानीसे समझा जा सकता है और इसीलिए सर्वसाधारणकी समझ तथा फलितार्थकी हृषिसे यह लक्षण बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

### विमुक्तादि शब्द अन्वर्थक

**विमुक्तो निर्वृतः सिद्धः परंब्रह्मामवः शिवः ।**

**अन्वर्थः शब्दमेदेऽपि मेदस्तस्य न विद्यते ॥१०॥**

'विमुक्त, निर्वृत, सिद्ध, परंब्रह्म, अभव तथा शिव शब्द अन्वर्थक हैं। शब्दभेदके होते हुए भी इनमें एकके बाल्यकां दूसरेके बाल्यके साथ बास्तवमें अर्थभेद नहीं है।'

ब्याल्य—यहाँ निर्वाणको प्राप्त व्यक्तियोंके कुछ नामोंका उल्लेख करके यह बतलाया है कि ये सब नाम अन्वर्थ संक्षेप हैं—नामभेदको लिये हुए होनेपर भी इनमें कोई भी नाम उस निर्वाण तत्त्वके जपभेदकी लिये हुए नहीं है—सबका अभिवेद वही एक निर्वाणतत्त्व है जिसका पिछले पद्ममें उल्लेख किया गया है। विमुक्तिको—विभावपरिणमनमें कारणभूत बन्धनोंसे विशेषतः निर्वृतिको—जो प्राप्त उसे 'विमुक्त' कहते हैं, जो सांसारिक सब प्रवृत्तियोंसे छुटकारा पा चुका है उसे 'निर्वृत' कहते हैं, जिसने सिद्धिको—दोषों-विकारों तथा आवरणोंके अभावरूप स्वात्मोपलक्षिको—प्राप्त कर लिया है उसे 'सिद्ध' कहते हैं, जो सब विभावोंका अभाव कर अपने शुद्ध चिराजनन्दमय आत्मस्वरूपमें स्थित हो चुका है उसे 'परंब्रह्म' कहते हैं, जो भवके संसारके—सब प्रपञ्चोंसे रहित हो चुका है अथवा संसारके रूपमें नहीं रहा उसे 'अभव' कहते हैं और जो शिवको—परम सौख्यरूप निर्वाणको अथवा परम-कल्याण-को—प्राप्त हो चुका है उसे 'शिव' कहते हैं। उक्त नामोंकी इन अर्थोंपरन्ते सबका बाल्य एक ही पाया जाता है और इसलिए इनमें वस्तुतः अर्थ-भेदका न होना सुनिश्चित है।

१. अन्वस्य कार्यः संसारः ( रामेनाचार्य ) । २. मोक्षस्तदिपरीतात्मा ( समत्तमेद ) ।

निवाणितत्त्वं तीर्त्ति विशेषणे तु ग

तल्लक्षणाविसंवादा निरावाधमकल्पम् ।  
कार्यकारणतातीतं जन्मसृत्युवियोगतः ॥६१॥

‘उस निर्वाणितत्त्वके लक्षणमें जो विसंवाद-रहित हैं वे उसे ‘निरावाध’—सत्र प्रकारकी आकुलतादि वाधाओंसे रहित—‘अकल्पम्’—सारे कर्ममलोंसे शून्य—और जन्म-मरणका अभाव हो जानेसे ‘कार्य-कारणता-से विमुक्त’ कहते हैं।’

**ब्याख्या**—निर्वाण तत्त्वके उक्त संसारातीत लक्षणमें जिन्हें कोई विवाद नहीं है वे उस निर्वाण तत्त्वको तीन खास विशेषणोंसे युक्त अनुभव करते हैं—एक निरावाध, जिसमें कभी किसी प्रकारसे कोई वाधा नहीं आती, दूसरे अकल्पम्, जिसमें कभी किसी प्रकारसे कर्ममलका सम्बन्ध नहीं हो पाता, तीसरे जन्म-मरणका वियोग हो, जानेसे जो सदा कार्य-कारणतासे रहित रहता है—न कभी किसीका कार्य बनता और न कभी कारण।

अयम्भोद्यो ज्ञात निर्वाण-तत्त्वमें कोई विवाद तथा भेद नहीं होता

ज्ञाते निर्वाण-तत्त्वेऽस्मिन्नसंभोदेन तत्त्वतः ।  
मुमुक्षुणां न तद्युक्तौ विवाद उपपत्तते ॥६२॥  
सर्वज्ञेन यतो दृष्टो मार्गो मुक्तिप्रवेशकः ।  
प्राञ्छलोऽयं सतो भेदः कदाचिन्नात्र दित्यते ॥६३॥

‘इस निर्वाणितत्त्वके बहुतुतः असम्भोद ( अध्रान्त ) रूपसे ज्ञात हो जानेपर मुमुक्षुओंको उसकी युक्तियोजनामें विवाद उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि सर्वज्ञके द्वारा देखा गया जो मुक्तिप्रवेशक मार्ग है वह प्राञ्छल है—स्पष्ट एवं निर्देश है—और इसलिए उसमें कभी कोई भेद नहीं है।’

**ब्याख्या**—मोक्षतत्त्वको जबतक असम्भोद ( अध्रान्त ) रूपसे नहीं जाना जाता तब-तक उसमें वियादका होना सम्भव है। आगम-ज्ञानपूर्वक निश्चित रूपसे जान लेनेपर मुमुक्षुओंको उसमें फिर कोई विवाद उत्पन्न नहीं होता। वे हृद श्रद्धाके साथ समझते हैं कि सर्वज्ञदेवने मोक्ष-प्राप्तिका जो मार्ग—उपाय बन्धके हेतुओं मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रका अभाव और मोक्षहेतुओं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका सद्गात्र बतलाया है, वह विलकुल ठीक है—उसमें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता। अन्धहेतुओंके अभावसे नये कर्म नहीं बढ़ते और मोक्षहेतुओंके सद्गमावसे जो तपश्चर्या बनती है, उससे संचित सारे कर्मोंकी निर्जरा होकर स्वतः मुक्तिकी प्राप्ति होती है। और इसलिए वे निःर्झक होकर उस मार्गमें प्रवृत्ति करते हैं।

निर्वाणपार्गको देशमाके विविध होनेके कारण

विवित्रादेशमास्त्र भव्यचित्तानुरोधतः ।  
कुर्वन्ति द्वयो वैश्वा यथाद्याध्यनुरोधतः ॥६४॥

‘उस मुक्तिमार्गके सम्बन्धमें आचार्य महोदय भव्यजनोंके चित्तानुरोधसे नाना प्रकारकी देशनाएँ उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार वैश्व व्याधियोंके अनुरोधसे नाना प्रकारकी

१. आ जन्मसृत्युवियोगतः, व्या अन्मसृत्यादियोगतः ।

चिकित्सा करते हैं—जिस समय जिस रोगीकी जिस प्रकारकी व्याधि ( वीमारी ) होती है उस समय चतुर वैद्य उस व्याधि तथा रोगीकी प्रकृति आदि के अनुरूप थोरय औषधकी योजना करते हैं ।

**व्याख्या**—पिछले पथसे कोई यह न समझ ले कि मुक्तिका मार्ग बिलकुल एक ही साँचेमें दब्ला हुआ होता है, सबके लिए समाज रूपसे ही उसकी देशना की जाती है, उसकी प्रक्रियामें कहीं कोई रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं होता, इस राहतकहमीको दूर करनेके लिए ही इस पथका अवतार हुआ जान पड़ता है। यहाँ स्पष्ट रूपसे मोक्षमार्गकी देशनाका विशेषण 'विचित्रा' दिया गया है जो इस बातको सूचित करता है कि सबके लिए देशनाका एक ही रूप नहीं होता, क्योंकि सामान्यतः संसार-रोग एक होने पर भी उसकी अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न चित्तोंके अनुरोधसे भिन्न-भिन्न होती हैं। एक चतुर वैद्य एक ही रोगसे पीड़ित विभिन्न रोगियोंकी चिकित्सामें रोगीकी अवस्था आदिके अनुरोधसे जिस प्रकार विभिन्न चिकित्सा करता है उसी प्रकार संसार-रोगके छाता आचार्य भी संसारी प्राणियोंके रोगकी विभिन्न स्थिति तथा अवस्था आदिके अनुसार उन्हें विभिन्न प्रकारकी देशना किया करते हैं जिसमें रोग-विषयक सिद्धान्तादिका कोई विरोध न होकर द्रव्य-शेष-काल-भावके अनुसार उसकी चिकित्सा-प्रक्रियामें अन्तर हुआ करता है। इसीसे अनेक आचार्योंके कथनोंमें परस्पर शासन-भेद पाया जाता है, इतना ही नहीं किन्तु जैन तीर्थकरोंके शासनमें भी भेद पाया जाता है। इसके लिए जैन प्रन्थरत्नाकर हीराबाग बन्धुइसे प्रकाशित 'जैनाचार्योंका शासनभेद' नामकी पुस्तकको देखना चाहिए, जिसमें एतिहासिक रूपसे वैरागीर्वारोंका शासनभेद भी दिया हुआ है।

उक्त चारित्र-व्यवहारसे मुक्ति हेतु, निश्चयसे विविक्त चेतनाका ध्यान  
कारणं निर्वृतेरेतच्चारित्रं व्यवहारतः ।  
विविक्तचेतनध्यानं जायते परमार्थतः ॥६५॥

'यह चारित्र जो ऊपर वर्णित हुआ वह व्यवहारसे निर्वाणका कारण है, निश्चयसे कर्म-कलंक विमुक्ति हुद्द आत्माका जो ध्यान है वह निर्वाणका कारण होता है।'

**व्याख्या**—यहाँ पूर्व वर्णित चारित्रके विषयमें वह थोरणा की गयी है कि वह व्यवहार नयकी दृष्टिसे मुक्तिका मार्ग है—मुक्तिकी प्राप्तिका सहायक है—निश्चय नयकी दृष्टिसे विविक्त चेतनाका—कर्मकलंकसे रहित हुद्दात्माका—ध्यान मुक्तिका कारण होता है।

व्यावहारिक चारित्रके भेद

यो व्यावहारिकः पन्थाः सभेद-द्वय-संगतः ।  
अनुकूलो भवेदेको निर्वृतेः संसृतेः परः ॥६६॥

'जो व्यावहारिक ( व्यवहारनयाश्रित ) मार्ग है वह वो भेदोंको लिये हुए है, एक निर्वाणके अनुकूल है, दूसरा संसारके अनुकूल है।'

**व्याख्या**—यहाँ व्यवहार-मार्गके दो भेद किये गये हैं—एक वह जो कि मुक्तिके अनुकूल होता है और दूसरा वह जो कि संसारके अनुकूल होता है। फलतः उसे मुक्तिके प्रतिकूल समझना चाहिए। जो व्यवहार-मार्ग मुक्तिके अनुकूल होता है उसीको मोक्षकी प्राप्तिमें सहायक समझना चाहिए।

कौन चारित्र मुक्ति के अनुकूल और कौन संसुदिके  
**निष्टुतेरनुकूलोऽध्या चारित्रं जिन-भाषितम् ।**  
**संसुतेरनुकूलोऽध्या चारित्रं पर-भाषितम् ॥६७॥**

‘निर्वाण ( मुक्ति ) के अनुकूल जो मार्ग है वह जिनभाषित चारित्र है और जो संसारके अनुकूल मार्ग है वह पर-भाषित सर्वज्ञ—जिनदेवसे भिन्न अन्य व्यक्तियों ( असर्वज्ञों, आपा-भासों ) का कहा हुआ—चारित्र है ।’

व्याख्या—पिछले पदमें व्यवहार चारित्रके जो दो भेद किये हैं उनके स्वरूपकी कुछ सूचना इस पदमें की गयी है और वह यह है कि जो चारित्र-धर्म जिनभाषित है—वाति-कर्ममलके क्षयसे उत्पन्न अनन्तज्ञानादि चतुष्प्रथके धारक केवलिजिन-प्रज्ञम हैं—वह मुक्तिके अनुकूल है और जो पर-भाषित है—केवलज्ञानादिसे रहित दूसरोंके द्वारा कहा गया है—वह संसारके अनुकूल है—संसारको बढ़ानेमें सहायक है ।

जिनभाषित चारित्र कैसे मुक्ति के अनुकूल है  
**चारित्रं चरतः साधोः कषायेन्द्रिय-निर्जयः ।**  
**स्वाध्यायोऽत्यस्ततो ध्यानं ततो निर्वाणसंगमः ॥६८॥**

‘( जिनभाषित ) सम्यक् चारित्ररूप आचरण करते हुए साधुके कषाय तथा इन्द्रियोंका जीतना होता है, कषाय और हन्त्रियोंको जीतनेसे स्वाध्याय—अपने आत्माका अध्ययन—बनता है और स्वात्माध्ययनसे निर्वाणका संगम होता है—अविनाशी एवं पूर्णतः निराकुल मोक्ष-सुखकी प्राप्ति होती है ।’

व्याख्या—यहाँ जिनभाषित चारित्रके विषयमें वह स्पष्ट किया गया है कि वह कैसे मुक्तिके अनुकूल है । उस चारित्रपर चलनेवाले साधुके कषायों तथा इन्द्रियोंपर विजय होता है, कषायों तथा इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त होनेसे स्वाध्याय—अपने आत्मस्वरूपका अध्ययन—बनता है और आत्मस्वरूपके अध्ययनसे विविक्त आत्माका वह ध्यान बनता है जिसे पिछले एक पद ( ९४ ) में निश्चय चारित्र कहा गया है और उसके बननेसे मुक्तिका संगम स्वतः होता है । इस तरह जिनभाषित व्यवहार चारित्र मुक्तिको प्राप्त करनेमें सहायक है और इसलिए उसको भी ‘मोक्षमार्ग’ कहना संगत है ।

उक्त व्यवहार चारित्रके विना निष्पद चारित्र नहीं बनता  
**इदं चरित्रं विभिना विधीयते**  
**ततः शुमध्यान-विरोधि-रोधकम् ।**  
**विविक्तमात्मानमनन्तमीशते**  
**न साधको ध्यातुमृतेऽशुना यतः ॥९९॥**

‘यह ( जिनभाषित ) चारित्र जो कि शुभध्यान ( धर्मध्यान ) के विरोधियों ( आर्त-रौद्र-ध्यानों ) को रोकनेवाला है जब यथाविधि किया जाता है तो उससे साधुजन अनन्तरूप विविक्त-निर्मल आत्माको ध्यानेके लिए समर्थ होते हैं । इस चारित्रके विना वे साधुजन शुद्धात्मके ध्यानमें समर्थ नहीं होते ।’

**ध्यात्वा**—यहाँ जिन-भाषित चारित्रके अनुष्ठानका दो प्रकारसे महत्व दर्शापित किया गया—एक तो यह कि वह शुभध्यानके विरोधी ध्यानोंका निरोधक है दूसरे उससे शुद्धात्मा-के ध्यानकी शक्ति, पात्रता अथवा भोग्यता प्राप्त होती है, यिना इस चारित्रका अनुष्ठान किये वह नहीं बनती। इसीसे व्यवहारचारित्रको निश्चय चारित्रका साधन कहा गया है। उसके अनुष्ठान-द्वारा शक्ति एवं पात्रता प्राप्त किये बिना शुद्ध आत्माके ध्यानरूप निश्चय चारित्र नहीं बनता। जो लोग व्यवहारचारित्रको निश्चय चारित्रका सहायक न मानकर यों ही फालत् मदकी बात अथवा वेकार ( उद्यर्थ ) समझते हैं उन्हें इस कथनसे अच्छी खासी शिक्षा लेनी चाहिए और अपनी भूल-भ्रान्तिको मिटा देना चाहिए। यदि व्यवहार-चारित्र निश्चय चारित्रके साधनमें किसी प्रकारसे भी सहायक नहीं होता तो जिनेन्द्र भगवान्‌को उसके कथनकी आवश्यकता ही क्या पड़ती? अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिसे ही चारित्रही वह भूमिका तैयार होती है जहाँ खड़े होकर शुद्धात्माका आराधन किया जा सकता है।

उक्त चारित्रके अनुष्ठाना योगीकी स्थिति

**राग-द्वेष-प्रपञ्च-भ्रम-मद-मदन-क्रोध-लोभ-व्यपेतो**

यहनशिवं पवित्रं चरति चतुर्थीलोकगात्रानपेत्तः ।

**स ध्यात्वात्म-स्वभावं विगलितकलिलं नित्यमध्यात्मगम्य**

**त्यक्त्वा कर्मारि-चक्रं परम-सुख-मयं सिद्धिसद्म प्रयाति ॥१००॥**

इति श्रीमद्भित्तगति-निःसंग-योगिराज-विरचिते योगसारप्रामुख्ये चारित्राधिकारः ॥८॥

‘जो चतुरबुद्धि योगी राग-द्वेष-प्रपञ्च ( छलादि ) भ्रम, मद, मान-अहंकार, मदन ( काम ) क्रोध और लोभसे रहित हुआ लोकपात्राती—बुनियाके व्यवहारकी अपेक्षा न रखता हुआ ( उक्त ) पवित्र चारित्ररूप प्रवृत्त होता है वह अध्यात्मगम्य स्वभावको सदा शिक्षकलंक रूपमें ध्यान करके और कर्मशब्दोंके चक्रको भेद कर परम सुखमय सिद्धि-सबन ( मुक्ति महल ) को प्राप्त होता है।’

**ध्यात्वा**—यह आठवें अधिकारका उपसंहार-पद्धति है। इसमें अधिकार-बर्णित पवित्र चारित्रका अनुष्ठान करनेवाले योगीके तीन खास विशेषण दिये गये हैं—एक राग-द्वेष-प्रपञ्च-भ्रम-मद-मदन-क्रोध-लोभसे रहित होना, दूसरा बुद्धिकी चतुरताका होना और तीसरा लोकपात्राकी अपेक्षा न रखना। इन गुणोंसे युक्त हुआ योगी जब आत्मस्वभावका ध्यान करता है, जो कि कर्म कलंकसे रहित, शाश्वत और आत्मगम्य है, तब उसके साथ दर्शन-श्वानावरणादि कर्मोंका जो समूह है वह सब विच्छिन्न तथा विभिन्न हो जाता है और इससे योगी निर्बन्ध तथा निलैप सिद्धिके उस चरमधारमको पहुँच जाता है जो परम सुखस्वरूप है, और जिसकी स्थिति लोकके अश्वभावमें सिद्ध शिलासे ऊपर है।

इस प्रकार श्री अमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचित योगसार-प्रामुख्यमें, चारित्राधिकार नामका आठवाँ ध्यात्वा अधिकार समाप्त हुआ ॥८॥

## चूलिकाधिकार

मुक्तात्मा दर्शन-ज्ञान-स्वभावको लिये सदा आनन्दरूप रहता है

इष्टज्ञानस्वभावस्तु सदानन्दोऽस्ति निर्वृतः ।  
न चैतन्य-स्वभावस्य नाशो नाश-प्रसङ्गतः ॥१॥

‘निर्वृतिको—मुक्ति अथवा सिद्धिको—प्राप्त हुआ आत्मा दर्शन-ज्ञान-स्वभावको लिये हुए सदा आनन्दरूप रहता है। उसके ( दर्शन-ज्ञानरूप ) चैतन्य स्वभावका कभी भाव नहीं होता क्योंकि स्वभावका नाश माननेसे आत्माके ही नाशका प्रसंग उपस्थित होता है।’

ब्याह्या—पिछले अधिकारमें बर्णित सम्यक्त्वारित्रीकी पूर्णताको प्राप्त होकर जब यह जीव निर्वृत—मुक्त होता है—इसे कुछ करना शेष नहीं रहता—तब यह अपने दर्शन-ज्ञान स्वभावको लिये हुए सदा आनन्दरूपमें लिष्टता है। यदि कोई वैशेषिक मतकी मान्यताको लेकर यह कहे कि निर्वृत—मुक्त होनेपर बुद्धि आदि वैशेषिक-गुणोंका उच्छेद हो जानेसे चैतन्य स्वभावका नाश हो जाता है तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि चैतन्यस्वभावका स्वभाव होनेसे कभी नाश नहीं होता। यदि स्वभावका भी नाश माना जायेगा तो द्रव्यके नाशका ही प्रसंग उपस्थित होगा—उसका किसी भी प्रकारसे कहीं कोई अस्तित्व नहीं बन सकेगा, यह महान् दोष आयेगा। प्रत्येक वस्तु अपने अपने स्वभावके कारण अपना-अपना अलग अस्तित्व रखती है। दर्शनज्ञानरूप चैतन्य स्वभावके कारण आत्मा भी अपना अलग अस्तित्व रखता है—उसका कभी नाश नहीं होता।

मुक्तात्माका चैतन्य निरर्थक नहीं  
सर्वथा ज्ञायते तस्य न चैतन्यं निरर्थकम् ।  
स्वभावत्वेऽस्वभावत्वे विचारानुपपत्तिः ॥२॥

‘मुक्तात्माका चैतन्य सर्वथा निरर्थक भी ज्ञात नहीं होता; क्योंकि निरर्थकको स्वभाव या अस्वभाव माननेपर चैतन्यकी निरर्थकताका विचार नहीं बनता।’

ब्याह्या—मुक्तात्माके चैतन्यको जो सांख्यमतानुयायी सर्वथा निरर्थक बतलाते हैं—यह कहते हैं कि वह चैतन्य ज्ञेयके ज्ञानसे रहित होता है—उसका निषेध करते हुए यहाँ दो विकल्प उपस्थित किये गये हैं—आत्माका चैतन्य निरर्थक स्वभावरूप है या निरर्थक स्वभावरूप नहीं है? इन दोनोंमेंसे किसीकी भी मान्यतापर निरर्थकताका विचार नहीं बनता, ऐसा सूचित किया गया है। आत्माका चैतन्य निरर्थक स्वभावरूप नहीं है, इस द्वितीय विकल्पकी मान्यतासे तो चैतन्यकी स्वभावसे सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है और इसलिए आपत्तिके लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। शेष आत्माका चैतन्य निरर्थक स्वभाव-रूप है ऐसा प्रथम विकल्प माननेपर आत्माके चैतन्यको निरर्थक बतलानेरूप विचार कैसे संगत नहीं बैठता इसको अगले दो पद्धोंमें स्पष्ट किया गया है।

चैतन्यको आत्माका निरर्थक स्वभाव माननेपर दोषापति

निरर्थक-स्वभावत्वे ज्ञानभावानुषङ्गतः ।

न ज्ञानं प्रकृतेर्थमश्चेतनत्वानुपङ्गतः ॥३॥

प्रकृतेर्थेतनत्वे स्यादात्मत्वं दुर्निवारणम् ।

ज्ञानात्मकत्वे चैतन्ये निरर्थक्यं न युज्यते ॥४॥

‘यदि चैतन्यको आत्माका निरर्थक स्वभाव माना जाय—सार्थक स्वभाव न मानकर प्रकृतिजनित विभाव स्वीकार किया जाय—तो प्रकृतिके ज्ञानत्वका प्रसंग उपस्थित होता है और ज्ञान प्रकृतिका धर्म है नहीं; क्योंकि ज्ञानको प्रकृतिका धर्म माननेपर प्रकृतिके चेतनत्वका प्रसंग उपस्थित होता है। और प्रकृतिके पदि चैतन्यत्व माना जाये तो आत्मत्व मानना भी अवश्यं-भावी होगा। अतः चैतन्यके ज्ञानहातक होनेपर उसके निरर्थकपना नहीं बनता।’

**ब्याख्या**—पिछले पद्यमें चैतन्यके निरर्थक न होनेकी जो बात कही गयी है उसीका इन दोनों पद्योंमें निरर्थक स्वभाव नामके विकल्पको लेकर स्पष्टीकरण किया गया है। चैतन्य-को आत्माका निरर्थक स्वभाव माननेका अर्थ यह होता है कि चैतन्य आत्माका सार्थक ( स्वकीय ) स्वभाव न होकर उसका विभाव परिणाम है। कोई भी विभाव परिणाम परके निमित्त बिना नहीं होता। आत्माके विभाव परिणामका कारण पौद्यगलिक कर्म होता है, जिसे प्रकृति भी कहते हैं। विभाव परिणाम जब चैतन्यरूप है तब उसकी जननी प्रकृति भी ज्ञानरूप ठहरती है। परन्तु ज्ञान प्रकृतिका धर्म नहीं है। उसे प्रकृतिका धर्म माननेपर प्रकृति-के चेतनपनेका प्रसंग उपस्थित होता है, जिसे साध्यमतावलम्बियोंने भी माना नहीं। यदि प्रकृतिके चेतनधर्मका सद्ग्राध माना जायेगा तो उसको आत्मा ( पुरुष ) मानना अनिवार्य हो जायेगा; क्योंकि साध्योंने पुरुष आत्माको चेतन रूपमें स्वीकार किया है और प्रकृतिको जड़रूपमें। इस मान्यतासे उनके मतमें विरोध उपस्थित होगा। अतः चैतन्यके स्वभावसे ज्ञानरूप होनेपर निरर्थकपना कुछ नहीं बनता। ज्ञान आत्माका स्वभाव होनेसे उसमें निरर्थकपनेकी संगति नहीं बैठती। ऐसी स्थितिमें साध्योंकी उक्त मान्यता सदोष ठहरती है।

सत्का अभाव न होनेसे मुक्तिमें आत्माका अभाव नहीं बनता

नाभावो मुक्त्यवस्थायामात्मनो घटते ततः ३ ।

विद्यमानस्य भवस्य नाभावो युज्यते यतः ४ ॥५॥

‘चूंकि विद्यमान भावका—सत्का—( कभी ) अभाव नहीं होता हस्तिए मुक्तिअवस्थामें आत्माका अभाव ( भी ) घटित नहीं होता।’

**ब्याख्या**—जो लोग चौद्धमान्यताके अनुसार मुक्ति अवस्थामें आत्माका प्रदीप निर्माणके समान अभाव मानते हैं उन्हें लक्ष्य करके यहाँ कहा गया है कि मुक्ति अवस्थामें आत्माका अभाव नहीं होता; क्योंकि आत्मा सत्त्वरूप है, जो वस्तु समरूप होती है उसका कभी नाश नहीं होता<sup>१</sup>—मले ही उसकी पर्यायोंमें परिवर्तन होता रहे।

१. मु प्रकृतेर्थेतनत्वं । २. मु ज्ञानात्मकेन । ३. आ, इया घटते यतः । ४. आ, इया युज्यते यतः ।

५. नैवास्तो जन्म सतो न नाशः ।—८मन्तम् ।

चन्द्रकान्ति और मेघके उदाहरण-द्वारा विषयका स्पष्टीकरण

यथा चन्द्रे स्थिता कान्तिनिर्मले निर्मला सदा ।  
 एकुतिविंश्तिस्त्रय मेघादिजनितावृतिः ॥६॥  
 तथात्मनि स्थिता ज्ञभिर्विशदे विशदा सदा ।  
 प्रकृतिविंश्तिस्त्रय कर्माष्टककुतावृतिः ॥७॥  
 जीमूतापगमे चन्द्रे यथा स्फुटति चन्द्रिका ।  
 दुरितापगमे शुद्धा तथैव ज्ञसिरात्मनि ॥८॥

‘जिस प्रकार निर्मल चन्द्रमा में निर्मल कान्ति सबा स्थित रहती है, उसकी प्रकृति जो विकृति रूप होती है अथवा उसके निर्मल स्वभावमें जो विकार उत्पन्न होता है उसका कारण मेघादिजनित आवृति—आवरण है, उसी प्रकार निर्मल आत्मा में निर्मल ज्ञान—ज्ञान उयोति—सदा स्थित रहती है, उसकी प्रकृति जो विकृतिरूप होती है अथवा उसके निर्मल स्वभावमें विभाव परिणमनरूप जो विकार उत्पन्न होता है उसका कारण आठ कर्मोंकी की हुई आवृति है। मेघोंके विघटित हो जानेपर जिस प्रकार चन्द्रमा में आदितो स्फुटित होती है उसी प्रकार कर्मोंकी हूर हो जानेपर आत्मा में शुद्ध जप्ति—ज्ञान उयोति—स्फुटित होती है।’

व्याख्या—इन तीनों पदोंमें चन्द्रमा और मेघके उदाहरण-द्वारा यह स्पष्ट करके बतलाया है कि वस्तुका जो स्वभाव है उसका कभी अभाव नहीं होता—परके निमित्तसे न्यूनाधिकरूपमें तिरोभाव अथवा विभाव परिणमन जरूर हो जाता है, परका सम्बन्ध मिटानेपर वस्तु अपने असली स्वभावमें प्रकट हो जाती है। यह विभाव-परिणमन जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें ही होता है, जिनमें वैभाविकी शक्ति पायी जाती है—अन्य द्रव्योंमें नहीं। मेघरूप परिणत हुए पुद्गल परमाणु जिस प्रकार निर्मल चन्द्रमाकी चौदृगतीमें विकार उत्पन्न करते हैं—उसे अपने असलीरूपमें प्रस्फुटित होने नहीं देते उसी प्रकार अष्टकमरूप परिणत हुए पुद्गल परमाणु आत्माकी शुद्ध चैतनामें विकार उत्पन्न करते हैं—उसे अपने असलीरूपमें प्रकट होने नहीं देते। मेघोंके पूर्णतः विघटित होनेपर निर्मल चन्द्रिका (चौदृगती) की जैसी स्थिति होती है जैसी ही स्थिति शुद्धात्मज्ञयोतिकी कर्मोंकी पूर्णतः विलय होनेपर होती है—अर्थात् वह अपने शुद्ध स्वरूपमें पूर्णतः विकसित हो जाती है।

आत्मापर छाये कर्मोंकी योगी कैसे क्षण-भरमें धुन डालता है  
 धुनाति क्षणतो योगी कर्मविरणमात्मनि ।  
 मेघस्तोममिवादित्ये पवमानो महावलः ॥९॥

‘आत्माके ऊपर आये हुए कर्मोंके आवरणको योगी उसी प्रकार क्षण-भरमें धुन डालता है जिस प्रकार कि तीव्र गतिसे चलनेवाला महाबलवान् पवन सूर्यपर आये हुए मेघ समूहको क्षण-भरमें भगा देता है।’

व्याख्या—यहाँ उस योगीके योग-माहात्म्यको दर्शाया गया है जो आत्माके ऊपर छाये हुए कर्म पदलोंको क्षणमात्रमें धुन डालता है। उस योगीकी शक्ति तीव्र वेगसे चलनेवाले उस प्रचण्ड पवनके समान होती है जो सूर्यके ऊपर छाये हुए वादलोंको क्षणमात्रमें छिन्न-भिन्न कर डालता है।

योगीके योगका लक्षण

विविक्तात्म-परिज्ञानं योगात्संजायते यतः ।  
स योगो योगिभिर्गतिं योगनिर्धृत-पातकैः ॥१०॥

जिस योगसे—ध्यानसे—कर्म कलंक विमुक्त आत्माका परिज्ञान होता है वह उन योगियों-के द्वारा 'योग' कहा गया है जिन्होंने योग ब्रह्मसे पातकोंका—ज्ञातिया कर्मोंका—नाश किया है ।'

**व्याख्या**—जिस योगके माहात्म्यका पिछले पदमें उल्लेख है, उसका लक्षण इस पदमें दिया गया है और वह यह है कि जिस योगसे—ध्यान ब्रह्मसे—आत्माको अपने स्वभाव-स्थित असलीरूपमें जाना जा सके उसे 'योग' कहते हैं, जो कि ध्यानका पर्याय-बाचक है । योगका यह लक्षण उन योगियोंके द्वारा कहा गया है जिन्होंने योग-ब्रह्मसे ज्ञानावरणादि ज्ञातिया कर्मोंका, जो कि सब पापरूप हैं, पूर्णतः विनाश किया है । इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि योग शुद्धात्माका परिज्ञायक ही नहीं किन्तु आत्माके ऊपर ध्यान और उसके स्वरूपको आच्छादन करनेवाले कर्मपटलोंका उच्छेदक भी है ।

योगसे उत्पन्न सुखको विविषिता

निरस्त-मन्मथात्कृं योगञ्जं सुखमुत्तमम् ।  
शमात्मकं स्थिरं स्वस्थं जन्ममृत्युजरापदम् ॥११॥

'जो योगसे—ध्यानजन्य-विविक्तात्म परिज्ञानसे—उत्पन्न हुआ सुख है वह उत्तम सुख है; ( कर्मोंकि ) वह कामदेवके आलंकसे—विषय वासनाकी पीड़ासे—रहित है, शान्तिस्वरूप है, निराकुलतामय है, स्थिर है—अविनाशी है—स्वात्मामें स्थित है—कहीं बाहरसे नहीं आता, न पराश्रित है—और जन्म भरा तथा मृत्युका विनाशक है अथवा तज्जन्य हुखसे रहित है ।'

**व्याख्या**—जिस योगका पिछले पदमें उल्लेख है वह स्वात्माका परिज्ञायक और पातकों-का उच्छेदक होनेके कारण जिस सुखका जनक है उसके यहाँ उत्तमादि छह विशेषण दिये गये हैं, जो सब उसकी निराकुलता, स्वाधीनता और उन्हेषुताके ज्ञोतक हैं ।

सुख-हुखका संभिम लक्षण

सर्वे परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।  
वदन्तीति समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः ॥१२॥

'जो पराधीन है वह सब हुख है और जो स्वाधीन है वह सब सुख है' इस प्रकार ( विश-पुरुप ) संक्षेपसे सुख-हुखका लक्षण कहते हैं ।'

**व्याख्या**—यहाँ संक्षेपसे सुख और हुख दोनोंके व्यापक लक्षणोंका उल्लेख किया गया है, जिनसे वास्तविक सुख-हुखको सहज ही परखा-पहचाना जा सकता है । जिस सुखकी प्राप्तिमें धोड़ी-सी भी पराधीनता—परकी अपेक्षा—है वह वास्तवमें सुख न होकर हुख ही है और जिसकी प्राप्तिमें कोई पराधीनता—परकी अपेक्षा नहीं, सब कुछ स्वाधीन है, वही सच्चा सुख है । अतः जो इन्द्रियाश्रित भोगोंकी सुखदायी समझते हैं, वे अन्तमें सन्तापको ही प्राप्त होते हैं—सच्चा तथा वास्तविक सुख उन्हें नहीं मिल पाता ।

उक्त लक्षणकी दृष्टिसे पुण्यजन्य भोगों और योगजन्य ज्ञानकी स्थिति

ततः पुण्यभवा भोगा दुःखं परवशत्वतः ।  
सुखं योगभवं ज्ञानं स्वरूपं स्ववशत्वतः ॥१३॥

‘चूंकि जो पराधीन है वह सब दुःख है । अतः जो पुण्यसे उत्पन्न हुए भोग हैं वे परवश ( पराश्रित ) होनेके कारण दुःखरूप हैं । और योगसे उत्पन्न हुआ जो ज्ञान—विचिकात्म परिज्ञान—है वह स्वाधीन होनेके कारण सुखरूप अपना रूपरूप है ।’

**ध्यात्वा**—सुख-दुःखके उक्त लक्षणोंकी दृष्टिसे यहाँ पुण्यसे उत्पन्न होनेवाले भोगोंको भी दुःखरूप बतलाया है; क्योंकि वे पुण्योदयके आश्रित हैं—पराधीन हैं—और स्वकीय ध्यान-बलसे उत्पन्न होनेवाले शुद्धात्मज्ञानको सुखरूप बतलाया है; क्योंकि वह स्वाधीन है और अपना स्वभाव है ।

निर्मल ज्ञान स्थिर होनेपर ध्यान हो जाता है

ध्यानं विनिर्मलज्ञानं पुंसा संपदते स्थिरम् ।  
‘हेमकीणमलं किं न कल्याणत्वं प्रपदते ॥१४॥

**पुरुषोंका**—मानवोंका—निर्मल ज्ञान जब स्थिर होता है तो वह ‘ध्यान’ हो जाता है । (ठीक है ) किटू-कालिमादिरूप बलसे रहित हुआ सुवर्णं क्या कल्याणरूपको प्राप्त नहीं होता ?—होता ही है, उस शुद्ध सुवर्णको ‘कल्याण’ नामसे पुकारा जाता है ।

**ध्यात्वा**—यहाँ योगका ध्यान शब्दसे उल्लेख करते हुए लिखा है कि जब निर्मलज्ञान स्थिर होता है तब वह ‘ध्यान’ कहलाता है; उसी प्रकार जिस प्रकार कि सुवर्णं जब भलरहित होता है तो ‘कल्याण’ नामको प्राप्त होता है । निर्मल ज्ञान भी ध्यानरूपमें स्थिर होकर कल्याणकारी होता है ।

भोगका रूप और उसे स्थिर-वास्तविक समझनेवाले  
गन्धर्वनगराकारं विनश्वरमवास्तवम् ।  
स्थावरं वास्तवं भोगं दुध्यन्ते मुख्यमुद्ययः ॥१५॥

‘जो मूढ़बुद्धि है—जिन्हें वस्तुस्वरूपका ठीक परिज्ञान नहीं—वे गन्धर्वनगरके आकार समान विनाशीक और अवास्तविक भोगसमूहको स्थिर और वास्तविक समझते हैं ।’

**ध्यात्वा**—जिन पुण्योत्पन्न भोगोंका १३वें पद्ममें उल्लेख है वे आकाशमें रंग-विरंगे बादलोंसे स्वतः बने गन्धर्वनगरके समान विनश्वर और अवास्तविक हैं उन्हें मूढ़ बुद्धि स्थिर और वास्तविक समझते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है । यहाँ प्रत्यक्षमें नित्य दिखाई देनेवाले बादलोंके आकारकी क्षणभंगुरताकी ओर संकेत करके भोगोंकी अस्थिरता और निःसारताको उसके समकाल दर्शाया गया है और जो लोग भ्रमवश विषयभोगोंको ऐसा नहीं समझते उन्हें मोहसे दूषितमति सूचित किया है ।

१. सु हैम् । २. मु बृध्यते ।

यह संसार, आत्माका महान् रोग  
 चित्तभ्रमकरस्तीव्ररागद्वेषादिवेदनः ।  
 संसारोऽर्थं महाब्याधिर्नानाजन्मादिविक्रियः ॥१६॥  
 'अनादिरात्मनोऽमुख्यो भूरिकर्मनिदानकः ।  
 यथानुभवसिद्धात्मा सर्वप्राणभृतामयम् ॥१७॥

‘यह संसार जो चित्तको भ्रम उत्पन्न करनेवाला, राग-द्वेषादिविक्रियासे युक्त है वह आत्माका महान् रोग है, आत्माके साथ अनादिस्मद्बन्धको प्राप्त है, अप्रवान है, बहुत कर्मसे बन्धका कर्ता है और सर्व प्राणियोंका यथा अनुभव सिद्ध ( पर्यायरूप ) आत्मा बना है।’

**व्याख्या**—यहाँ संसारको, जो मुख्यतः भवभ्रमणके रूपमें है, आत्माका एक बहुत बड़ा रोग बतलाया है, जो अनादिकालसे उसके साथ लगा हुआ है, राग-द्वेष-काम-क्रोधादि रूप तीव्र वेदनाओंको लिये हुए है, चित्तको भ्रमरूप करनेवाला है, नानाप्रकार जन्म-मरणादि विक्रियाओंके रूपको लिये हुए है और सर्व प्राणियोंके लिए अतिशय बन्धका कारण है। ऐसा संसारका रूप दिखलाकर यहाँ फलतः उससे विरक्ति अथवा उसमें आसक्त न होनेकी प्रेरणा की गयी है।

सर्वं संसार-विकारोंका अभाव होनेपर मुक्त जीवकी स्थिति  
 सर्वजन्मविकाराणामभावे तस्य तस्वतः ।  
 न मुक्तो जायते ऽमुक्तोऽमुख्योऽज्ञानमयस्तथा ॥१८॥

‘आत्माके बलनुतः सर्वं संसार विकारोंका अभाव हो जानेपर जो मुक्त होता है वह फिर कभी अमुक्त—संसार पर्यायका धारक संसारी—नहीं होता, न साधारण प्राणी बनता है और न ज्ञानरूप परिणत ही होता है।’

**व्याख्या**—जिस संसारी आत्माका पिछले दो पद्योंमें उल्लेख है उसके सम्पूर्ण भव-विकारोंका जब अभाव हो जाता है तब वह मुक्त हो जाता है, जो मुक्त हो जाता है वह फिर कभी संसारी साधारण प्राणी तथा अज्ञानी नहीं होता। दूसरे शब्दोंमें यों कहिए कि वह पुनः शरीर धारण कर संसारमें नहीं आता। इससे मुक्तात्माके अचतारवादका निषेध होता है, इसलिए जिनके विषयमें यह कहा जाता है कि उन्होंने अमुक कार्य-सिद्धिके लिए अथवा अपने भक्तका कष्टमोचन करनेके लिए पृथ्वीपर अववार धारण किया है उनके विषयमें यह समझ लेना चाहिए कि उन्होंने अभी तक मुक्तिको प्राप्त नहीं किया—मुक्तिको प्राप्त हो जाने पर कारण भावसे पुनः संसारमें अवतार नहीं बनता।

उदाहरण-द्वारा पूर्व कथनका समर्थन  
 यथेदामयमुक्तस्य नामयः स्वस्थता परम् ।  
 तथा पातकमुक्तस्य न भवः स्वस्थता परम् ॥१९॥

‘जिस प्रकार इस लोकमें जो रोगसे मुक्त हो गया उसके रोग नहीं रहता, परम स्वस्थता हो जाती है उसी प्रकार जो कर्मसे मुक्त हो गया उसके भव—संसार नहीं रहता, परम स्वस्थता हो जाती है।’

१. आ अनादि; भाद्रि अनादि ।

**व्याख्या**—यहाँ पिछली बातको एक उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार रोगसे सर्वथा मुक्त रोगीके रोग नहीं रहता, परम नीरोगताकी प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार जो पाणादि कर्मोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है उसके फिर परन्यर्याय-प्रहृणरूप संसार नहीं रहता अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामें ही सदा स्थिरता बनी रहती है।

किसके भोग संसारका कारण नहीं होते

**शुद्धज्ञाने मनो नित्यं कार्येऽन्यत्र विशेषिते ।  
यस्य तस्याग्रहाभावान् न भोगा भवेत्वः ॥२०॥**

‘जिसका मन सदा शुद्धज्ञानमें रहा रहता है, अन्य किसी कार्यमें जिसकी कोई प्रवृत्ति नहीं होती उसके भोग आसक्तिके अभावमें लंसारका कारण नहीं होते।’

**व्याख्या**—किसके भोग क्यों बन्धका कारण नहीं होते, इस बातको यहाँ दर्शाते हुए बतलाया गया है कि जिस योगीका मन सदा शुद्धज्ञानके आराधनमें लीन रहता है, अन्य किसी कार्यके करनेमें जिसकी कोई विशेष रुचि नहीं होती, उसके सामान्यतः आहार-प्रहृणादि रूप भोग आसक्तिके कारण संसारके हेतुमूल बन्धके कारण नहीं होते—प्रत्युत इसके निर्जराके कारण बनते हैं।

भोगोंको भोगता हुआ भी कौन परमपदको प्राप्त होता है  
**मायाम्भो मन्यतेऽसत्यं तत्त्वतो यो महामनाः ।  
अनुद्विग्नो निराशङ्कस्तन्मध्ये स न गच्छति ॥२१॥  
मायातोयोपमा भोगा दृश्यन्ते येन वस्तुतः ।  
स शुद्धानोऽपि निःसङ्गः प्रयाति परमं पदम् ॥२२॥**

**जो महात्मा मायाजलको—मृगमरीचिकाको—वस्तुतः असत्य समझता है वह उसके प्रति उद्विग्न आकुलित तथा शंकित नहीं होता और इसीलिए उसमें नहीं फैसता। जिसे भोग वास्तवमें मायाजलके समान विलास देते हैं वह महात्मा उन्हें भोगता हुआ भी ( आसक्तिके अभावसे ) निःसंग है और परमपदको प्राप्त होता है।’**

**व्याख्या**—शुद्ध ज्ञान-चर्योरत ज्ञानीके भोगबन्धके कारण नहीं, इस पिछली बातको एक उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करते हुए यहाँ बतलाया गया है कि जिस प्रकार कोई महात्मा पुरुष जो मृगमरीचिकाकी वास्तवमें मिथ्या समझता है वह कभी उसके विषयमें शंकित तथा उसकी प्राप्तिके लिए आकुलित नहीं होता और इसलिए उसमें प्रवेश नहीं करता। उसी प्रकार जो महात्मा योगी भोगोंको वस्तुतः मायाजलके रूपमें देखता है वह उनको भोगता हुआ भी निःसंग होता है—जलमें कमलकी तरह अलित रहता है—और इसलिए बन्धको प्राप्त न होनेसे परमपदको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

भोगोंको तत्त्वदृष्टिसे देखनेवालेकी स्थिति

**भोगास्तस्वधिया पश्यन् नाभ्येति भवसागरम् ।  
मायाम्भो जानतासत्यं गम्यते तेन नाध्यना ॥२३॥**

‘भोगोंको तत्त्वदृष्टिसे देखता हुआ भवसागरको प्राप्त नहीं होता। ( ठीक है ) मायाजलको असत्य जलके रूपमें जानता हुआ उस मार्गसे नहीं जाता।’

**व्याख्या**—जिस प्रकार मायाजल ( मृगमरीचिका ) को उसके असली रूपको जानने वाला और उसे सत्य जल न समझनेवाला उसकी प्राप्तिके लिए उधर शीढ़-भूप नहीं करता, उसी प्रकार भोगोंको तास्त्वकहाँसिसे देखने वाला उनमें आसक्त नहीं होता और इसलिये संसारसागरमें पढ़कर गोते नहीं खादा...दुःख नहीं बढ़ाता । विषद-भोगोंकी तास्त्वकहाँसिसे न देखना ही उनमें आसक्तिका कारण बनता है और वह आसक्ति आसक्तको भव-भवमें रुलाती तथा कष्ट पहुँचाती है ।

योग-मायासे विमोहित जीवकी स्थिति  
स तिष्ठति भयोद्विग्नो यथा तत्रैव शक्तिः ।  
तथा निर्वृतिमार्गेऽपि योगमायाविमोहितः ॥२४॥

‘जिस प्रकार मायाजलमें शंकित प्राणी भवसे उद्विग्न हुआ तिष्ठता है उसी प्रकार योग-मायासे विमोहित हुआ—भोगोंके ठीक स्वरूपको न समझ कर—जीव मुक्तिमार्गमें शंकित हुआ प्रवतंता है ।

**व्याख्या**—जिस प्रकार मायाजलके सत्य स्वरूपको न समझनेवाला प्राणी शंकितचित्त हुआ उस ओर जलके फैलावकी आशंकासे जानेमें भयाकुल होता है उसी प्रकार जो जीव भोगोंकी मायासे विमोहित हुआ उनके सत्य स्वरूपको नहीं समझता वह निर्वृतिके मार्गमें—भोगोंसे विरक्तिके पन्थमें—निःशंक प्रवृत्ति नहीं करता । उसे उस मार्गपर चलनेमें भय बना रहता है ।

धर्मसे उत्पन्न योग भी दुःख-परम्पराका बात  
धर्मतोऽपि भवो भोगो दत्ते दुःख-परम्पराम् ।  
चन्द्रनादपि संपन्नः पावकः एलोषते न किम् ॥२५॥

‘धर्मसे भी उत्पन्न हुआ योग दुःख-परम्पराको बता है । ( ठोक है ) चन्द्रनसे भी उत्पन्न हुई अग्नि क्या जलाती नहों हैं ? जलाती ही है ।’

**व्याख्या**—धर्मकी साधना करते हुए शुभ परिणामोंके बड़ा जो पुण्योपार्जन होता है उस पुण्यकर्मके उद्यसे मिला हुआ योग भी दुःख-परम्पराका कारण है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि अत्यन्त शीतल स्वभाव चन्द्रनसे उत्पन्न हुई अग्नि भी जलानेके कार्यसे नहीं चूकती । अतः पुण्यसे उत्पन्न हुए भोगोंको भी दाहक-स्वभाव अग्निके समान दुःखकर समझना चाहिए । एक कविने रागको आगकी उपमा देते हुए वही सुन्दर रूपमें लिखा है :—

यह राग आग दहे निरस्तर, यहाँ समाप्ति पीजिए ।  
चिर भजे विषय-कषाय, अब तो त्याग इनको दीजिए ॥

विवेकी विद्वानोंको दृष्टिमें लक्ष्मी और योग  
विपत्सस्त्री यथा लक्ष्मीनर्तनन्दाय विषयिताम् ।  
न कल्मणसखो भोगस्तथा भवति शर्मणे ॥२६॥

‘जिस प्रकार विषदा जिसको सखी-सहेली है वह लक्ष्मी विद्वानोंके लिए आनन्दप्रदायक नहीं होती उसी प्रकार कल्मण—कर्ममल—जिसका साथी है वह योग विद्वानोंके लिए सुखकारी नहीं होता ।’

**व्याख्या**—जिस लक्ष्मी ( धन-दौलत ) के रागमें लोग विन-रात फँसे रहते हैं, उसे यहाँ विपदाकी सहेली बतलाया है। अनेक प्रकारकी आपदाएँ-मुसीबतें उसके साथ लगी रहती हैं— और इसलिए जो तत्त्वके जानकार वास्तविक विद्वान् हैं उनके लिए वह लक्ष्मी आनन्दकी कोई बस्तु नहीं होती—मजबूरीको अपनी अशक्ति तथा कमजोरीके कारण अथवा दूसरे कुछ बड़े कष्टोंसे बचनेके लिए उसका सेवन किया जाता है। उसी प्रकार ( आसक्तिपूर्वक ) भोग भी जिसका साथी कलादृष्टि—कलाशाद्येः वापाकल कर्त्तव्य दै—बह उक्त विद्वानोंके लिए सुखका कारण नहीं होता—आसक्तिके कारण मजबूरीसे तत्कालीन वेदनाकी शान्तिके लिए होता है—वे अपनी तास्त्रिक एवं अभोग दृष्टिसे उसे हितकारी नहीं समझते।

भोग-संसारसे सञ्चा वैराग्य कब उत्पन्न होता है  
भोग-संसार-निर्वेदो जायते पारमार्थिकः ।  
सम्यग्वान-प्रदीपेन तस्मैरुण्यावलोकने ॥२७॥

‘भोग और संसारसे वैराग्यका होना तभी पारमार्थिक बनता है जब सम्यग्वानरूप प्रदीपक- से उनमें निर्गुणताका अवलोकन किया जाता है।’

**व्याख्या**—भोगोंसे और संसारसे सञ्चा वैराग्य कब होता है, इस बातको बतलाते हुए यहाँ यह स्पष्ट घोषणा की गयी है कि ‘जब सम्यग्वानरूप दीपकसे भोगों तथा संसारकी निर्गुणता—निःसारता स्पष्ट दिखलाई देती है तब उनसे पारमार्थिक वैराग्य उत्पन्न होता है— उक्त निर्गुणताके दर्शन बिना सञ्चा वैराग्य नहीं बनता, बनावटी तथा तुमायशी बना रहता है। इसीसे कितने ही भावुकतादियें आकर ब्रह्मचारी तो बनते हैं। परन्तु उनसे ब्रह्मचर्यका पूरी तौरसे पालन नहीं हो पाता। जो नारीके कामाक्षको स्वामी समन्वयमध्यके शब्दोंमें मलयोज, मलयोनि, गलन्मल, पूतिगन्धि और बीमत्स इन पाँच विशेषणोंसे युक्त देखता, अनुभव करता और रमणके शोग्य नहीं समझता वह वस्तुतः कामसे—अश्वरूप मैथुनसे—घृणाकर—दिरक हांकर सञ्चा ब्रह्मचारी बनता है।’

निर्वाणमें परमा भक्ति और उसके लिए कर्तव्य

निर्वाणे परमा भक्तिः पश्यतस्तदुगुणं परम् ।  
चित्र-दुःखमहाबीजे नष्टे सति विपर्यये ॥२८॥  
शानवन्तः सदा वायप्रत्यारूप्यान-विशारदाः ।  
ततस्तस्य परित्यागं कुर्वते<sup>३</sup> परमार्थितः ॥२९॥

‘सम्यग्वानके विषयी तथा नाना दुःखोंके बीजभूत मिथ्याज्ञानके नष्ट होनेपर निर्वाणमें, उसके उत्कृष्ट गुण समूहको देखते हुए, परमा भक्ति होती है। अतः जो ( आत्मासे भिन्न ) बाह्य पदार्थके त्यागमें प्रबोध ज्ञानीजन हैं वे उस मिथ्याज्ञानका पारमार्थिक दृष्टिसे त्याग करते हैं— क्योंकि वह भी वस्तुतः आत्मासे भिन्न पदार्थ है।

**व्याख्या**—संसारके विषयीभूत निर्वाणमें उत्कृष्ट भक्ति तभी उत्पन्न होती है जब अनेकानेक दुःखोंके बीजभूत मिथ्याज्ञानके नष्ट होनेपर निर्वाणके गुणोंका सम्बन्ध अवलोकन

१. अर्थस्योपार्जने दुःखमजितस्य च रक्षणे । आये दुःखं व्यये दुःखं विग्रहं दुःखमाग्नम् ॥—इषोपदेश दीक्षामें उद्धृत । २. मलयोजं मलयोनि गलन्मलं पूतिगन्धि बीमत्सतो पश्यत्सङ्गमज्ञाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः— समीक्षीत शर्मशास्त्र १४३ । ३. इवा कुर्वन्ते ।

होता है। अतः निर्वाणके अभिलाषी ज्ञानीजनोंको जो वास्तविक पदार्थके परित्यागमें नियुण हैं—निश्चयपूर्वक मिश्याज्ञानका त्याग करना चाहिए, जो कि वस्तुतः आत्मासे वास्तविक पदार्थ है—मिश्यात्वके सम्बन्धसे विभावरूपमें उत्पन्न होता है।

ज्ञानी पापोंसे कैसे लिप्त नहीं होता  
न ज्ञानी लिप्यते एवैरर्द्धुनासिद्ध इत्यहैः ।  
विषयैर्विद्यते ज्ञानी न संनद्धः शरैरिष ॥३०॥

‘ज्ञानी पापोंसे उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार सूर्य अन्धकारोंसे व्याप्त नहीं होता। ज्ञानी विषयोंसे उसी प्रकार नहीं बंधता है जिस प्रकार कवच ( अञ्जल ) पहने हुए योद्धा बाणोंसे नहीं बिधता है।’

**व्याख्या**—यहाँ उस ज्ञानीकी, जिसने भोग, संसार तथा निर्वाणका यथार्थ स्वरूप भले प्रकार समझ लिया है, स्थितिका वर्णन करते हुए लिखा है कि वह पापोंसे उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार कि सूर्य अन्धकारसे, और विषयोंसे उसी प्रकार बीधा नहीं जाता जिस प्रकार कि कवचधारी योद्धा तीरोंसे बीधा नहीं जाता।

ज्ञानकी महिमाका कीर्तन  
अनुष्टुपानास्पदं ज्ञानं ज्ञानं मोहतमोऽपहम् ।  
पुरुषार्थकरं ज्ञानं ज्ञानं निर्वृति-साधनम् ॥३१॥

‘सम्यज्ञान क्रिया कर्मके अनुष्टुपानका आधार है, मोहत्म्यकारको नाश करनेवाला है, पुरुषके प्रयोजनको पूरा करनेवाला है और मोक्षका साधन है।’

**व्याख्या**—जिस ज्ञानीका पिछले पद्ममें उल्लेख है उसके ज्ञानकी महिमाका इस पद्ममें कुछ कीर्तन करते हुए उसे चार विशेषणोंसे युक्त बतलाया है, जिनमें एक है अनुष्टुपानोंका आश्रय, आधार, दूसरा मोहत्म्यकारका नाश, तीसरा पुरुषके प्रयोजनका पूरक और चौथा है मुक्तिका साधन। ये सब विशेषण अपने अर्थकी स्पष्टताको लिये हुए हैं।

कीन तत्त्व किसके द्वारा वस्तुतः चिन्तनके योग्य है  
विकारा निर्विकारत्वं यत्र गच्छन्ति चिन्तिते ।  
तत् तत्त्वं तत्त्वतश्चिन्त्यं चिन्तान्तर-निराशिभिः ॥३२॥

‘जिसके चिन्तन करनेपर विकार निर्विकारताको प्राप्त हो जाते हैं वह तत्त्व वस्तुतः उनके द्वारा चिन्तनके योग्य है जो अन्य चिन्ताओंका निराकरण करनेमें समर्थ हैं—स्थिर चित्त हैं।’

**व्याख्या**—यहाँ वास्तवमें उस तत्त्वको चिन्तन एवं ज्ञानके योग्य बतलाया है जिसके चिन्तनसे विकार नहीं रहते—निर्विकारतामें परिणत हो जाते हैं अर्थात् राग-ह्रेष्य-मोहादि दोष मिटकर बीतरागताकी प्रादुर्भूति होती है। इस तत्त्वचिन्तनके अधिकारी वे योगी हैं जो चिन्तान्तरका निराकरण करनेमें समर्थ होते हैं—जिस तत्त्वका चिन्तन करते हैं वहसमें अपने मनको इतना एकाग्र कर लेते हैं कि दूसरी कोई भी चिन्ता पास फटकने नहीं पाती।

परम तत्त्व कोन और उससे भिन्न क्या

विविक्तमान्तरं ज्योतिर्निरावाधमनामयम् ।  
यदेतत् तत्परं तत्त्वं तस्यापरम्पद्रवः ॥३३॥

‘यह जो विविक्त—कर्म कलंकसे रहित—निर्भय और निरामय ( निर्विकार ) अन्तरंग ( अध्यात्म ) ज्योति है वह परम तत्त्व है, उससे भिन्न दूसरा और सब उपद्रव है।’

**व्याख्या**—यहाँ जिस शुद्ध आत्मज्योतिका उल्लेख है उसीको चिन्तन एवं ध्यानके ग्रन्थ परंतर बतलाया है। शेष सबको उपद्रव घोषित किया है; क्योंकि अन्तिम लक्ष्य और ध्येय इसी परंतर को प्राप्त करना है, इसकी प्राप्ति के लिए और सबको छोड़ना पड़ेगा। इसीसे अन्य सबको पारमाधिक दृष्टिसे ‘उपद्रव’ संझा दी गयी जान पड़ती है।

मुमुक्षुओंको किसी भी तन्त्रमें आपह नहीं करना  
न कुश्राण्याग्रहस्तत्वे विधातव्यो मुमुक्षुभिः ।  
निर्वाणं साध्यते यस्मात् समस्ताग्रहवर्जितैः ॥३४॥

‘ओ भोक्तके अभिलाषी हैं उन्हें ( अन्य ) किसी भी तत्त्वमें आपह नहीं करना चाहिए; क्योंकि जो समस्त आपहोंसे—एकान्त अभिनिवेशोंसे—वर्जित हैं उन्हींके द्वारा निर्वाण सिद्ध किया जाता है।’

**व्याख्या**—यहाँ मुमुक्षुओंको तत्त्वविषयमें कहीं भी आपह करनेका निषेध किया है; क्योंकि आपह एकान्तका योतक है, और वस्तु तत्त्व अनेकान्तात्मक है। निर्वाणकी प्राप्ति उन्हींको होती है जो सम्पूर्ण आपहोंसे रहित हो जाते हैं—लिंग जाति आदिका भी कोई आपह नहीं रहता। लिंग और जाति ये दोनों देहाधित हैं, और देह ही आत्माका संसार है। अतः जो मुक्तिकी प्राप्ति के लिए अमुक लिंग ( बेष ) तथा अमुक जातिका आपह रखते हैं अथवा अमुक जातिचाला अमुक वेष धारण करके मुक्तिको प्राप्त होता है, ऐसा जिनके आगमानुबन्धी आपह है वे संसारसे नहीं छूट पाते और न आत्माके परमपदको ही प्राप्त होते हैं; जैसा कि श्री पूज्यपाद आचार्यके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

लिङ्गं देहाधितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः ।  
न मुख्यन्ते भवात्स्माते पे लिङ्गकृताग्रहाः ॥८७॥  
जातिलिङ्गाधिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः ।  
न मुख्यन्ते भवात्स्माते पे जातिकृताग्रहाः ॥८८॥  
जातिलिङ्गाधिकल्पेन येषां च समयाग्रहः ।  
तेऽपि न प्राप्नुवस्थेव वर्त्मने पदमात्मनः ॥८९॥

### —समाधितन्त्र

आग्रहवर्जित तत्त्वमें कर्ता-कर्मादिका विकल्प नहीं  
कर्ताहं निर्वृतिः कृत्यं ज्ञानं हेतुः सुखं फलम् ।  
नैकोऽपि विद्यते तत्र विकल्पः कल्पनातिगे ॥३५॥

‘मैं कर्ता हूँ, निर्वाण कृत्य—कार्य है, ज्ञान हेतु हूँ और सुख उसका फल है, इनमें-से एक भी विकल्प उस कल्पनारहित एवं आग्रहवर्जित साधकमें नहीं होता है।’

**व्याख्या**—यहाँ समस्त आप्रह-वर्जनकी बातको स्पष्ट करते हुए यहाँतक लिखा है कि मुक्तिके उस निर्विकल्प साधकमें कर्ता, कार्य, कारण और फलका भी कोई विकल्प नहीं रहता। इनमेंसे एक भी विकल्पके रहनेपर मुक्तिकी साधना नहीं बनती। मुक्तिकी चरम साधनामें अपने अस्तित्वको भी मुलाकर उस परतस्वरूप अच्छात्म-क्योतिमें लीन हो जाना होता है जिससे बाह्य एवं भिन्न अन्य सबको पिछले एक पथ (३३) में ‘उपद्रव’ बतलाया गया है।

आरमस्थित कर्मवर्गणादैं कभी आत्मत्वको प्राप्त नहीं होती।

आत्म-व्यवस्थिता यान्ति नात्मत्वं कर्मवर्गणाः ।

व्योमरूपत्वमायान्ति व्योमस्थ्याः किञ्चु पुद्गलाः ॥३६॥

‘आत्मामें व्यवस्थित कर्मवर्गणादैं ( कभी ) आत्मत्वको प्राप्त नहीं होती—आत्मा नहीं बन जाती। ( ठीक है ) आकाशमें स्थित पुद्गल क्या कभी आकाशरूप हो जाते हैं—नहीं हो जाते ।’

**व्याख्या**—जिन कर्मोंका आत्मासे पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति होती है वे कर्म अनेक प्रकारकी वर्गणाओंके रूपमें आत्म-व्यवस्थित होते हुए भी कभी आत्मत्वको प्राप्त नहीं होते, इसकी सूचना करते हुए आकाशस्थित पुद्गलोंके उदाहरण-द्वारा उसे स्पष्ट किया गया है। आकाशमें स्थित पुद्गल जिस प्रकार कभी आकाश रूप नहीं परिणमते उसी प्रकार आत्माके साथ व्यवस्थित हुई कर्मवर्गणादैं भी कभी आत्मरूप परिणत नहीं होती।

कर्मजन्य स्थावर विकार आत्माके नहीं बनते

स्थावराः कर्मणाः सन्ति विकारास्तेऽपि नात्मनः ।

शश्वच्छुद्धस्वभावस्य' पूर्यस्येव घटादिजाः ॥३७॥

‘कर्मजन्य जो स्थावर विकार हैं वे भी आत्माके उसी प्रकार नहीं हैं जिस प्रकार मेवादि-जन्य विकार सदा शुद्ध स्वभावरूप सूर्यके नहीं हैं।’

**व्याख्या**—यदि कोई कहे कि आत्मामें जो स्थावर विकार हैं—पूर्वी-पर्वत-वृक्षादिके समान स्थिर रहनेवाले विकार हैं—उन्हें तो आत्माके स्वतः विकार समझना चाहिए। तो उसके समाधानार्थ यहाँ यह बतलाया गया है कि स्थावर विकार भी आत्माके नहीं हैं किन्तु कर्मजन्मित हैं और उन्हें शुद्ध स्वभावके धारक सूर्यके मेवादिजन्य विकारके समान समझना चाहिए।

जीवके रागादिक परिणामोंकी स्थिति

रागादयः परीणामाः कल्पयोपाधिसंभवाः ।

जीवस्य स्फटिकस्येव पूष्पोपाधिभवा भवाः ॥३८॥

‘जीवके जो रागादिक परिणाम होते हैं वे कल्पयरूप कर्ममलकी उपाधिसे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि स्फटिकके पुष्पोंकी उपाधिसे उत्पन्न नामा रंगादिरूप परिणाम होते हैं—इसीसे स्फटिकको ‘विश्वरूप माणिक’ कहा गया है।’

**व्याख्या**—यहाँ रागादि रूप दूसरे विकारोंको लिया गया है और उनके विषयमें बतलाया गया है कि वे भी जीवके चातुर्विक परिणाम नहीं हैं। किन्तु कवायरूप कल्सपकी उपाधिसे उत्पन्न स्फटिकके परिणामोंके समान समझना चाहिए, जो स्फटिकके चातुर्विक परिणाम नहीं होते ।

जीवके कषायादिक परिणामोंको स्थिति

**परिणामः कषायाद्या निमित्तीकृत्य चेतनाम् ।**  
**सृतिपश्चेव कुम्भाद्यो जन्मन्ते कारणामिलाः ॥३६॥**

‘जीवके कषायादिक जितमें परिणाम हैं वे सब चेतनाको निमित्तभूत करके कर्मके द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि कुम्भकारका निमित्त पाकर मिट्ठीके पिण्ड-द्वारा घटादिक उत्पन्न किये जाते हैं।’

**व्याख्या**—यहाँ कषायादि परिणामोंकी उत्पत्तिमें मूल कारण कर्मको और निमित्त कारण जीवकी चेतनाको बतलाया है, उसी प्रकार जिस प्रकार घटादिकी उत्पत्तिमें मूल ( उपादान ) कारण मिट्ठीका पिण्ड और निमित्त कारण कुम्भकार ( कुम्भार ) होता है।

कषाय परिणामोंका स्वरूप

**आत्मनो ये परीणामाः भलतः सन्ति कश्मलाः ।**  
**सलिलस्येव कल्लोलास्ते कषाया निवेदिताः ॥४०॥**

‘आत्माके जो परिणाम भलके निमित्तसे मलिन होते हैं वे जलकी कल्लोलोंकी तरह ‘कषाय’ कहे गये हैं।’

**व्याख्या**—जिन कषायोंका पिछले पदमें उल्लेख है उनका इस पदमें स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया गया है कि आत्माके जो परिणाम ( रागादि ) भलके निमित्तसे मलिन—क्लैले होते हैं उन्हें ‘कषाय’ कहते हैं। उनकी स्थिति जलमें कल्लोलोंके समान होती है।

कालुष्य और कर्ममें-से एकके नाश होनेपर दोनोंका नाश  
कालुष्याभावतोऽकर्म कालुष्यं कर्मतः पुनः ।  
एकनाशे द्वयोर्नाशः स्थाद् वीजाङ्गुरयोरिव ॥४१॥

‘कर्मसे ( आत्मामें ) कलुषकारी उत्पत्ति और कलुषताके अभावसे कर्मका अभाव होता है। बीज और अंकुरकी तरह एकका नाश होनेपर दोनोंका नाश बनता है।’

**व्याख्या**—जिस भलका पिछले पदमें उल्लेख है उसे यहाँ ‘कर्म’ बतलाया है, उसीसे कलुषताकी उत्पत्ति होती है, और कलुषताका अभाव होनेपर कर्म नहीं रहता, इससे यह नतीजा निकला कि कर्म और कलुषता इन दोनोंमें-से किसीका भी नाश होनेपर दोनोंका नाश हो जाता है; जैसे बीजका नाश होनेपर अंकुरोत्पत्ति नहीं बनती और अंकुरका नाश हो जानेपर उससे बीजोत्पत्ति घटित नहीं होती।

कलुषताका अभाव होनेपर परिणामी स्थिति

**यदास्ति कलुपा(रमण)मावो जीवस्य परिणामिनः ।**  
**परिणामास्तदा शुद्धाः स्वर्णस्येवोत्तरोत्तराः ॥४२॥**

‘जिस समय परिणामी जीवके कलुषताका अभाव होता है उस समय उसके परिणाम स्वर्णकी तरह उत्तरोत्तर शुद्ध होते चले जाते हैं।’

**व्याख्या**—यहाँ संसारी जीवको परिणामी—एक परिणामसे दूसरे परिणामरूप परिणामन करनेवाला—लिखा है। उस जीवके जब कलुषताका अभाव हो जाता है तो उसके परिणाम मल रहित सुवर्णके समान उत्तरोत्तर शुद्धतामें परिणत होते जाते हैं।

कलुषताका अभाव हो जानेपर जीवकी स्थिति  
कलमणामावतो जीवो निर्विकारो विनिश्चलः ।  
निर्वात-निष्टरङ्गाद्विभान्वं प्रपश्यते ॥४३॥

‘कलमणके अभावमें यह जीव वायु तथा तरंगसे रहित समुद्रके समान निर्विकार और निश्चल हो जाता है।’

**व्याख्या**—काषायादिरूप कलमण ( कालुष्य ) का अभाव हो जानेपर इस जीवकी स्थिति उस समुद्रके समान निर्विकार और निश्चल हो जाती है जिसमें वायुका संचार नहीं और न कोई कल्पोल-तरंग या लहर ही उठती है। आत्माकी ऐसी अवस्थाको ही ‘निर्विकल्पदशा’ कहते हैं, जिसमें ध्यान, ध्याता, ध्येय आदि तकका कोई विकल्प नहीं रहता।

आत्माके शुद्ध स्वरूपकी कुछ सूचना  
अज्ञ-ज्ञानार्थतो भिन्नं यदन्तरवभासते ।  
तद्रूपात्मनो ज्ञात्रज्ञातव्यमविपर्ययम् ॥४४॥

‘इन्द्रियज्ञानके विषयसे भिन्न जो अन्तरंगमें अवभासित होता है वह ज्ञाताके गम्य आत्माका अभ्यान्तर रूप है।’

**व्याख्या**—यहाँ आत्माके उस शुद्धरूपकी जो कभी विपरीतताको प्राप्त नहीं होता कुछ सूचना करते हुए लिखा है वह इन्द्रियज्ञानके विषयसे भिन्न है—किसी भी इन्द्रियके द्वारा जाना नहीं जाता—आत्माके अन्तरंगमें अवभासमान है और ज्ञाता आत्माके द्वारा ही जाना जाता है। इसीसे स्वसंवेद्य कहा जाता है।

आत्माकी परंज्योतिका स्वरूप  
यत्रासत्यस्तिलं ध्वान्तमुद्घोतः सति चास्तिलः ।  
अस्त्यपि ध्वान्तमुद्घोतस्तज्ज्योतिः परमात्मनः ॥४५॥

‘जिसके विद्यमान न होनेपर सब अन्धकार है, और विद्यमान होनेपर सब उद्धोतरूप है अन्धकार भी उद्धोतरूप परिणत होता है वह आत्माकी परम उपोति है।’

**व्याख्या**—जिस आन्तज्योतितस्त्रका पिल्ले एक पद्म ( ३३ ) में उल्लेख है उसके विषयमें यहाँ लिखा है कि यह आत्माकी यह परंज्योति है जिसके अभावमें सब कुछ अन्धकारमय

१. जहु ध्यान ध्याता ध्येय की न विकल्प ब्रह्मेव न जही, ब्रिद्धाव कर्म, चिदेवा कर्ता, चेतना किरिया तही। तीनों अभियावज्ज्ञान शुद्ध उपयोगकी स्थितिल दशा, प्रकटी यहाँ दृग-शास्त्र-व्रत में तीनथा एके लक्ष। —छहडाला, दौलतराम। २. अथा तद् चोतिः।

है और जिसके सद्गुचमें सब कुछ उग्रोतरूप हैं तथा अन्धकार भी उद्घोतके रूपमें परिणत हो जाता है। इसी परं ज्योतिका जयघोष करते हुए श्री असृतचन्द्राचार्यने लिखा है कि इस परं ज्योतिमें सारी पदार्थमालिका—जोवादि पदार्थोंकी पूर्ण सृष्टि—अपनी समस्त त्रिकालबर्ती—अनन्त पर्यायोंके साथ युगपत् (एक साथ) दृष्टि तलके समान प्रतिविस्त्रित होती है—

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायिः ।

दृष्टिपतल इव सदाकार प्रतिफलति पदार्थ-मालिका यत्र ॥१॥

—पुरुषार्थीसंदृष्टिपृथाय

हवस्वभावमें स्थित पदार्थोंको कोई अन्यथा करनेमें समर्थ नहीं

सबै भावाः स्वभावेन स्वस्वभाव-पदार्थस्थिताः ।

न शक्यन्ते इन्यथा कर्तुं ते परेण कदाचन ॥४६॥

‘सबै द्रव्य स्वभावसे अपने-अपने द्रव्यरूपमें स्थित हैं वे परके द्वारा कभी अन्यथारूप नहीं किये जा सकते।’

**व्याख्या**—यहाँ एक बहुत बड़े अटल सिद्धान्तकी घोषणा की गयी है और वह यह कि ‘सबै द्रव्य सदा स्वभावसे—द्रव्यहस्तिसे—अपने-अपने स्थरूपमें द्वयवस्थित रहते हैं, उन्हें कभी कोई दूसरा द्रव्य अन्यथा करनेमें—स्वभावसे च्युत अथवा पररूप परिणाम करनेमें—समर्थ नहीं होता।

मिलनेवाले परद्रव्योंसे आत्माको अन्यथा नहीं किया जा सकता

नान्यथा शक्यते कर्तुं मिलद्विरिव निर्मलः ।

आत्माकाशमिवामूर्तिः परद्रव्यैरनश्वरः ॥४७॥

जिस प्रकार आकाश, जो कि स्वभावसे निर्मल, अमूर्त तथा अनश्वर है, मिलनेवाले परद्रव्योंके द्वारा अन्यथारूप नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार निर्मल आत्मा, जो कि आकाशके समान अमूर्तिक और अविनश्वर है परद्रव्योंके मिलापसे अन्यथा—स्वभावच्युत रूप—नहीं किया जा सकता—जड़ (अचेतन) आदि पदार्थोंके सम्बन्धसे जड़ आदि रूप परिणत नहीं होता।

**व्याख्या**—यहाँ पिछली बातको एक उदाहरणके द्वारा स्पष्ट किया गया है और वह उदाहरण है निर्मल एवं अमूर्तिक आकाशका। आकाशमें सर्वत्र परद्रव्य भरे हुए हैं; सबका आकाशके साथ सम्बन्ध है; परन्तु वे सब मिलकर भी आकाशको उसके स्वभावसे च्युत करने, उसकी निर्सलता तथा अमूर्तिकताको नष्ट करने, उसे अनश्वरसे नश्वर बनाने अथवा अपने रूप परिणत करनेमें कभी समर्थ नहीं होते। उसी प्रकार निर्मल अमूर्तिक आत्मा भी परद्रव्योंसे घिरा हुआ है, जब कर्मोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त है, परन्तु कोई भी परद्रव्य अथवा सारे परद्रव्य मिलकर भी उसको वस्तुतः अपने स्वभावसे च्युत करने—चेतनसे अचेतन—जड़, अमूर्तिकसे मूर्तिक, निर्मलसे समल, अनश्वरसे नश्वर बनाने—में कभी समर्थ नहीं होते।

भिन्न ज्ञानोपलब्धिसे देह और आत्माका भेद  
देहात्मनोः सदा भेदो भिन्नज्ञानोपलमभतः ।  
इन्द्रियैर्ज्ञायते देहो नूनमात्मा स्वसंविदा ॥४८॥

‘भिन्न-भिन्न ज्ञानोंसे उपलब्ध ( ज्ञात ) होनेके कारण शरीर और आत्माका सदा परस्पर भेद है । शरीर हृदियोंसे—इन्द्रिय ज्ञानसे—जाना जाता है और आत्मा निश्चय ही स्वसंवेदन ज्ञानसे जाननेमें आता है ।’

**ब्याख्या—**संसारी जीवका देहके साथ अनादि-सम्बन्ध है—स्थूल देहका सम्बन्ध कभी छूटता भी है तो भी सूक्ष्म देह जो तेजस और कार्मण नामके शरीर हैं उनका सम्बन्ध कभी नहीं छूटता, इसीसे उन्हें ‘अनादिसम्बन्धे च’ इस सूक्ष्मके द्वारा अनादिसे सम्बन्धको प्राप्त कहा है । इस अनादि-सम्बन्धके कारण बहुधा देह और आत्माको एक समझा जाता है । परन्तु देह और आत्मा कभी एक नहीं होते, सदा भिन्नरूप बने रहते हैं और इसका कारण यह है कि वे भिन्न ज्ञानोंके द्वारा उपलब्ध होते-जाते हैं । इन्द्रिय ज्ञानसे देह जाना जाता है और आत्मा चमतुतः स्वसंवेदन-ज्ञानके द्वारा ही साक्षात् जाननेमें आता है—हृदियाँ उसे जाननेमें असमर्थ हैं ।

कर्म जीवके और जीव कर्मके गुणोंको नहीं घातता  
न कर्म हन्ति जीवस्य न जीवः कर्मणो गुणान् ।  
बध्य-घातकभावोऽस्ति नान्योऽन्यं जीवकर्मणोः ॥४९॥

‘कर्म जीवके गुणोंको और जीव कर्मके गुणोंको घात नहीं करता । जीव और कर्म दोनोंका परस्पर एक-दूसरेके साथ बध्य-घातक भाव नहीं है ।’

**ब्याख्या—**जीव और कर्मका जो परस्पर सम्बन्ध है वह अन्धकार और प्रकाशकी तरह बध्य-घातकके रूपमें नहीं है, इसीसे कर्म जीवके और जीव कर्मके गुणोंको नहीं घातता—एक-दूसरेके स्वभावको नष्ट करनेमें कभी समर्थ नहीं होता । ही, एक-दूसरेके विभाष-परिणमनमें निमित्त कारण जरूर हो सकता है । क्योंकि जीव और पुद्गल दोनोंमें वैभाविकी—विभावरूप परिणमनकी—शक्ति पायी जाती है ।

जीव और कर्ममें पारस्परिक फरिणामकी निमित्तता न रहनेपर मोक्ष  
पदा प्रति परीणामं विद्यते न निमित्तता ।  
परस्परस्य विश्लेषस्तयोर्मोक्षस्तदा मतः ॥५०॥

‘जब जीव और कर्मके परस्परमें एक-दूसरेके परिणामके प्रति निमित्तताका अस्तित्व नहीं रहता, तब दोनोंका ओ विश्लेष—सर्वथा पृथक्ष्यना—होता है वह ‘मोक्ष’ माना गया है ।’

**ब्याख्या—**जीव और पुद्गल कर्मका विभाव-परिणमन एक-दूसरेके निमित्तसे होता है, जिस समय वह निमित्तता नहीं रहती—मिथ्यादर्शनादि बन्ध-हेतुओंका अभाव होनेसे सदाके लिए समाप्त हो जाती है—उसी समय जीव और कर्मोंका विश्लेष—सर्वथा पृथक्ष्य—हो जाता है, जिसे ‘मोक्ष’ ( निर्बाण ) कहा गया है और जो बन्धका विपरीत रूप है ।

युक्त भावके साथ आत्माकी स्फटिक सम तन्मयता  
 'येन येनैव भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।  
 तन्मयस्तत्र तत्रापि विश्वरूपो मणिर्यथा ॥५१॥

'यह यन्त्रवाहक जीवात्मा जिस-जिस भावके साथ युक्त होता है उस-उस भावके साथ वही तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि विश्वरूपवारी स्फटिक मणि ।'

**व्याख्या**—'यन्त्रवाहक' शब्द देहधारी जीवात्माके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है जो कि देहका संचालन करता है और जिसके चले जानेपर देह अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता । चूँकि देह एक सन्त्रक्षे—कल अथवा मरीनके—समान है । यह जीवकी एक खास संभा है जिसकी कोशोंमें आमतौरपर उपलिंग नहीं होती । और 'विश्वरूप' संज्ञा यहाँ स्फटिकमणि को दी गया है, क्योंकि वह विश्वके सभी पदार्थोंके रंगरूपमें परिणत होनेकी घोरयता रखता है । इस स्फटिकके उदाहरण-द्वारा जीवात्माकी पर पदार्थके साथ तन्मयताकी—तद्रूप परिणमनकी—आत्मको स्पष्ट किया गया है । जिस प्रकार स्फटिकमणि जिस-जिस रंग रूपकी उपाधिके साथ सम्बन्ध करता है उस-उस रंग रूपकी उपाधिके साथ तन्मयता ( तद्रूपता ) को प्राप्त होता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी आत्माको जिस भावके साथ जिस रूपमें व्याप्त है उसके साथ वह उसी रूप तन्मताको प्राप्त होता है । इससे विवशित तन्मयता स्पष्ट होती है, जो कि ताद्रात्म्य-सम्बन्धके रूपमें नहीं है ।

आत्माको आत्मभावके अभ्यासमें लगाना आवश्यक  
 'तेनात्मभावनाभ्यासे स नियोजयो विपरिचता ।  
 येनात्ममयतां॑ याति निर्वृत्यापरभावतः ॥५२॥

'चूँकि आत्मा परभावसे निर्वृत होकर ही आत्मरूपताको प्राप्त होता है इसलिए विद्वान्‌के द्वारा आत्मा ( सदा ) आत्मभावनाके अभ्यासमें लगानेके योग्य है ।'

**व्याख्या**—आत्माके उक्त तन्मयतारूप परिणाम-स्थभावकी दृष्टिसे यहाँ विद्वान्‌का कर्तव्य परभावकी भावनाको छोड़कर अपनेको आत्मभावनाके अभ्यासमें लगानेका बतलाया गया है, जिससे आत्मामें तन्मयताकी उपलिंग—शुद्धि हो सके । आत्मभावनाके अभ्यासको जितना अधिक बढ़ाया जायेगा, परभावोंसे उतना ही छुटकारा होता जायेगा । और परभावों ( पदार्थों )में जितना अधिक मनको लगाया जायेगा उतना ही आत्मभावनाका अभ्यास दूर होकर आत्मामें तन्मयताको प्राप्त करना दुर्लभ हो जायेगा । अतः परन्यदार्थोंसे सम्बन्ध कम करके आत्मभावनाके अभ्यासको बढ़ाना ही श्रेयस्कर ( कल्याणकारी ) है ।

कर्मभलसे पूर्णतः पृथक् हुआ आत्मा फिर उस मलसे लिप्त नहीं होता  
 युज्यते रजसा नात्मा भूयोऽपि विरजीकृतः ।  
 पृथक्कृतं कृतः स्वर्णं पुनः किञ्चुन्<sup>१</sup> युज्यते ॥५३॥

१. जेण सर्वदि शास्त्रयद्वा ए हु अर्णनु । तेण सर्वदि परिणवह जह फलिहृद-मणिमंतु ॥—परमात्म प्रकाश २-१३३ । येन भावेन यद्रूपं व्यायस्यात्मासमात्मवित् । तेण तन्मयता याति सोषाषिः स्फटिको यथा ॥—तत्त्वानु० १९१ । येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः । तेन तन्मयता याति विश्वरूपो मणिर्यथा । ज्ञानार्थव, दोग्यात्मव । २. मु येनात्मभावनाभ्यासे । ३. मु तेनात्ममयता । ४. मु कीदेव ।

‘जो आत्मा कर्ममलसे ( पूर्णतः ) पृथक् किया गया है वह फिर कर्ममलसे लिप नहीं होता । ( ठीक है ) किटूसे पृथक् किया गया स्वर्ण फिर किस हेतु किटूसे युक्त होता है ? हेतु-भावके कारण युक्त नहीं होता ।’

**व्याख्या**—जो आत्मा आत्मभावनाके अभ्यास-द्वारा परभावको छोड़ता हुआ अपनेमें लन्भय ( लौभ ) होता है और इस तरह कर्ममलसे छुटकारा पाता है वह फिर कभी उस कर्म-मलके साथ सम्बन्धको प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि किटू-कालिमासे पृथक् हुआ सुवर्ण फिर उस किटू-कालिमाके साथ युक्त नहीं होता ।

घटोपादान-भूसिकाके समान कर्मका उपादान कल्पता  
दण्ड-चक्र-कुलालादि-सामग्री सम्भवेऽपि नो ।  
संपद्यते यथा कुम्भो विनोपादानकारणम् ॥५४॥  
मनो-धनो-दपुःकर्म-सामग्रीसंभवेऽपि नो ।  
संपद्यते तथा कर्म विनोपादानकारणम् ॥५५॥  
कालुष्यं कर्मणो ह्येयं सदोपादानकारणम् ।  
मृदूदूष्यमिव कुम्भस्य जायमानस्य योगिभिः ॥५६॥

‘जिस प्रकार दण्ड, चक्र और कुम्भकार आदि सामग्रीके मौजूद होते हुए भी बिना उपादान कारण ( सृतिगण्ड ) के कुम्भ ( घट ) की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार मन-वचन-कायके क्रियारूप सामग्रीके होते हुए भी बिना उपादान कारणके कर्मकी उत्पत्ति नहीं होती । कर्मका उपादान कारण कल्पता है उसी प्रकार जिस प्रकार कि मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाले घटका उपादान कारण मृत्तिका द्रव्य है, यह योगियोंको सदा अपना चाहिए ।’

**व्याख्या**—मिट्टीके घटेकी उत्पत्तिमें मिट्टी उपादान कारण है उसके अभावमें अन्य सब सामग्री ( दण्ड-चक्र-कुलालादि ) का सदूभाव होते हुए भी जिस प्रकार मिट्टीका घटा नहीं बनता, उसी प्रकार आनावरणादि कर्मकी उत्पत्तिका उपादान कारण कालुष्य—कषायभाव है, उसके अभावमें मन-वचन-कायकी क्रियारूप अन्य सब सामग्रीका सदूभाव होते हुए भी आत्माको कर्मबन्धकी प्राप्ति नहीं होती, यह बात सदा ध्यानमें रखने योग्य है । अतः जो सुमुख योगी अपनेको कर्मबन्धनसे छुड़ाकर मोक्षकी प्राप्ति करना चाहते हैं उन्हें सदा कर्मके उपादानकारण कषाय भावको दूर रखनेका यत्न करना चाहिए, उसके दूर किये बिना अन्य सब क्रियाकायहसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी । अन्य सब सामग्री तभी सहायकरूपमें अपना काम कर सकेगी जब कलुषताका अभाव होगा । यदि कलुषता दूर नहीं की जाती तो समझना चाहिए कि कर्मका बन्ध बराबर हो रहा है और ऐसी स्थितिमें सुक्तिकी आशा रखना व्यर्थ है ।

कषायादि करता हुआ जीव कैसे कपायादि रूप नहीं होता  
यथा कुम्भमयो जातु कुम्भकारो न जायते ।  
सहकारितया कुम्भं कुर्वणोऽपि कर्थचन ॥५७॥  
कषायादिमयो जीवो जायते न कदाचन ।  
कुर्वणोऽपि कषायादीन् सहकारितया तथा ॥५८॥

‘सहकारितासे साथ कुम्भको करता हुआ भी कुम्भकार जिस प्रकार कभी कुम्भरूप नहीं होता, उसी प्रकार सहकारितासे साथ कषायादिको करता हुआ भी यह जीव कभी कषायादिरूप नहीं होता।’

**व्याख्या**—यहाँ यदि कोई यह आशंका करे कि कषायों आदिको करता हुआ जीव तो कषायादिमय हो जाता है—कषायादि उसका स्वभाव बन जाता है—तब कषायोंका लूटना केंसे सकता है ? तो उसके समाधानमें ही इन दोनों पद्धोंका अवतार हुआ जान पड़ता है। इनमें स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार सहकारीरूपसे कुम्भको बनाता हुआ कुम्भार किसी तरह कुम्भरूप नहीं हो जाता उसी प्रकार यह जीव भी सहकारीरूपसे करायोंको करता हुआ कभी भी कषायादिके साथ तादात्म्य-सम्बन्धको प्राप्त कषायादिरूप नहीं हो जाता। कषायादि जितने परिणाम हैं वे सब जीवकी चेतनाको निमित्तभूत करके कर्मके द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं, यह बात पिछले ३५वें व्याख्यामें वर्तलाशी जा चुकी है। इसलिए कषायकी उत्पत्तिमें जीव निमित्त कारण है—उपादान कारण नहीं, उपादान कारण द्रव्यकर्मरूप पुद्गाल है और इसलिए कषायोंको ‘पौद्गालिक’ कहा गया है। कुम्भकार यदि कुम्भके निर्माणमें अथना सहयोग न दे तो कुम्भका निर्माण नहीं होता, मिट्टी उसे सहयोगके लिए बाध्य नहीं करता। इस तरह कषायका उदय आनेपर यदि जीव उसके साथ सहयोग न करे—राग-द्वेषादिरूप परिणत न हो—तो नवे कषाय कर्मका उत्पाद नहीं होता और कर्मका उदय जीवको कषाय-कर्म करनेके लिए बाध्य नहीं करता, वह उसको करने न करनेमें स्वतन्त्र है, तभी वह कषायोंके बन्धनोंको दूर करनेमें समर्थ हो सकता है और इसीसे उसे कषायरूप परिणत न होनेका उपदेश दिया जाता है। कषायोंका जीवके साथ तादात्म्य हो जानेपर तो फिर कभी भी उनसे लूटकाश नहीं हो सकता और न मोश्की प्राप्ति हो सकती है। और इसलिए जीवका कषायोंकी उत्पत्तिमें कुम्भकारकी तरह सहकारी निमित्तरूप-जैसा सम्बन्ध है उपादान कारणके रूपमें नहीं, यह भले प्रकार समझ लेना चाहिए।

सर्वं कर्मोका कर्ता होते हुए कौन निराकर्ता होता है

यः कर्म मन्यते कर्मकर्म वाकर्म सर्वथा ।

स सर्वकर्मणोऽकर्ता निराकर्ता च जायते ॥५६॥

‘जो कर्मको सर्वथा कर्म और अकर्मको सर्वथा अकर्मके रूपमें मानता है—कर्मको अकर्म और अकर्मको कर्म समझनेकी कभी भूल नहीं करता—वह सर्वकर्मोंका कर्ता होते हुए भी ( एक दिन ) उनका निराकर्ता—उन्हें त्याग करनेवाला—हो जाता है।’

**व्याख्या**—जो कर्म-अकर्मका ठीक स्वरूप समझता है और उस स्वरूपके विपरीत कभी उन्हें अपनी श्रद्धाका विषय नहीं बनाता वह कर्मके करने तथा अकर्मको छोड़नेमें राग-द्वेष-रूपसे प्रशृत नहीं होता—सदा उनमें अनासक्त बना रहता है। और इसलिए सब कर्मोंका कर्ता होते हुए भी वह एक दिन उन्हें छोड़नेमें समर्थ होता है अथवा अनासक्तिके कारण कर्मके बन्धको प्राप्त नहीं होता।

विषयस्थ होते हुए भी कौन लिप्त नहीं होता

विषयैविषयस्थोऽपि निरासङ्गो न लिप्यते ।

कर्दमस्थो विषुद्धात्मा रक्टिकः कर्दमैरिति ॥५०॥

‘जो निःसंग है—निर्ममत्व और अनासक्त है—वह विषयोंमें स्थित हुआ भी विषयोंसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार कीचड़में पढ़ा किशुद्ध स्फटिक कीचड़से लिप्त नहीं होता—कीचड़को अपना नहीं बनाता, अपने अन्तर्गतमें प्रविष्ट नहीं करता।’

**व्याख्या**—यहाँ कईमस्थि निर्मल स्फटिकके उद्घाहरण-द्वारा विषयोंमें स्थित अनासक्त योगीके विषयोंसे लिप्त न होनेकी व्यापक स्थिति किया गया है।

देह-चेतनके लालिक भेद-आत्माकी स्थिति  
देहचेतनयोर्मेदो इश्यते वेन तश्वतः ।  
न सहो जायते तस्य विषयेषु कदाचन् ॥६१॥

‘जिसने बस्तुतः वेह और चेतन आत्माका भेद देख लिया है उसका विषयोंमें कभी संग-सम्बन्ध अथवा अनुराग नहीं होता।’

**व्याख्या**—पिछले पश्चामें जिस निःसंग-योगीका बल्लेख है उसके विषयको यहाँ कुछ स्पष्ट करते हुए यह सूचित किया है कि वह योगी देह और आत्माके भेदको लालिक दृष्टिसे भले प्रकार समझे हुए होता है और इसलिए उसकी विषयोंमें कभी आसक्तिरूप प्रवृत्ति नहीं होती—वह उनसे अलिप्त रहता है। जिसकी प्रशूति पायी जाती है समझ लेना चाहिए उसने देह और चेतनके भेदको दृष्टिगत नहीं किया।

जीवके त्रिविद्य-भावोंकी स्थिति और कर्तव्य  
भावः शुभोऽशुभः शुद्धखेदा जीवस्य जायते ।  
यतः पुण्यस्य पापस्य निर्वृतेरस्ति॑ कारणम् ॥६२॥  
ततः शुभाशुभौ॒ हित्वा शुद्ध॑ भावमधिष्ठितः ।  
निर्वृतो जायते योगी॒ कर्मागमनिवृत्तकः ॥६३॥

‘जीवका भाव तीन प्रकारका होता है—शुभ, अशुभ और शुद्ध। जैकि शुभभाव पुण्यका, अशुभभाव पापका और शुद्धभाव निवृति ( मुक्ति ) का कारण है अतः जो योगी कर्मोंके आश्रवका निरोधक है वह शुभ अशुभ भावोंको छोड़कर शुद्धभावमें अधिष्ठित हुआ मुक्तिको प्राप्त होता है।’

**व्याख्या**—यहाँ जीवके भावोंके शुभ, अशुभ और शुद्ध ऐसे तीन भेद करते हुए उन्हें क्रमशः पुण्य, पाप तथा निवृति ( मुक्ति ) का हेतु बतलाया है और साथ ही यह सूचित किया है कि जो योगी शुभ-अशुभ भावोंको छोड़कर, जो कि कर्माश्रवके हेतु हैं, शुद्धभावमें स्थित होता है वह कर्मोंके आश्रवका निवृत्तक निरोधक होता है और मुक्तिको प्राप्त करता है।

निरस्ताखिल कल्पव योगीका कर्तव्य  
विनिश्चया॑( वत्या॑) धृतशिवत्तं॒ विधायात्मनि॑ निश्चलम् ।  
न किञ्चिच्छिन्तयेद्योगी॑ निरस्ताखिलकल्पः ॥६४॥

‘जिस योगीने सारे कल्पवक्ता—कपायभावका—माश किया है वह जितको राब पदार्थोंसे हटाकर और आत्मामें निश्चल करके कुछ भी जित्तम न करे—आत्माका शुद्ध स्वरूप ही उसके ध्यानमें स्थिर रहे।’

१. वत्या कदाचनः । २. सु निर्वैरेव ।

**व्याख्या**—यहाँ उस योगीके कर्तव्यका जिदेश है जिसने क्रोधादि सारे कषाय-भावको नष्ट किया है, उसे तब अपने चित्तको आह पदार्थसे हटाकर तथा आत्माके शुद्ध स्वरूपमें स्थिर करके चिन्तनका कुछ भी कार्य न करना चाहिए—आत्मामें केवल लीनता ही बनी रहे।

इन्द्रिय-विषयोंके स्मरणकर्त्ताकी स्थिति

**स्वार्थ-व्यावर्तिताद्योऽपि विषयेषु दृढ़-स्मृतिः ।**

**सदास्ति दुःस्थितो दीनो लोक-दृश्य-चिलोपकः ॥६५॥**

'जो इन्द्रिय-विषयोंमें दृढ़स्मृति है—विषयोंको बरायर स्मरण करता रहता है—वह इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे अलग रखता हुआ भी सदा दुःस्थित दीन और दोनों लोकोंका बिगाड़ने-बाला होता है।'

**व्याख्या**—यहाँ इन्द्रिय-विषयोंके स्मरण-दोषको बहुत ही हानिकारक बतलाया है और उसकी मौजूदगीमें इन्द्रियोंको उनके विषयसे अलग रखनेका कुछ मूल्य नहीं रहता, ऐसा सूचित किया है। उक्त स्मरण दोषके कारण इन्द्रियोंकी विजय ठीक नहीं बनती, उसमें असिद्धारादि दोष लगता रहता है और संक्षेप परिणामोंकी मूष्टि होनेसे योगी सदा दुःस्थित रहता, दीनतापर उतरता और इस तरह अपने दोनों लोक बिगाड़ता है। अतः योगीको अपने पूर्व भोगोंका स्मरण तथा आगामी भोगोंका निदानादिके रूपमें अनुचिन्तन नहीं करना चाहिए।

भोगको न भोगने-भोगनेवाले किन्हीं दो की स्थिति

**भोगं कश्चिद्भुज्जानो भोगार्थं कुरुते क्रियाप् ।**

**भोगमन्यस्तु भुज्जानो भोगच्छेदाय शुद्धधीः ॥६६॥**

'कोई भोगको न भोगता हुआ भी भोगके लिए क्रिया करता है, दूसरा शुद्ध शुद्धि भोगको भोगता हुआ भी भोगके छेदका प्रथम करता है।'

**व्याख्या**—यहाँ भोगको भोगनेवाले और न भोगनेवाले किन्हीं दो व्यक्तियोंके विचार-विचार-भेदको दर्शाया गया है—एक किसी यन्धन अथवा मजबूरीके कारण भोगको न भोगता हुआ भी उसके लिए रागादिरूप मन-वचन-कायकी क्रिया करता है और दूसरा भोगको भोगता हुआ भी उसमें आसक्ति नहीं रखता और इसलिए उसके मन-वचन-कायका व्यापार एक दिन उसे छोड़ देनेकी ही ओर होता है। अपने इस विचार व्यापारके कारण दूसरेको 'शुद्ध-शुद्धि' कहा गया है और इसलिए पहलेको, जो वाहमें भोगका त्याग करता है तथा अन्तरंगमें उसकी लालसा रखता है, शुद्ध शुद्धि नहीं कहा जा सकता, उसे दुर्दित तथा विवेकहीन समझना चाहिए। अपनी इस दुर्दितके कारण वह भोगका त्यागी होने-पर भी पापका घन्थ करता है, जबकि दूसरा अपनी शुद्ध शुद्धिके कारण भोगको भोगता हुआ भी पापफलका भागी नहीं होता। दोनोंकी प्रवृत्तिमें तदिपरीत विचारके कारण कितना अन्तर है उसे यहाँ स्पष्ट जाना जाता है।

इन्द्रिय-विषयोंके स्मरण-निरोदककी स्थिति

**स्वार्थ-व्यावर्तिताऽक्षोपि निरुद्धविषय-स्मृतिः ।**

**संवेदा सुस्थितो जीवः परत्रेह च जायने ॥६७॥**

‘जिसने इन्द्रियोंको अपने विषयसे अलग किया है और जो विषयोंकी स्मृतिको भी रोके रखता है—पूर्व भोगे गये भोगोंका कभी स्मरण नहीं करता और न उन्हें फिरसे भोगनेकी इच्छा ही करता है—वह जीव इस लोक तथा परलोकमें सदा सुखी होता है।’

व्याख्या—यहाँ उग्र जीवको इस लोक तथा परलोकमें सदा सुस्थित एवं सुखी बतलाया है जो अपनी इन्द्रियोंको उनके विषयसे अलग ही नहीं रखता किन्तु पूर्वमें भोगे तथा आगे को भोगे जानेवाले विषयोंका स्मरण भी नहीं करता।

भोगको भोगता हुआ कौन वन्धको प्राप्त होता है कौन नहीं?

**एवं भोगनभूतज्ञानोऽपि वद्यते विनिश्चितः सुधार्य् ।**

**विशगः कर्मभिमोर्गं भूञ्जानोऽपि न वद्यते ॥६८॥**

‘जो रागी है वह भोगको न भोगता हुआ भी सदा कर्मसे बंधता है और जो बीतरागी है वह भोगको भोगता हुआ भी कर्मसे नहीं बंधता, यह सुनिश्चित है।’

व्याख्या—यहाँ पिछले ६६वें पदके विषयको कुछ स्पष्ट किया गया है और यह बतलाया गया है कि भोगका न भोगनेवाला यदि भोगोंमें राग रखता है तो वह अवश्य कर्म से बन्धको प्राप्त होता है और जो भोगको भोगता हुआ भी उसमें राग नहीं रखता—किसी मजदूरी, अशक्ति अथवा परवशताके कारण उसे भोगता है—वह कर्म बन्धसे अलिप्त रहता है।

विषयोंको जानता हुआ जानी बन्धको प्राप्त नहीं होता

**विषयं पञ्चधा ज्ञानी बुध्यमानो न वद्यते ।**

**श्रिलोकं केवली किं न जानानो वद्यतेऽन्यथा ॥६९॥**

‘जो ज्ञानी है वह पाँच प्रकारके इन्द्रिय-विषयको जानता हुआ भी बन्धको प्राप्त नहीं होता। अन्यथा श्रिलोकको जाननेवाला केवलज्ञानी बन्धको क्यों नहीं प्राप्त होता?—यदि विषयोंको जाननेसे बन्ध हुआ करता तो केवली भगवान् भी बन्धको प्राप्त होता।’

व्याख्या—यहाँ इम वातको एक सुन्दर उवाहरण-द्वारा स्पष्ट किया गया है कि ‘पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंको जानने मात्रसे कोई ज्ञानी बन्धको प्राप्त नहीं होता।’ यदि विषयोंको जानने मात्रसे भी बन्धकी प्राप्ति हुआ करती तो तीन लोकके ज्ञाता केवली भगवान् भी बन्धको प्राप्त हुआ करते। परन्तु ऐसा नहीं है अतः विषयोंको जानने मात्रसे बन्धकी प्राप्ति नहीं होती, बन्धकी प्राप्तिमें कारण तट्टिष्ठयक राग-द्वेषादि भाव है। वह यदि नहीं तो बन्ध भी नहीं। और इसलिए पिछले जिन पदों ( ६५ आदि ) में भोगोंकी स्मृतिका उल्लेख है वह मात्र ज्ञानात्मक स्मृति न होकर रागात्मक स्मृति है, इसीसे उसे दूषित ठहराया है।

महामूढ इन्द्रिय-विषयोंको न ग्रहण करता हुआ भी बन्धकर्ता

**त्रिमूढो नुनमक्षार्थमगृह्णानोऽपि वद्यते ।**

**एकाक्षाद्या निवद्यन्ते विषयाग्रहिणो न किञ् ॥७०॥**

‘जो त्रिमूढ़ है—विक्रेकहीन महा अज्ञानी है—वह निवद्यसे इन्द्रिय-विषयको ग्रहण न करता हुआ भी बन्धको प्राप्त होता है। ( ठीक है ) एकेन्द्रियादिक जीव जो ( स्वभिन्न ) विषयोंको ग्रहण करनेवाले नहीं वे क्या बन्धको प्राप्त नहीं होते?—होते ही हैं।’

व्याख्या—पिछले पदमें विषयोंको जाननेवाले ज्ञानीकी वात कही गयी है, यहाँ उस महा अज्ञानीकी वातको लिया गया है जो विषयोंको कुछ जानता तथा समझता ही नहीं, तब

क्या वह इन्द्रिय-विषयोंको न प्रहण करता हुआ बन्धको प्राप्त नहीं होता ? उत्तरमें कहा गया है कि वह चिमूह विषयोंको न प्रहण करता हुआ भी बन्धको प्राप्त होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि एकेन्द्रियादि जीव अपने विषयसे भिन्न विषयको प्रहण न करते हुए भी निश्चित रूपसे बन्धको प्राप्त होते हैं—उनका अज्ञानादि भाव उन्हें बन्धका पात्र बनाता है। अतः जो लोग अज्ञानके कारण दोष करके अपनेको दोषमुक्त समझते हों वे भूलते हैं, अज्ञान किसीको दोषमुक्त नहीं करता—यह दूसरी बात है कि ज्ञातभावसे किये हुए कर्मकी अपेक्षा अज्ञान भावसे किये हुए कर्मके फलमें कुछ अन्तर जरूर होता है।

किसका प्रत्याख्यानादि कर्म व्यर्थ है

राग-द्वेष-निष्टुतस्य प्रत्याख्यानादिकं वृथा ।

राग-द्वेष-प्रष्टुतस्य प्रत्याख्यानादिकं वृथा ॥७१॥

‘जो राग-द्वेषसे रहित योगी है उसके प्रत्याख्यानादिक कर्म व्यर्थ हैं और जो राग-द्वेषमें प्रवृत्त है उसके प्रत्याख्यानादि कर्मका कोई अर्थ नहीं—वह सब निरर्थक है।’

**व्याख्या**—जो राग-द्वेषसे निष्टुत हो गया है और जो राग-द्वेषमें प्रवृत्त है दोनोंके प्रत्याख्यानादि कर्म-क्रियाओंका यहीं व्यर्थ अपार्थकरी दबंगिरहेक बतलाया है। प्रत्याख्यानादि कर्म घडायश्यक कर्मोंके अन्तर्गत हैं, जिनका वर्णन संवराधिकारमें पद्य नं० ४७ से ५३ तक दिया है, उनमेंसे आदि शब्दके द्वारा यहाँ शेष सभीका अध्यया मुख्यतः सामाचिक, प्रतिक्रियण और कायोत्सर्गोंका प्रहण है। ये सब कर्म राग-द्वेषकी निष्टुति एवं संवरके लिए किये जाते हैं अतः जो राग-द्वेषसे निष्टुत हो चुका उसके लिए इन कर्मोंके करनेकी जरूरत नहीं रहती और इसलिए इनका करना उसके लिए व्यर्थ है। और जो राग-द्वेषादिमें प्रवृत्त है—वृत्र रचान्पचा है—राग-द्वेष जिससे छूटते नहीं उसके लिए भी इन कर्मोंका करना व्यर्थ है; क्योंकि जब इन कर्मोंका उत्थय ही उसके ध्यानमें नहीं और प्रवृत्ति उलटी चल रही है तब इन कर्मोंको जान्तापूरी अथवा यान्त्रिकचारित्र (जड़ मशीनों जैसे आचरण) के रूपमें करनेसे क्या लाभ ? कुछ भी लाभ न होनेसे वे व्यर्थ ठहरते हैं।

दोनोंके प्रत्याख्यानसे कौन भूक्त है

सर्वश्रयः सदोदास्ते न च द्वेष्टि न रज्यते ।

प्रत्याख्यानादतिक्रान्तः स दोषाणामशेषतः ॥७२॥

‘जो किसी वस्तुमें राग नहीं करता, द्वेष नहीं करता और सर्वत्र उदासीन भावसे रहता है वह दोषोंके प्रत्याख्यानकर्मसे पूर्णतः विमुक्त है—उसे नियमतः उस कर्मके करनेकी कोई आषद्य-कला नहीं रहती।’

**व्याख्या**—जो योगी किसीसे राग नहीं करता, द्वेष भी नहीं करता, सदा सर्वत्र उदासीन भावसे रहता है वह दोषोंके प्रत्याख्यानोंकी सीमासे पूर्णतः बाहू द्वोता है—उसके लिए प्रत्याख्यानका करना कोई आषद्यक नहीं। ऐसा योगी क्षीणमोहको प्राप्त प्रायः १२वें, १३वें, १४वें गुणस्थानवर्ती होता है। पिछले पद्यमें जिस राग-द्वेष-निष्टुत योगीका उल्लेख है वह भी प्रायः क्षीणमोही योगीसे ही सम्बन्ध रखता है।

दोषोंके विषयमें रागी-बीतरागीकी स्थिति

**रागिणः सर्वदा दोषाः सन्ति संसारहेतवः ।  
शानिनो बीतरागस्य न कदाचन ते पुनः ॥७३॥**

'रागी ( अङ्गानी ) के संसारके कारणोभूत सवा सर्वदोष होते हैं; किन्तु ज्ञानी बीतरागीके वे दोष कदाचित् भी नहीं होते ।'

व्याख्या—यहाँ सारलूपमें यह बतलाया गया है कि जो रागी—अङ्गानी है उसके संसारके हेतुभूत सभी दोषोंका कारण है उसीरे जो अङ्गानी—बीतरागी है उसके संसारके हेतुभूत वे दोष कभी नहीं बनते ।

ओदियिक और पारिणामिक भावोंका फल

**जीवस्यौदयिको भावः समस्तो बन्धकारणम् ।  
विमुक्तिकारणं भावो जायते पारिणामिकः ॥७४॥**

'जीवका जो ओदियिक भाव—कर्मोंके उदय निमित्तसे उत्पन्न होनेवाला परिणाम—है वह सब बन्धकों कारण है, मुक्तिका कारण, पारिणामिक भाव होता है ।'

व्याख्या—यहाँ पूर्वबन्ध-कथनके सिलसिलेमें जीवके सारे ओदियिकभावों—ओदियिकभावोंके समूहको—बन्धका हेतु बतलाया है । यह एथन रागी जीवसे सम्बन्ध रखता है; क्योंकि ज्ञानी बीतरागीका कोई कर्म पिछले पश्चानुसार बन्धका कारण नहीं होता । अहंतोंके कुछ कर्मोंका उदय बना रहनेसे जो ओदियिक भाव होता है वह पूर्णतः बीतरागी हो जानेसे बन्धका कारण नहीं रहता । पारिणामिक भावोंको यहाँ मुक्तिका हेतु बतलाया है, जिसमें जीवत्व और भव्यत्व ये दो भाव आते हैं । अभव्यत्व तो भव्यत्वका प्रतिपक्षी है इसलिए उसको यहाँ प्रदर्शन नहीं किया जाता ।

विषयानुभव और स्वात्मानुभवमें उपादेय छीन  
**विषयानुभवं बाह्यं स्वात्मानुभवमान्तरम् ।  
विज्ञाय प्रथमं हित्या स्थेयमन्यत्र सर्वतः ॥७५॥**

'इन्द्रिय विषयोंका जो अनुभव है वह बाह्य ( सुख ) है और स्वात्माका जो अनुभव है वह अन्तरंग ( सुख ) है, इस बातको जानकर बाह्य-विषयानुभवको छोड़कर स्वात्मानुभवरूप अन्तरंगमें पूर्णतः स्थित होना चाहिए ।'

व्याख्या—यहाँ यह बतलाया गया है कि इन्द्रिय विषयोंका जो अनुभव न हो वह नो बाह्यकी बस्तु है—बाह्य सुख है जो स्थिर रहनेवाला नहीं—और अपनी आत्माका जो अनुभव है वह अन्तरंगकी बस्तु है—सदा स्थिर रहनेवाला आध्यात्मिक सुख है—अतः इस तत्त्वको जानकर विषयानुभवनके त्यागपूर्वक स्वात्मानुभवमें पूर्णतः स्थिर होना चाहिए । यही परमहित रूप है ।

विषयिक ज्ञान सब पौदगलिक

ज्ञानं विषयिकं पुंसः सर्वं पौदगलिकं मतम् ।

विषयेभ्यः पराकृतमात्मीयमपरं पुनः ॥७६॥

‘जीवका जितना विषयिक (इन्द्रियजन्य) ज्ञान है वह सब पौदगलिक माना गया है और दूसरा जो ज्ञान विषयोंसे परावृत है—इन्द्रियोंकी सहायतासे रहित है—वह सब आत्मीय है।’

व्याख्या—यहाँ इस जीवके इन्द्रिय-विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाले सारे ज्ञानको ‘पौदगलिक’ घटलाया है और जो ज्ञान इन्द्रियविषयोंकी सहायतासे रहित अतानिय है वह आत्मीय है—आत्माका निजरूप है। अतः इन्द्रियजन्य पराधीन ज्ञान चासवमें अपना नहीं और इसलिए वह त्याज्य है।

मानवोंमें बाह्यभेदके कारण ज्ञानमें भेद नहीं होता

गचां यथा विमेदेऽपि शीरभेदो न विद्यते ।

पुंसां तथा विमेदेऽपि ज्ञानभेदो न विद्यते ॥७७॥

‘जिस प्रकार गौओंमें (काली पीली धौली आदिका) भेद होनेपर भी दूधमें—दूधके रंगमें—कोई भेद नहीं होता उसे प्रकार पुरुषोंके—मानवोंके—(रंगलपादि-सम्बन्धी) भेदके होनेपर भी ज्ञानका भेद नहीं होता।’

व्याख्या—गौओं धौली, पीली, नीली, काली, गोरी, चितकदरी आदि अनेक रंगभेदको लिये हुए होती हैं। सींगके भेदोंसे भी उनमें भेद होता है—किसीके सींग छोटे, किसीके बड़े, किसीके सीधे, किसीके मुड़े और किसीके गोलगेंडली मारे हुए होते हैं। और भी जारीर भेद होते हैं, इस विभेदके कारण उनके दूधमें जैसे भेद नहीं होता—अर्थात् धौलीका धौला, पीलीका पीला, नीलीका नीला और कालीका काला दूध नहीं होता—सबका दूध प्रायः एक ही सफेद रंगका होता है; वैसे ही मनुष्योंमें भी परस्पर अनेक भेद पाये जाते हैं—कोई गोरा है कोई सौंचला, कोई काला है कोई गन्दुमी रंगका, किसीका चेहरा गोल है किसीका लम्बोतरा, किसीकी गरदन छोटी है किसीकी लम्बी, किसीकी सीधी है और किसीकी टेढ़ी है, कोई बुड़ा कोई लँगड़ा है, कोई काना है कोई अन्धा है, कोई गूँगा है कोई बहरा है, किसीके घाल काले हैं तो किसीके सफेद या भूरे इत्यादि शरीरभेद स्पष्ट देखनेमें आता है, इसी प्रकार कोई ग्राहण, कोई अत्रिय, कोई वैश्य और कोई शूद्रादि जाति-भेदको लिये हुए हैं। इस सारे बाह्यभेदके कारण मनुष्योंके ज्ञानमें कोई भेद नहीं होता—जो ज्ञान एक अच्छे गोरे रंग सुन्दर आकर्तके मनुष्यको प्राप्त होता है वह काले कुरुप तथा विकल्पागीको भी प्राप्त होता है तथा हो सकता है। श्रीकृष्णकृन्दाचार्यकी गरदन टेढ़ी थीं इसीसे वे ‘वक्रमीव’ कहलाते थे परन्तु कितने महामति थे यह उनके ग्रन्थोंसे जाना जाता है। अष्टावक्र शृणिके शरीरमें आठ वक्रताएँ थीं वे भी बहुत बड़े ज्ञानी सुने जाते हैं। भगवन् जिनसेनाचार्यने अपने विषयमें स्वयं लिखा है कि वे यथापि अतिसुन्दरकार और अतिच्छुर नहीं थे, फिर भी सरस्वती उनपर मुग्ध थी और उसने अनन्य शरण होकर उनका आश्रम स्थिता था।

इन सब जातोंसे स्पष्ट है कि शरीरादिका कोई बाह्यभेद ज्ञानमें भेद उत्पन्न नहीं करता। ज्ञान आत्माका निजगुण है और इसलिए वह सभी समानरूपसे विकसित आत्माओंमें समान रहता है। उसके विकार तथा न्यूनाधिकताका कारण संसारी जीवोंके साथ लगा कर्ममल है।

किस ज्ञानसे ज्ञेयको जानकर उसे त्याग जाता है

'विज्ञाय दीपसो द्वोत्यं यथा दीपो व्यपोहते ।  
विज्ञाय ज्ञानतो ज्ञेयं तथा ज्ञानं व्यपोहते ॥७८॥  
स्वरूपमात्मनः सूक्ष्मव्यपदेश(श्थ)मव्ययम् ।  
तत्र ज्ञानं परं सर्वं वैकारिकमपोहते ॥७९॥'

जिस प्रकार दीपकसे धोत्य ( प्रकाशनीय वस्तु ) को जानकर दीपकको धोत्यसे अलग किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानसे ज्ञेयको जानकर ज्ञानको ज्ञेयसे अलग किया जाता है। जो ज्ञान आत्माका स्वरूप है, सूक्ष्म है, व्यपदेशरहित अथवा वचनके अगोचर है उसका व्यपोहन—तथा अथवा पृथक्करण—नहीं होता, उससे भिन्न जो वैकारिक—इन्द्रियों आदि द्वारा विभाव दरिणत—ज्ञान है उसको दूर किया जाता है।'

व्याख्या— दीपक जिस वस्तुका धोत्यन—प्रकाशन करता है, उसे 'धोत्य' कहते हैं। दीपक-के प्रकाशकी सहायतासे जब किसी अन्धेरेमें स्थित वस्तुको देखकर ज्ञान लिया तथा प्राप्त कर लिया जाता है, तब फिर दीपककी जिस प्रकार जरूरत नहीं रहती—उसे बुझा दिया अथवा अलग कर दिया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान जिस वस्तुका ज्ञापन-धोत्य करता है उसे 'ज्ञेय' कहते हैं। ज्ञानसे जब ज्ञेयको ज्ञान लिया जाता है, तब उस ज्ञानके व्यापारकी जरूरत नहीं रहती और इसलिए उसे ज्ञेयसे अलग अथवा निर्व्यापारीकृत रूपमें स्थित कर दिया जाता है। जिस ज्ञान को ज्ञेयसे अलग अथवा निर्व्यापारीकृत किया जाता है वह वह ज्ञान नहीं जो आत्माका स्वभाव है, सूक्ष्म होनेसे इन्द्रियोंके अगोचर है, अव्यपदेश्य ( अकाल्य ) होनेसे वचनके अगोचर है और जिसका कभी नाश नहीं होता किन्तु वह ज्ञान है जिसे 'वैकारिक' कहते हैं, और जो इन्द्रियादि-परपदार्थजन्य विकार अथवा विभावको लिये हुए होता है। ऐसे ज्ञानको पिछले पद्य ७६ में 'वौदूरालिक' बतलाया है, वही अपोहन—पृथक्करणके बोग्य होता है। जो ज्ञान स्वाभाविक है ( वैभाविक नहीं ) उसका आत्मासे कभी त्याग या पृथक्करण नहीं होता और न हो सकता है।

विकार हेतुके देशच्छेद तथा मूलच्छेदका परिणाम

स्कन्धच्छेदे परलवाः सन्ति भूयो  
मूलच्छेदे शाखिनस्ते तथा नो ।  
देशच्छेदे सन्ति भूयो विकारा  
मूलच्छेदे जन्मनस्ते तथा नो ॥८०॥

'जिस प्रकार वृक्षके स्कन्ध ( काण्ड ) का छेद होनेपर पते फिर निकल आते हैं किन्तु मूलका छेद होनेपर—जड़से वृक्षको काट डालनेपर—पते फिर नहीं उगते, उसी प्रकार संसारका एक वेश नाश करनेपर विकार फिर उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु मूलतः विनाश करनेपर विकार फिर उत्पन्न नहीं होते।'

१. दीपहस्ती यथा कट्टिलिंगिदालोक्य तं त्यजेत् । ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य परत्वात् ज्ञानमुत्सृजेत् ॥  
—यशस्तिलक । २. सूक्ष्मवृव्यपोहेशमव्ययं ।

**ध्याल्या—**युक्ति के एकदेश-शाखादिका छेद होनेपर जिस प्रकार उसमें नये पत्ते फिरसे निकल आते हैं, उस प्रकार नये पत्तोंका किरसे निकलना मूलच्छेद होनेपर—युक्ति के जड़से कट जानेपर अथवा उखड़ जानेपर—नहीं बनता, यह सभीको प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। इस उदाहरणको लेकर यहाँ संसारके एकदेशच्छेद और मूलच्छेद ( सर्वदेशच्छेद ) के कारण होनेवाले विकारोंकी स्थितिको कुछ स्पष्ट किया गया है—संक्षेपमें इतना ही कहा गया है कि एकदेशच्छेद होनेपर विकार उत्पन्न होते हैं और मूलच्छेदकर उत्पन्न नहीं होते। यहाँ संसारका अर्थ भवभ्रमणका है जिसे 'जन्मनः' पद्मके द्वारा उल्लेखित किया है और उसमें संसारके हेतु भी शामिल हैं। विकारोंका अभिप्राय राग-द्वेषादिक, जन्म-मरणादिक अथवा नये-नये शरीर धारण का है।

### देशच्छेद और मूलच्छेदके विषयका स्पष्टीकरण

देशच्छेदे चरित्रं भवति भवततेः कुर्वतश्चत्ररूपं  
मूलच्छेदे विविक्तं वियदिव विमलं ध्यायति स्वस्वरूपम् ।  
विज्ञायेत्थं विचिन्त्य सदमितगतिभिस्तत्त्वमन्तःस्थमग्र्यं  
संप्राप्तासमार्गं न परमिह पदप्राप्तये यान्ति मार्गम् ॥८१॥

'संसारके एकदेशका—पापरूपका—नाश होनेपर संसारकी परम्पराका विचित्ररूप करता हुआ चारित्र होता है और संसारके मूलका—पाप-पुण्य दोनों कारणोंका—नाश होनेपर आत्मा अपने आकाशके समान निर्मल विविक्त ( कर्मकलंक विमुक्त ) स्वस्वरूपको ध्याता है। इस प्रकार जानकर जो उत्तम ज्ञानके धारक महात्मा हैं उनके द्वारा अन्तरंगमें स्थित प्रधान तत्त्व जो शुद्ध आत्मा है वह विशेष रूपसे चिन्तनीय है ( ठीक है । ) जिन्हें अभीष्ट स्थानकी प्राप्तिका संनिकट मार्ग प्राप्त हो जाता है वे फिर दूसरे भागसे गमन नहीं करते।'

**ध्याल्या—**यहाँ संसारके देशच्छेद और मूलच्छेदके अभिप्रेत विषयको स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि संसारका देशच्छेद होनेपर—संसारके हेतुभूत मिथ्यादर्शनादिक, राग-द्वेषादिक अथवा पुण्य-पापादिका एकदेश नाश होनेपर—जो चारित्र होता है वह संसार-सन्ततिको चित्र-विचित्ररूप देनेवाला अथवा उसे नानाप्रकारसे बड़ानेवाला होता है। प्रत्युत इसके संसारके उक्त हेतुओंका मूलच्छेद होनेपर यह आत्मा अपने उस विविक्त शुद्ध-स्वरूपके ध्यानमें भग्न होता है जो आकाशके समान निर्मल एवं निर्लेप है। इस प्रकार देशच्छेद और मूलच्छेदके स्वरूपको भले प्रकार समझकर जो उत्तम अमितज्ञानके धारक महात्मा हैं उन्हें अपने अन्तरंगमें स्थित प्रधान तत्त्व जो अपना शुद्धात्मा है उसका सविशेषरूपसे चिन्तन-ध्यान करना चाहिए। यह ध्यान अभीष्ट स्थान ( मुक्तिसदन ) की प्राप्तिके लिये आसन्न मार्ग है—सबसे निकटका रास्ता है। और इसलिए जिन्हें संनिकट मार्ग प्राप्त होता है वे फिर दूसरे दूरके अथवा चक्रकरके मार्गसे नहीं जाते हैं। पद्मके अन्तिम चरणमें कही गयी यह बात बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है, और इस बातको सूचित करती है कि अपनी शुद्धात्मके ध्यानसे भिज और जितने भी ध्यानके मार्ग हैं वे सब दूरीके साथ परावलम्बनको भी लिये हुए हैं।

इस पद्ममें प्रयुक्त हुआ 'सदमितगतिभिः' पद भी अपना खास महत्त्व रखता है—उसमें 'गति' शब्द ज्ञानका बाचक होनेसे वह जहाँ अपरिमितज्ञानके धारक महात्माओंके उल्लेखको लिये हुए है वहाँ प्रकारान्तरसे ( इलेश्वरमें ) प्रम्थकार महोदयके नामका भी सूचक है और साथ ही इस सूचनाको भी लिये हुए जान पड़ता है कि आचार्य अमितगतिको शुद्ध

स्वात्मध्यानका यह स्वाधीन मार्ग ही विशेषतः लचिकर और वे प्रायः इसीके अनुसरण एवं हृदीकरणमें प्रवृत्त रहते थे। शायद इसीसे उन्होंने अगले एक पद ( ८३ ) में अपनेको ‘निःसंगात्मा’ लिखा है, जो कि उनकी परके संगसे रहितता एवं स्वावलम्बी होनेका योतक है। इस शुद्धस्वात्माके ध्यानमें दापोको प्रयत्नपूर्वक त्यागनेकी भी जरूरत नहीं रहती, वे तो सबके सब ज्ञानके स्वात्मलीन होनेपर स्वर्यं भाग जाते हैं, जैसा कि प्रत्यक्षार महोदयने अन्यत्र प्रकट किया है; परका सम्बन्ध न होनेसे शुभ राग भी नहीं रहता, जो कि पुण्य-बन्धका कारण है और आत्माको संसारमें फँसाये रखता है। इसीसे जहाँ अहंद्रुक्ति आदि रूपमें राग रहता है वहाँ वह महान् पुण्यबन्धका कारण होता है, जो कि संसारके सुखोंका प्रदाता है, परन्तु उससे कर्मोंका क्षय नहीं होता।

संसारके हेतुओंका देशच्छेद होनेपर जिस चारित्रके उद्घाटकी यहाँ बात कही गयी है वह व्यवहारचारित्र है, जो कि अप्रभसे निवृत्ति तथा शुभमें प्रवृत्तिरूप होता है और जिसे अत, समिति तथा शुभिके रूपमें तीन प्रकारका तथा इनके उत्तरभेदों ( $३ + ५ + ३$ ) की दृष्टिसे तेरह प्रकारका बतलाया है। निश्चयनयकी दृष्टिसे जो चारित्र बनता है वह स्वरूपाचरणके रूपमें होता है, उसे ही यहाँ संसार हेतुओंके मूलच्छेदका परिणाम बतलाया है।

किनका जन्म और जीवन सफल है

हृष्टवा दाक्षमनात्मनीनमखिलं मायोपमं नश्वरं  
ये संसार-महोदधि वहुविधकोधादिनकाङ्क्षलम् ।  
तीत्वा॑ यान्ति शिवास्पदं लग्नार्थं इत्यात्मात्माव्यं रिष्टं॒  
तेषां जन्म च जीवितं च सफलं स्वार्थैकनिष्ठात्मनाम् ॥८३॥

‘जो सारे बाह्य जगत्को अनात्मीय, मायारूप तथा नश्वर देखकर, स्थिर आत्मस्वका ध्यान कर नाना प्रकारके क्रोधादि नाकुओंसे भरे संसार-समुद्रको तिरकर सुखमय शिवस्थानको प्राप्त होते हैं उन आत्मीय स्वार्थको साधनमें एकनिःष्ठा ( अद्वितीय शदा ) रखनेवालों ( महात्माओं ) का जन्म और जीवन सफल है।’

छ्याल्या—यहाँ जिनके जन्म और जीवनको सफल बतलाया है वे वे महात्मा होते हैं जो सारे बाह्य जगत्को अनात्मीय ( अपना कोई नहीं ) मायाजल तथा इन्द्रजालके समान भ्रामक और शृणभंगुर देखकर—साक्षात् अनुभव कर—अपने शाश्वत आत्माके स्वार्थ-साधन-में—विभाव-परिणमनको हटाकर उसे स्वात्मस्थित करनेमें—एक निष्ठासे तत्पर हुए, शुद्ध आत्मतत्त्वके ध्यान-द्वारा क्रोधादि कषायरूप नाकुओं ( मगरों ) से भरे हुए संसार महासमुद्रको तिरकर शान्तिमय शिवस्थान अथवा ब्रह्मपदको प्राप्त होते हैं।

ग्रन्थ और ग्रन्थकारके अभिप्रेतरूप प्रवालित  
हृष्टवा सर्वं गगननगर-स्वप्न-मायोपमानं  
निःसङ्कात्माप्रितगतिरिदं प्राभृतं योगसारम् ।

१. हिस्तवं दितयं स्तेयं मैथुनं संगसंग्रहः । आत्मरूपगते जाने निःशेयं प्रपलायते ॥ यो० प्रा० ३७ ॥

२. यो विहायात्मनो रूपं सेवते परमेतिनः । स वध्नाति परं पुण्यं न कर्मक्षयमश्नुते ॥ यो० प्रा० ४८ ॥

३. अमुहादो विणिवित्तो मुहे पवित्री य जाण चारितं । वड-समिदि-गुतिरूपं वक्ष्वाणया दु जिण-भणियं ॥—वृहद्वद्यसंधि, ४५ । ४. मु शिवमयं ।

**ब्रह्मप्राप्त्यै परममकृत<sup>१</sup> स्वेषु चात्म-प्रतिष्ठं  
नित्यानन्दं गलित-कलिलं सूक्ष्मभृत्यक्ष-लक्ष्यम् ॥८३॥**

‘सारे बृह्य जगत्को आकाशमें आदलोंसे बने हुए नगरके समान, स्वप्नमें देखे हुए बृह्योंके सूक्ष्म तथा इन्द्रियालमें प्रदर्शित मात्राभय चित्रोंके हुख्य देखकर निःसंगात्मा अमितगतिने उस परम अत्युपको प्राप्त करनेके लिए जो कि आत्माओंमें आत्म-प्रतिष्ठाको लिये हुए है, कर्म-मलसे रहित है, सूक्ष्म है, अमूलिक है, अतीविद्य है और सदा आनन्दकष्ट है, यह योगसार प्राभूत रक्षा है, जो कि योग-विषयक पन्थोंमें अपनेको प्रतिष्ठित करनेवाला योगका प्रमुख प्रन्थ है, निर्बोध है, अर्थकी दृष्टिसे सूक्ष्म है—गत्वादीत है...अनुभवात् विषद् है तीत इत्यादित्यम् है...पूरको पदने-सुननेसे सदा आनन्द मिलता है।’

**व्याख्या**—यहाँ प्रन्थकार महोदयने प्रन्थके कर्तृत्वादिकी सूचना करते हुए प्रन्थका नाम ‘योगसारप्राभूत’, अपना नाम ‘अमितगति’ और प्रन्थके रचनेका उद्देश्य ‘ब्रह्मप्राप्ति’ बतलाया है। ब्रह्मप्राप्तिका आशय स्वात्मोपलक्षित्यका है, जिसे ‘सिद्धि’ तथा ‘मुक्ति’ भी कहते हैं। और जो उस्तुतः सारे विभाव-परिणमनको हटाकर स्वात्माको अपने स्वभावमें स्थित करनेके रूपमें है—किसी परपदार्थ या व्यक्ति-विशेषकी प्राप्ति या उसमें लीनताके रूपमें नहीं। इसी उद्देश्यको प्रन्थके प्रारम्भिक भैगल-पद्यमें ‘स्वस्वभावोपलक्ष्यम्’ पद्यके द्वारा व्यक्त किया गया है, उसका मुख्य विशेषण भी ‘स्वस्वभावमय’ दिया है। इससे स्वभावकी उपलक्ष्य रूप सिद्धि ही, जिसे प्राप्त करनेवाले ही ‘सिद्ध’ कहे जाते हैं, यहाँ ब्रह्मप्राप्तिका एक मात्र लक्ष्य है, यह असन्दिग्धरूपसे समझ लेना चाहिए।

प्रन्थकारने अपना विशेषण ‘निःसंगात्मा’ दिया है जो पढ़ा ही महत्वपूर्ण है और इस बातको सूचित करता है कि प्रन्थकार महोदय केवल कथन करनेवाले नहीं थे किन्तु प्रन्थके कथन एवं लक्ष्यके साथ उन्होंने अपनेको रौंग लिया था, परपदार्थोंसे अपना भमत्व हटा लिया था। उन्हें अपने संघका, गुरु-परम्पराका तथा शिष्य-समुदायका भी कोई मोह नहीं रहा था, इसीसे शायद उन्होंने इस अवसरपर उनका कोई उल्लेख नहीं किया। उनका आत्मा निःसंग था, परके सम्पर्कसे अपनेको अलग रखनेवाला था और इसलिए उन्हें सर्वचे अर्थमें ‘योगिराज’ समझना चाहिए। जो सत्कार्योंका दूसरोंको जो उपदेश देते हैं उनपर स्वयं भी चलते-अमल करते हैं वे ही ‘सत्पुरुष’ होते हैं। उन्हींके कथनका असर भी पड़ता है।

इस पद्यमें ‘परमब्रह्म’के जो विशेषण दिये गये हैं वे ही प्रकारान्तरसे प्रन्थपर भी लागू होते हैं और इससे ऐसा जान पड़ता है कि यह प्रन्थ अपने सूक्ष्मके विलकुल अनुरूप बना है। उदाहरणके लिए ‘नित्यानन्द’ विशेषणको लीजिए, इस प्रन्थको जब भी जिघरसे भी पढ़ते-अनुभव करते हैं उसी समय उधरसे नया रस तथा आनन्द आने लगता है। और इसीलिए इस प्रन्थको ‘रमणीय’ कहना बहुत ही युक्तियुक्त है। रमणीयका स्वरूप भी यही है—“पद्य-पदे यन्त्रवसामुपैति तदेव रूपं रमणीयताम्”—पद्य-पदपर जो नवीन जान पदे वही रमणीयताका स्वरूप है। जबसे यह प्रन्थ मेरे विशेष परिचयमें आया है तबसे—तत्त्वानु-शासन ( ध्यानशास्त्र ) का भाष्य लिखनेके समयसे—मैंने इसे शायद सौ बारसे भी अधिक पढ़ा है और इसकी सुन्दरता, सरलता-गम्भीरता तथा उपयोगिताने ही मुझे इसका भाष्य लिखनेको और प्रेरित किया है।

१. मु परमकृत । २. सिद्धि: स्वात्मोपलक्ष्यः ( पूर्ज्यपादाचार्य ) ।

योगसारमिदमेकमानसः प्राभृतं पठति योऽभिमानसः ।  
स्व-स्वरूपमुपलभ्य सोऽश्चित् सम्य याति भव-दोष-वश्चित्प्र ॥८॥

इति श्रीमद्भिरुद्धिनिःसंग योगिराज-चिरचिते योगसार-  
प्राभृते चूलिकाधिकारः ॥ ९ ॥

‘इस योगसार प्राभृतको जो एक चित्त हुआ एकाग्रतासे पढ़ता है वह अपने स्वरूपको जानकर तथा सम्प्राप्त कर उस पूजित सदनको—लोकाश्रके निवासरूप पूज्य मुक्ति फलको—प्राप्त होता है जो संसारके वौषट्से रहित है—संसारका कोई भी विकार जिसके पास नहीं फटकता ।’

**व्याख्या**—यह अन्थका अन्तिम उपसंहार-पद्य है, जिसमें ग्रन्थके नामका उल्लेख करते हुए उसके एकाग्रचित्तसे पठनके-अध्ययनके-फलको दरशाया है और वह फल है अपने आत्म-स्वभावकी उपलब्धिभूमि ( जानकारी ) और सम्प्राप्ति—जो कि सारे संसारके वौषट्से-विकारोंसे-रहित है और जिसे प्राप्त करके यह जीव इसना ऊँचा उठ जाता है कि लोकके अप्रभागमें जाकर विराजमान हो जाता है, जो कि संसारके सारे विकारोंसे रहित—सारी ज्ञानशृण्डों तथा आकुलताओंसे मुक्त—एक पूजनीय स्थान है ।

आत्माके इस पूर्ण-विकास एवं जीवनके चरम लक्ष्यको लेकर ही यह ग्रन्थ रचा गया है, जिसका ग्रन्थके प्रथम मंगल पद्यमें ‘स्वस्वभावोपलब्धये’ पद्यके द्वारा और पिछले ८३वें पद्यमें ‘ब्रह्मप्राप्त्ये’ पद्यके द्वारा उल्लेख किया गया है और इसलिए वही उहिट्ठ एवं लक्ष्यभूत फल हूस ग्रन्थके पूर्णतः एकाग्रताके साथ अध्ययनका होना स्वाभाविक है । अतः अपना हित चाहनेवाले पाठकोंको इस मंगलमय प्राभृतका एकाग्रचित्तसे अध्ययन कर उस फलको प्राप्त करनेके लिए अप्रसर होना चाहिए जिसका इस पद्यमें उल्लेख है ।

इस प्रकार वी अवितरिति निःसंग योगिराज-चिरचित योगसार प्राभृतमें,  
चूलिकाधिकार नामका नौवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥ ९ ॥



## भाष्यका अन्त्यर्मगल और प्रशस्ति

रत्न-हेष-कामादि जीत जिन, स्वरूपभावको अपनाया;  
निरवधि-सुख-हंग शानदीर्थ-मय, परम मिरजन-पद पाया ।  
दिघ्यद्वनि से तीर्थ प्रवतित किया मोक्ष-पथ दर्शाया;  
उन योगीइवर महावीर का सुर-तर मिलकर यश गाया ॥ १ ॥  
महावीर के तीर्थ-प्रत्येक स्थानादिनि-विद्वाधिप सार;  
कविवर गमक-वाच्मि-वादीववर भावि तीर्थकर गुण-आधार ।  
जिनकी भक्ति-प्रसाद थना यह रुचिर-भाष्य जग का हितकार;  
उन गुह स्वामि-समन्तभद्र को नमन कर्ते मैं बारंबार ॥ २ ॥  
अल्प सुद्धि 'पुणवीर' न रखता योग-विषय पर कुछ अधिकार;  
आत्म-विकास-साधना का लख, योग-सिद्धि को मूलाधार ।  
निःसंगत्म-अस्तित्व-निमित, योगसार प्राभूत सुख-द्वार;  
उससे प्रभवित-प्रेरित हो यह, रक्ता भाष्य आगम-ग्रनुसार ॥ ३ ॥  
पद्म-पद्माखे सुर्भे-सुनावे जो इसको आदर के साथ;  
प्रसुवित होकर उसे इसी पर, यावें सदा आत्म-गुण-गाय ।  
आत्म-रमण कर स्वात्म-गुणों को, औ' ध्यावें सम्यक् सविचार;  
दे मिज आत्म-विकास सिद्ध कर, यावें सुख अद्वितीय-अदिकार ॥ ४ ॥

इति योगसार प्राभूतं समाप्तम् ।

## परिशिष्ट

### १. योगसार-नामृतकी पद्मानुक्रमणिका

अ	आ	उत्तमाहो निरचयो धैर्ये	१४९
अहृत्यं तुष्यियः कृत्यं	१५३	आगमेनानुमानेन	१५०
अवशासार्थतो भिन्नं	२१०	आगमे प्राणवटी कुडि-	१८७
अवेतनं ततः सर्वं	११४	आगम्यागोविनिष्ठानां	१११
अचेतनत्वमज्ञात्वा	७२	आवारबेदने शानं	२७
अश्रीवत्स्वं त विवल्लि	६४	आत्मतत्त्वमज्ञानाना	१५२
अज्ञानी वस्त्रते यथा	१२२	आत्मतत्त्वमपहस्तितराणं	११५
अत्तर्वं मन्यते तत्त्वं	६१	आत्मतत्त्वरक्तो योगी	११७
अतीतायाविनश्चार्थाः	२०	आत्मध्यानरतिशयं	१५१
अतोऽप्रव भृत्यान् यतः	१४६	आत्मना कुहते कर्म	६३
आदरत्वावते भूमि	१५७	आत्मनोऽन्वेषणा येषां	१७९
आध्येत्ववं स्तिमिदमनसा	१६३	आत्मनो ये परीणामाः	२०९
आनादायापि सम्भवे	६२	आत्मानं कुहते कर्म	६९
आनादिरात्मनोऽभूत्यो	२०२	आत्मनः सकलं वाह्यं	१०४
आनिर्यं शीढकं तुण्णा-	७७	आत्मावदोषतो नून-	१२६
आनुवन्धः सुखे दुःखे	१२५	आत्मव्यवस्थिताः यान्ति	२०८
आनुष्ठानास्यवं ज्ञानं	२०६	आत्मा स्वास्मविचारजी-	२३
आन्तःशुद्धि विना वाह्या	१७०	आप्तिष्ठाभिजराजासि-	१५२
आन्याकारप्रतावृत्तः	१२०	आनन्दो जायतेऽप्यत्मं	१३५
आन्योऽन्यस्य विकल्पेन	१०५	आराघनाय लोकानां	१६३
आनन्ददेशः श्रीमान्	१५७	आरम्भोऽसंयमो मूर्च्छा	१७२
आनादे बन्धुहेतुमा	१३५	आराघने यथा तस्य	१६७
आनिष्टमात्मनः शुद्धं	२६	आश्रित्य अवहारकं	१५९
आनूर्ति निषिकायाः सर्वं	३८	आसमस्मि अविष्यामि	६७
आपलन्दारिणो हिसा	१६८	आहारमूरुषि पाप्यो	१८४
आयं मेऽनिष्टमिष्टं वा	१०५	आहारादिभिरम्येन	८७
आर्थकादाविद्वानेन	१८६		
आर्द्धशादो परा भक्तिः	९१	इ	
आकाशुभाजनं वस्त्रं	१७२	इत्यं थोगो व्यवगत-	१३३
आवकाशं प्रदद्धुन्नतः	३७	इत्यं विज्ञाय यो योहं	१०७
आशाने शयने स्वाने	१६३	इत्यं वित्रिं विद्विना	११५
आसंस्था भुवनाकाशी	४४	इहोऽपि योहतोऽनिष्टो	१०६
आसन्त्वते भरता दशी-	११		
आहृनहिमं त कस्यापि	१२३	ब	
आहृसा सत्यप्रस्तीय	२५	बत्यश्चले यथा भावाः	७४
		बत्यश्चतो विमहस्यि	१००

कर्मव भित्तते नास्य	१४१	मुण्डमेदं सदलस्य	१६१	ज्ञानवैश्वेतनः शुद्धो-	१०९
कलमप्रथमतो भुक्ति-	१६४	वातिकर्म लघोत्पन्नं	२१	ज्ञानस्थं ज्ञानभजान-	१२८
कलमवागमवद्वार	१६	च		ज्ञानिना सकार्णं इत्यं	२८
कलमथाभावतो जीवो	२१०	चयुग्मलघवारुपं	१७	ज्ञानी जेये भवत्यज्ञो	१३८
कलमषोदयतो भासो	५१	चट्टुकेन यथा भोज्यं	१३०	ज्ञानीति ज्ञानपर्यायो	८९
कथायपरिणामोऽहित	७३	चतुर्धि दर्शनं तत्र	७	ज्ञानी निर्मलतां प्राप्तो	१३२
कथायविकथानिद्रा	१७९	चारित्र-दर्शनं-ज्ञान-	१८१	ज्ञानी विषयभेदेऽपि	८६
कथायलोतसागत्य	७०	चारित्रादिव्यं दोषं	८५	ज्ञानी विषयसंगेऽपि	८६
कथायाकुलितो जीवो	९७	चारित्रं भारतः सार्वोः	१२५	ज्ञानोद लःसितो ज्ञाने	१३२
कथायादिमयो जीवो	२१४	चारित्रं दर्शनं ज्ञान-	२६	ज्ञाने विशेषिते ज्ञान-	१३१
कथाया नोपमोगेभ्यः	७२	चारित्रं दर्शनं ज्ञानं	८५	ज्ञानं वैष्यिकं पुसः	२२१
कथायेभ्यो यतः कर्म	९६	चारित्रं विदधानोऽपि	१२०	ज्ञानं स्वात्मनि सर्वेण	१२९
कथायेशयतो जीवो	१२४	चित्ताभ्यक्तस्तीक्र-	२०२	ज्ञेयलक्षणेण विज्ञाय	१३०
कान्तारं पतितो दुर्गे	१८८	चिन्त्यं चिन्तामणिं दर्शते	१४७		
काये प्रसीष्मानेऽपि	६०	चेतनैऽचेतने द्रष्ट्ये	६८		
कारणं निर्वृतेरेतत्त्वादित्रं	१९४	चेतनः कुरुते भुद्धके	१०३	ततः पृष्ठभवा भोगाः	२०१
कार्य-कारण-भावोऽयं	६९	चेतन्यमात्मनो रूपं	१३८	ततः शुभाशुभी हित्या	२१६
कालुष्याभावतोऽकर्म	२०९			सती भवन्ति रागात्माः	९०
कालुष्यं कर्मणो ज्ञेयं	२१४			तत्त्वतो यदि जायन्ते	१०१
किवित्संभक्ति दक्षं	४१	अस्ममुत्युजरारोगा	१४८	तथात्मनि दिव्याः-ज्ञानि-	१९९
कुरुकेऽभिनिवेशोऽतो	१५४	ज्ञायन्ते मोहलोभाग्या	७८	तथापि तस्य तत्रोक्तो	१६९
कुवणिः कर्म चात्मायं	१०८	जीमूलापग्ने चन्द्रे	११९	तद्वक्षणादिसंबादा	१५३
कुर्वणः परमात्मानं	७४	जीवः करोति कर्मणि	५३	तस्मात्सेव्यः परिज्ञाय	२९
कुलजातिचयोदेह	१७८	जीवतस्वनिलीनस्य	५	तस्माद्भावीयभिः उद्देश्	१८६
कुताना कर्मणः पूर्वं	१११	जीवस्य निष्क्रियस्य	७०	साम्येव ज्ञातयुक्तिं	१९०
कोपादिभिः कृतं कर्म	५६	जीवस्याद्विद्वादकं कर्म	७०	तुङ्गारोहणतः पातो	१६७
कोऽपि कस्यापि कर्तस्ति	८४	जीवस्यौदयिको भावो	२२०	तेनात्मभावताम्बासे	२१३
क्षायिकं शामिकं ज्ञेयं	११	जीवानोवद्वयं त्यवत्वा	४	सेषु प्रवर्तमानस्य	६७
क्षायोपशमिकं ज्ञानं	३५	जीवाना पुद्गलानो च	४६	त्यक्तान्तरेरत्न-प्रस्थो	११८
क्षायोपशमिकं ज्ञानं	१९	जीवितं मरणं सौर्यं	४७		
क्षायाम्भस्त्यागतः क्षेत्रे	१५३	जीवेत सह पञ्चायि	३९		
क्षोरक्षिसं यथा भीर	१६	ज्ञाते निवणितत्वेऽस्मिन्	१९३	दण्डचक्र-कुलालादि-	२१४
		ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं	१११	दक्षीयांसमयि ज्ञान-	१८
		ज्ञानदृष्टिचरित्रायि	१००	दीयमानं सुखं दुःखं	८९
		ज्ञानदृष्टयावृती वैर्ण	५१	दुखःको दिस्यता त्याज्याः	९०
		ज्ञान-प्रसागमात्मानं	१२	दुरितातीत त ज्ञाने	१४३
		ज्ञानजीवं परं प्राप्य	१५१	दूरीकृतक्षयायस्य	११७
		ज्ञानमात्मानमर्थं च	१८	दृश्यते ज्ञायते किञ्चिद्	६१
		ज्ञानवेत्यपि चारित्रं	१६१	दृष्टिज्ञानस्वभावस्तु	११७
		ज्ञानवस्तुः सदा वाह्य-	२०५	दृष्ट्वा वाह्यमनामनीन-	२२४

दृष्टवा सर्वे गगननार-	२२४	न यत्र विद्यतेऽस्तुः	१७३	परद्रव्यवहिर्भूतं	६
देहत्तेषु च अस्ति वै-	२२३	न शश्यत्युत्पवयते भावः	४१	परद्रव्यं गतैर्दीर्घं-	८७
देहत्तेषु च अस्ति वै-	२१६	न संसारो न शोकोऽस्ति	७३	परद्रव्यो भवत्यात्मा	३२
देहत्तेषु च अस्ति वै-	५८	नामकक्षणश्चयते कर्म	२१	परद्रव्यं पश्या सङ्क्षिः	१३१
देहसंहतिसंद्यान-	५७	नामवेत्तमें स्तुते देहे	६०	परलोकविवौ शास्त्रं	१५५
देहसंहतिसंद्यान-	२१२	नाशने ज्ञानपर्यायाः	८८	परस्पाचेतनं गात्रं	९९
द्रव्यतो भोजकः वदिवद्-	११८	नामकसा ववसा क्लोऽसि	१०४	परिणामाः कथायाद्याः	२०९
द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति	११३	नामगत्तमचिन्तनाद्यः	१४९	परेण विद्वित्तं कर्म	६९
द्रव्यमात्रत्वत्तद्वत्त्वं	११३	नामत्वो वा विषादी वा	१०५	परेण सुखदुःखानि	७१
द्रव्यमात्रत्वत्तद्वत्त्वं	४२	नामवा शक्यते कर्तुं	२११	परं वामोपयोगाय	५९
द्रव्यते गुणपर्याये-	४०	नाम्यद्रव्यपरीणाम-	७१	पवित्र-दर्शन ज्ञान-	११०
		नाम्योन्नश्चगुणकर्तुत्वं	७३	पश्याद्यचेतनं गात्रं	९९
		नामात्रो मुक्त्यवस्थायाः	१९८	पश्यस्तो जन्मकान्तारे	९४
धर्मतोऽपि भवो भोगो	२०४	नामुना जन्मवा स्वीकाराः	१७५	पादमुत्क्षपतः साधो-	१६९
धर्मविर्म नमः काल-	३७	नामित्र वेदः स्वर्ण तद	१६८	शश्यत्वम् परित्यज्य	७८
धर्मविर्मकजीवान्ता	४२	नार्हं भवत्तमि कस्य दि	१५७	पिण्डः पाणिगतोऽन्यस्मै	१८३
धर्मधर्मी स्थितो व्यप्य	४४	निश्चानुप्राप्ते कर्तुं	९८	पुत्रवारादिके द्रव्ये	७२
धर्मविक्रियाणाः सा	१६३	निजरूपं पुनर्वर्णिति	१०७	पुद्गलानां यजादानं	८०
धर्मेण वातिको जोवो	१३२	निष्यानित्यात्मके जीवे	१०२	पूर्वोत्तराजितकर्मक-	११६
धुनाति अणतो योगो	१९९	निन्दिकत्वं प्रतीक्ष्ये ( श्वे ) वृ १४	प्रकृतिश्च लिप्तिश्चेष्यः	८०	
ध्यानस्थेदं फलं मुख्य-	१४६	निरर्थकस्त्रभावत्वे	१९८	प्रकृतेऽचेतनत्वे स्वाद्	१९८
ध्यानं विनिर्मलज्ञानं	२००	निरस्तमन्मयात्मकं	२००	प्रकृष्टं कुरुतः साधो-	१५९
धीर्घोत्तरादलयात्मा	४०	निरस्तारेसंयोगः	१४३	प्रश्नयः पक्षजातायाः	११६
		निराकृतपरारेत्वं	१५६	प्रतिबन्धो न देशादि-	१३९
		निर्विणक्षितं तत्त्वं	१९१	प्रतिबिम्बं यथादर्शं	१३२
न कर्म हन्ति जीवस्य	२१२	निर्विणे परमा भक्तिः	२०५	प्रतीयते परोक्षेण	१२९
न कुञ्चाप्यग्रहस्तत्त्वे	२०७	निर्वृतेरनुकूलोऽवका	१९५	प्रदशितमनुष्ठान-	१२२
न ज्ञानजातिनोभवो	१२८	तिथ्यंपारीकृतास्तप्य	२२	प्रदेशा न प्रसोऽनन्ताः	४४
न ज्ञानादिगुणाभावे	१४३	नियिद्य स्वार्थतोऽक्षाणि	२३	प्रमत्तादिगुणस्थान-	५८
न ज्ञानी लिप्यते पापे-	२०६	निरक्षयायो निरारम्भः	१७	प्रभादमयमूर्तीनां	१७१
न ज्ञानं प्राकृतो धर्मो	१४२	निष्प्रसादतया पात्या	१५८	प्रभादो स्वज्ञति ग्रन्थं	१६९
न दोषमलिने तप्त	१३६	निसर्गः प्रकृतिस्तत्र	८०	प्रब्रज्यादायकः सूर्वः	१५९
न दोषेण विना नार्थो	१७६	नीरागोऽयमुक्ते द्रव्यं	८५	प्रसस्तो भण्यते तत्र	९१
न द्रव्य-गुण-पर्यायाः	१०४	नीरागो विषयं योगो	८७	प्रहीणस्वारपवोदस्य	१७
न निन्दास्तुतिवचनानि	१०४				
न निर्वृतः सुखीभूतः	१४१				
न निर्वृतिं गतस्यात्ति	६१	पक्वेऽपक्वे सदा मसि	१८१	प्रडिशामिष्यवच्छेदो	१५२
न भक्तिर्यस्य तत्रात्ति	१८७	पञ्चवाक्षविषयाः किञ्चित्	१०३	प्रहृजीवप्रघातोत्थं	१८१
न मस्तुत्यं गुह्यं मवत्या	१५७	पतितो भवत्तान्तारे	१८८	प्रहृष्टा भिष्यते सोऽवि	१८८
न मोहप्रभृतिच्छेदः	१५६	पदार्थानां निष्पत्तानां	४७	प्रालो वृहस्तपोरजामस्	१८४

## योगसार-प्राभृत

वाह्यमाम्बन्तरं देवा	११९
बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि	१२०
बुद्धिमकाशयां तत्र	१२१
बुद्धिज्ञनमसंमीहस्	१८९
बोधरोधः शामापायः	१५४

भ

भवाभिनन्दिनः केचित्	१६२
भवं बद्धिति संयोगं	१४५
भावेषु कर्मजातेषु	१९१
भावः शुश्रोऽलभः शुश्रः	२१६
भूखा निराकृतच्छेद-	१५९
भोगसंसारनिवैदो	२०५
भोगांस्तत्त्वयित्या पद्यन्	२०३
सोगं कहिवदभु जानो	२१७

भ

मतिः श्रुतावधो ज्ञाने	७
मत्तश्च तत्त्वतो शिभ्यं	९९
मत्यशासश्रुताज्ञान-	७
मनुष्यः कुरुते पृथ्यं	१०२
मनो-त्रिवौ-वपुः कर्म	२१४
मया त्यस्य ममान्येन	१००
मयोद्देव कार्मणं द्रव्यं	६७
मरणं जीवनं दुःखं	८२
महाकृत-समित्यक्ष-	१५७
मासे पवरमपवरं वा	१८१
मायाभ्यो मन्यते३स्त्वं	२०३
मायातोऽप्यमा भोगा	२०४
मायामयौषधं शास्त्रं	१८७
मायाभ्यो मन्यते३स्त्वं	२०५
मिथ्याज्ञाननिविष्ट्योग-	
जनिताः	७९
मिथ्याज्ञानपरित्यक्षम्	११२
मिथ्याज्ञानं मर्तं तत्र	९
मिथ्यात्वमिथ्यसम्बन्ध-	११
मिथ्यादृक्त्वमवारितं	६६
मिथ्यादृक् सासनो मिथ्यो	५७
मुक्तिमार्गपरं चेतः	११४
मुक्त्वा वाद-प्रवादाद्य-	१४८

मुक्त्वा विविक्तमात्मानं	१२३
मूढा लोभपराः कूरा:	१६३
मूर्तिमूर्ते विषा द्रव्यं	४९
मूर्तो भवति मुख्यानः	९२
मूर्तो अवत्यमूर्तोऽपि	९२
मौद्यामि त्रिष्टुपां येता-	१७४
मोहेन मलिनो जीवः	१०७

अ

य एव कुरुते कर्म	१०२
यः करोति परद्रव्ये	२६
यः कर्म मन्यते३कर्मा	२१५
यः पृथ्यपाप्योमूऽलो	७७
यः षडावश्यकं योगी	११२
यः स्वशक्तिप्रभावाद्वाच्या	१८०
यतः समेऽप्यनुष्ठाने	१८८

यतः संपदते पृथ्यं

यशपूच्चास्यन्तरं पापे:

यत्र प्रतीष्यमानेऽपि

यत्र लोकद्वयायेका

यक्षासत्यखिलं व्याप्त्वा

यत्सर्वद्रव्यसंदर्भे

यस्त्वर्विवरिष्ठं यत्

यस्तुलं सुराज्ञानं

यत्ता कुरुते यो जातु

यथा चन्द्रे स्थिता कान्ति-

यथा वस्तु तथा ज्ञानं

यथावस्तु परिज्ञानं

यथेहामयमुक्त्वय

यथोदकेन वस्त्रत्वं

यदात्मीयमनात्मीयं

यदाप्रतिपरीणामं

यदात्मित कलुयाभावो

यदि चेत्पितुः सन्ति

यद्यात्मनोऽधिकं ज्ञानं

यग्नुपादानभावेन

यम्मुक्ति गच्छता त्याज्यं

यश्वरस्यात्मनात्मान-

यस्य रागोऽनुभावेण

यस्यैहूलोकिकी नास्ति

या 'जीवयामि जीवेहं'	८४
दुर्घटे रजसा नात्मा	२१३
येन येनव भावेन	२१३
येन रत्नवर्ये साधी-	१७८
येनार्थो ज्ञायते तेन	१२९
ये मूढा लिप्सदो मोक्षे	३१
योगसारमिदमेकमानसः	२२६
योगी प्रदत्त्वपि कायेषु	१७०
योगेन ये समायान्ति	५१
यो जीवाजीवयोर्वेति	५
योज्यमानो यथा मस्त्रो	१४७
योऽन्यत्र बोक्षते देवं	१२३
यो विहायात्मनो रूपं	३०
यो व्यावहारिको व्यगो	१७९
यो व्यावहारिकाः पत्नाः	१९४
योगपदेन जायेते	९

र-ल

रत्नप्रथमये इतानं	११८
रत्नप्रथमये शुद्धं	११०
रत्नप्रथे हृषीं जीवः	१०६
रागहो द्वेषतो भावं	७५
रागद्वेषद्वयालीढः	८८
रागद्वेषमिवृत्तस्य	२१९
रागद्वेषप्रपञ्चात्ममदमदन १९६	
राग-द्वेष-मद-क्रोष-	३३
रागद्वेषापराधीनं	२४
रागमत्सरविवेष-	७४
रागाद्वयः परीणामाः	२०८
रामिणः सर्वदा दीपाः	२२०
रागीभोगमसुज्ञानो	२१८
रीधस्तत्र कषायाणा	९६
लोका संख्येष्वभागाद-	४५

व

वर्ण-गच्छ-रस-स्पर्श-	३२
वर्ण-गच्छ-रस-स्पर्श-	९८
वस्त्रवन्यवा परिलङ्घेतो	१०
वादानां प्रतिवादानां	१४६
विकारामिविकारवं-	२०६

विकारा: सन्ति मे केविष्	५२	शरीरमिहिये दथं	१०१	षांसारिकं सुखं सर्वे	७७
विकारं नीयमासोऽपि	९२	शरीर-योगतः सन्ति	३३	सुखासुख-विधानेन	९४
विचित्रा देशना तत्र	१९३	शशाङ्कामलसम्यक्त्वा:	१७७	सुखति दुर्गतिं ग्रासः	९०
विचित्रं चरणाचारं	१२३	शान्तस्तप्तमोऽकुस्थो	१७७	सूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैलोकः	४९
विज्ञातथ्यं परद्रव्य-	१२७	शुद्धजाने मनो नित्यं	२०३	सूक्ष्मः शान्तः परः औणो	५७
विज्ञाय दीपतो छात्यं	२२२	शुद्धरत्नत्रयोः पीणी	१६०	सूक्ष्मोऽभिति गृह्णान्व्	१७२
विज्ञायेति तपोद्रव्यं	१०१	शुभाशुभ-परद्रव्य-	१०८	सोऽद्योगमनारम्भं	१५६
विज्ञायेति निराकृत्य	११३	शुभाशुभविकर्त्त्वेन	१२२	संज्ञानादिवशायो यो	१६७
विदधाति परो जीवः	१०२	शुभाशुभविष्टुद्देषु	११९	सम्बन्धमसन्तं च	१९
विदधानः परीणामं	८२	शुभाशुभस्य भावस्य	६८	सन्ति रागादयो यस्म	९१
विदन्ति दुष्यियो वेदां	१३०	शुभाशुभोपगोगेन	६५	सत्यसंस्मोहहेतुनि	९०
विमिवृत्यार्थतदिव्यतं	२१६	शुष्काशुष्काः यथा चुक्षा	११६	संयमो हृत्यते येन	१७४
विप्रखस्त्री यथा लक्ष्मी-	२०४	शैविलयमार्तवं चेत-	१७६	संयमो हीयते येन	१६४
विभक्त-चेतनाद्यात-	१४७	शित्वा जीवपरीणामं	६९	संबरेण विना साथो-	११७
विभावसोरिवोष्टस्वं	१३८	इवाभ्रतिर्यङ्गस्त्रवणि-	७६	संसाइः पुत्रवारादिः	१६१
विभिन्ने साति दुर्भेद	१३६	स		संसारवत्तिनोऽन्योग्य-	४६
विभेदं लक्षणं दुर्द्व्या	१४३	स चित्ताचित्तमिथाणां	८१	संसारी कर्मणा युक्तो	१४४
विमुक्तो लिवृतः सिङ्गः	१९२	स चित्ताचित्तयोद्दिवद्	६६	स्फन्धक्षेत्रे प्रलभाः सन्ति-	
विमुक्त्य विविधारम्भं	१५६	स तिष्ठति ययोद्दिवलो	२०४	भूयो	२३२
विमूढो नूत्रप्रसार्य-	२१८	समस्तारम्भहीनोऽपि	८२	स्फग्यो देशः प्रदेशोऽप्यु	४८
विविक्तस्ययं सिङ्गं	९	सम्यक्त्वज्ञानादित्वं	२७	स्पापनं चालनं रक्ता	१७२
विविक्तमान्तरायोहि-	२०७	सरागो वृथते पापैः	८६	स्पावराः कार्मणाः सन्ति	२०८
विविक्तमिति चेतनं	१५४	सरागो जीवमाणित्य	५५	स्पूर्यते शोष्यते नात्मा	१२६
विविक्तात्मपरिज्ञानं	२००	सर्वज्ञमविकाराणां	२०३	स्वकीयगुणकर्तृत्वं	७३
विविषः पुद्गलाः इन्द्राः	५३	सर्वज्ञेन यतो दृष्टे	१९३	स्वतत्त्वरक्षये नित्यं	१२७
विविषं द्रुष्टा वर्णं	१४३	सर्वज्ञः सर्वदर्शी च	१४०	स्वतीर्थमपलं हित्वा	१२४
विशुद्धदर्शनज्ञान-	९७	सर्वज्ञ प्राप्यते पापैः	१२४	स्वदेहोऽपि न मे प्रस्त्व	१००
विषयसुखतो यथावृत्य	९५	सर्वज्ञ यः सद्बोक्षास्ते	२१९	स्वयमात्मा परं द्रव्यं	१०६
विषयानुभवं याहुं	२२०	सर्वज्ञा ज्ञायते तस्य	१९७	स्वरूपमात्मनो भाव्यं	१२६
विषयर्विषयस्थोऽपि	२१५	सर्वज्ञपापारहीनोऽपि	८२	स्वरूपमात्मनः सूक्ष्मं	२२२
विषयं पञ्चष्ठा ज्ञानी	२१८	सर्वे भावाः इवावेष	२११	स्वसंविदितमत्यक्ष-	२६
विषावः प्रमदो मूर्खो	१७५	सर्वेषु यति न शाने	२०	स्वात्मानमिष्टुभिर्हातुं	१२५
विषावुनिगोचणि	१४०	सर्वं परदर्शी दुःखं	२००	स्वार्थव्यावर्तिताक्षोऽपि	
श		सर्वं पीदगलिकं वेत्ति	१०८	विषयेषु	२१७
शब्दो नेतुं सुखं दुःखं	९८	सहकारित्वा द्रव्य-	८४	स्वार्थव्यावर्तिताक्षोऽपि	
शब्दस्ते न गुणाः कर्तुं	१००	साक्षादतीमिद्यामर्थान्	१३७	निरुद्ध-	२१७
शक्तवः पितृरी दाराः	९९	साधुर्यतोऽज्ञित्वातेऽपि	१७१	ह	
शशीरमात्मनो भिन्नं	११४	साधूनामायमक्षकु-	१२१	हित्वा लोकोत्तराचारं	१२०
शशीरं न स गृह्णाति	१४२	सामाध्यवद्विशेषाणां	१४०	हित्वा त्वयि स्त्रीयं	२५
		सामाधिके स्त्रवे भवत्या	१०९	हिसते वित्तवे स्त्रेये	७६

## २. भाष्यमें उपयुक्त सहायक-ग्रन्थ-नामों

अध्यात्म-रहस्य	( पं० आशानर )	बृहद् द्रव्यसंग्रह	( नेमिचन्द्र मुनि )
अष्टशती	( अष्टशतीतेर्ण )	भ्राधतो आराधना	( शिवार्थ )
अष्टसहस्री	( विद्यानन्द स्वामी )	मूलाचार	( बट्टकेराचार्य )
आराधनासार	( देवसेनाचार्य )	मूलाचार-टीका	( बमुनद्वाचार्य )
इष्टोपदेश	( पूज्यपादस्वामी )	यशस्तिलक	( सामदेय सूरि )
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	( स्वामी कातिकेय )	योगशास्त्र	( हेमचन्द्राचार्य )
गोम्मटसार-कर्मकाण्ड	( नेमिचन्द्र सि० च० )	योगसारप्रामृत	( अभिवृति शोणिरात्र )
गोम्मटसार-जीवकाण्ड	( नेमिचन्द्र सि० च० )	रथणसार	( कुन्दकुन्दाचार्य )
छहडाला	( पं० बोलतराम )	राजवार्तिक	( अकलंकदेव )
क्षानार्णव	( शुभचन्द्राचार्य )	लघु द्रव्यसंग्रह	( नेमिचन्द्र मुनि )
तत्त्वानुशासन	( रामसेनाचार्य )	लद्विषसार-टीका	( नेमिचन्द्र दिलीप )
तत्त्वार्थसार	( अमृतचन्द्राचार्य )	त्रिपापहार स्तोत्र	( कवि धनंजय )
तत्त्वार्थसूत्र, मोक्षशास्त्र	( चमासदाति-मी )	इलोकवार्तिक	( विद्यानन्द स्वामी )
दंसणपाहुड	( कुन्दकुन्दाचार्य )	सज्जन चित्तवल्लभ	( मत्लिष्येगाचार्य )
देवाग्राम, आममीमांसा	( स्वामी समन्तभद्र )	समयसार	( कुन्दकुन्दाचार्य )
नियमसार	( कुन्दकुन्दाचार्य )	समयसार कलश	( अमृतचन्द्राचार्य )
पञ्चाध्यायो	( कवि राजमहेन )	समाप्रितंत्र	( पूज्यपादाचार्य )
पञ्चास्तिकाय	( कुन्दकुन्दाचार्य )	समीचीन-धर्मशास्त्र	( समन्तभद्राचार्य )
पञ्चास्तिकाय-टीका	( अमृतचन्द्राचार्य )	सर्वार्थसिद्धि	( पूज्यपादाचार्य )
परमात्मप्रकाश	( योगीन्दुरेव )	सामाधिक पाठ	
पुरुषार्थसिद्धयुपाय	( अमृतचन्द्राचार्य )	सिद्धभक्ति	( पूज्यपादाचार्य )
प्रवचनसार	( कुन्दकुन्दाचार्य )	सुसपाहुड	( कुन्दकुन्दाचार्य )
प्रवचनसार-टीका	( अमृतचन्द्राचार्य )	स्वयम्भूस्तोत्र	( स्वामी समन्तभद्र )
प्रवचनसार-टीका	( जयसेनाचार्य )		

### ३. योगसार-प्रार्थुतके लक्षणात्मक शब्दोंकी अनुक्रमणी

अचारित्र	७५	द्रव्य	११,४०	मूर्त्युण	४९
अवारिशी	२६,७७	द्रव्य संवर	१६	मूर्ति	३८
अचेसनमुण	६३	ध्यान	२०१	मोश्च	१३१
अनाहार-अभ्युण	१७९	निर्वर्ता	११६	योग	२००
अनुकूल व्यवहार-चारित्र	११	नियातिक ( अभ्युण )	१५८	रजोप्राही	७४
ध्यारिणामी	७३	मिहचय-चारित्र	२६	सांकर्षकि	१६३
अमूर्त्युण	४९	तिद्वय-दर्शन-ज्ञान-चारित्र	२८	वद्वता ( आवश्यक )	११०
अशुद्ध जीव	१४४	तिथिकृत योगी	१२३	विद्विज्ञाना	३२
असन्त ( पदार्थ )	१९	परमाणु	४२	विहारपत्र-अभ्युण	१५९
आत्म-ज्ञाहा	६१	परमात्म ज्योति	२१०	व्यज्ञ	१७८
आत्महार	२६	पाकजापाकजा निर्वर्ता	११६	व्यवहारचारित्र	२७
आत्मा	६	पूर्णत्राभ्युण-योगी	१६०	व्यवहारज्ञान	२७
इन्द्रियमुख	७७	प्रतिकूल व्यवहारचारित्र	१९५	व्यवहारसम्बन्ध	२७
फर्मक्षयाविकारो	११९	प्रतिक्रमण ( आवश्यक )	१११	शुद्धजीव	३२,१४४
कठयोत्सर्व ( आवश्यक )	१११	प्रत्यारूपान ( आवश्यक )	१११	अभ्युण	१५७,१७९
केवलदेह साधु	१८०	प्रमदा	१७५	सत्ता	४०
जनुविधवाव्यवर्ष	८०	परमहत्त्व	२०७	सन्त ( पदार्थ )	१९
विन्तमयोग्यतत्त्व	२०६	परमात्मरूप	२१, २२	सम्यवत्त्व	११
नेतीयतारूप	२९	परमार्थ सुक्षिमार्म	२७	सम्यज्ञान	९
छेदोपस्थापकयति	१५८	वन्ध	८०	सामायिक ( आवश्यक )	१०९
विनलिङ्ग	१५६	बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह	१८९	सुख-नुख	२००
जितलिङ्गयोग्य मात्र	१७७	भवासीहमार्गगामी	१९१	संदर	९६
जीव ( आत्मा )	६	भवाभिनन्दो सूनि	१६२	संसार	२०२
ज्ञान	७	भावगंवर	९६	सूरि ( अभ्युण )	१५८
ज्ञान और वेदन	८८	मिथ्याज्ञान	९	स्तव ( आवश्यक )	११०
दर्शन	७	मिथ्यात्म	१०	स्वरूपलेप यति	१८४